प्रकाशक
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य
श्रीमान् पन्नालालजी सिपाणी, उदयरामसर, चैन्नई

मूल्य [illegible] रुपये मात्र

मुद्रक
[illegible]
[illegible]
[illegible]

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे। अपने युग के क्रातदर्शी सत्यनिष्ठ, तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानव मात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नही अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज बन गया। उन्होने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उदबोधनो के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा मे आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया। साथ ही प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियो के जीवन वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया है। अस्तु! आज भी समग्र मानव जाति उनके उद्बोधन से लाभान्वित हो रही है। इसी क्रम मे अनाथ भगवान किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत है। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक लाभ प्राप्त करे।

मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व मे सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियो का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद मे सस्था की स्वर्ण जयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासो से किरणावलियो की सख्या वढाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्राय बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ मे यह निर्णय किया गया कि किरणावलियो को नया रूप दिया जावे। इसके लिए सस्था के सहमत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय अनुसार कई किरणावलियो को एक साथ समाहित किया और पुन सभी किरणावलियो को 32 किरणो मे प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म सा के साहित्य के प्रचार–प्रसार मे जवाहर विद्यापीठ भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने मे श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। सघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी सगठन और कार्यकर्ताओ के बल पर जवाहर किरणावलियो के प्रचार–प्रसार और विक्रय प्रवन्धन मे अप्रतिम योगदान प्रदान किया हे। आज सघ के प्रयासो से यह जीवन निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नही, अपितु विश्व धरोहर वन चुका हे। सघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका श्रीमती राजकुवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ मे समस्त जवाहर साहित्य प्रकाशन के लिए 60,000 रु एक साथ प्रदान किय गये थे जिससे पूर्व मे लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थी। सत्साहित्य प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला सस्करण श्रीमान् मोतीलालजी दूगड, देशनोक क सोजन्य स प्रकाशित किया गया ओर प्रस्तुत किरण 20 (अनाथ भगवान) के अर्थ श्रीमान् पन्नालालजी सिपाणी उदयरामसर, चन्नई हैं। सस्था सभी अर्थ–सहयोगियो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हे।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	थादला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	श्री जीवराजजी कवाड
माता	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	लिमडी (म प्र)
दीक्षा तिथि	वि स 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	रतलाम (म प्र)
युवाचार्य पद तिथि	वि स 1976 चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	वि स 1976 आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	भीनासर (राज)
स्वर्गवास तिथि	वि स 2000 आषाढ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

आचार्य श्री जवाहर–ज्योतिकण

+ विपत्तियो के तमिस्र गुफाओ के पार जिसने सयम साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
+ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।
+ सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
+ उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।
+ परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव–गाव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
+ शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस मे खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
+ अल्पारभ–महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
+ स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन मे गहरे चितन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
+ महात्मागाधी, विनोबाभावे, लोकमान्य तिलक सरदार वल्लभ भाई पटेल, प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय–समय पर लाभ उठाया।
+ जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूज्नीय स्वीकार करता था।
+ सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू–मडल पर विचरण करते थे।

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म सा – दीक्षा वि स 1870, स्वर्गवास वि.स 1917**
ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।

2 **आचार्य श्री शिवलालजी म सा – दीक्षा वि स 1891, स्वर्गवास वि.स 1933**
प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।

3 **आचार्य श्री उदय सागरजी म सा – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स 1954**
विलक्षण प्रतिभा के धनी, वदीमान–मर्दक, विरक्तो के आदर्श विलक्षण।

4 **आचार्य श्री चौथमलजी म सा – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स 1957**
महान क्रियावान, सागर सम गभीर, सयम के सशक्त पालक, शात–दात, निरहकारी, निर्ग्रन्थ शिरोमणि।

5 **आचार्य श्री श्रीलालजी म सा – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि स. 1977**
सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।

6 **आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा – दीक्षा 1947, स्वर्गवारा वि स 2000**
ज्योतिर्धर महान क्रातिकारी, क्रातदृष्टा युगपुरुप।

7 **आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा – दीक्षा 1962, स्वर्गवारा वि स 2019**
शात क्राति के जन्मदाता सरलता की सजीव मूर्ति।

8 **आचार्य श्री नानालालजी म सा – दीक्षा 1996, स्वर्गवारा वि स. 2056**
समता–विभूति विद्वद्शिरोमणि जिनशासन प्रद्योतक धर्मपाल प्रतिबोधक सर्मीक्षण ध्यानयागी।

9 **आचार्य श्री रामलालजी म सा – दीक्षा 2031, आचार्य वि स 2056 से**

अर्थ–सहयोगी परिचय

सुश्रावक, उदारमना, समाजसेवी, संघ समर्पित, श्रीमान् पन्नालालजी सिपाणी, उदयरामसर, – चैन्नई

सुश्रावक श्रीमान् पन्नालालजी सिपाणी, श्रीमान् भवरलालजी सिपाणी एव श्रीमती कनकादेवी के सुपुत्र हैं। राजस्थान मे आप उदयरामसर (बीकानेर) के निवासी हैं एव वर्तमान मे आप पूरे परिवार सहित चैन्नई (टी नगर) मे रहते है। यही आपका ब्लू मेटल जली एव फाइनास का व्यवसाय है।

बी कॉम तक शिक्षा प्राप्त श्रीयुत सिपाणीजी बहुत ही सौम्य, सहज एव सरल व्यक्तित्व के धनी पुरुष है। आप अनेको राजनैतिक एव सामाजिक सस्थाओ से जुडे हुए है तथा कई सस्थाओ के आप पौषक भी है। आपने बिना किसी पदलिप्सा की भावना से अनेको सस्थाओ मे मुक्तहस्त से सहयोग प्रदान किया है। आपके द्वारा कृत कार्यों की चाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक हो उनकी सर्वत्र प्रशसा होती रही है। आप नित्य सामायिक, प्रतिक्रमण एव धर्म ध्यान करते है। आप ही के पद चिन्हो पर चलते हुए आपका पूरा परिवार हुक्मसघ के षष्टम ज्योर्तिधर श्री जवाहरचार्य से वर्तमान आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म सा तक सभी के प्रति अननय निष्ठावान है। आपश्री साधुमार्गी जैन सघ चैन्नई के उपाध्यक्ष है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मजूदेवी सिपाणी भी धर्मपरायणा महिला है।

आपके ही सस्कारो से ओत–प्रोत आपके दो–पुत्र श्री मनोजकुमार एव श्री रणजीत कुमार तथा एक सुपुत्री श्रीमती रजना पारख एव पौत्र–पोत्रियो से भरा–पूरा सस्कारवान परिवार है।

श्री सिपाणजी को इस हेतु अपनी प्रणति समप्रित करते हुए शासन देव से प्रार्थना करता हू कि वे इसी तरह से आचार्य भगवन के शासन के चहुमुखी विकास मे अपना समर्पण एव योगदान देते हुए साधुमार्गी जैन सघ की पताका यश, कीर्ति की ध्वजा लहलहाते रहे और सघ एव समाज की सेवा इसी प्रकार करते रहे इसी भावना के साथ

सिद्धाण णमो किच्चा, सजयाण च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्च, अणुसिट्ठि सुणेह मे।।1।।

अर्थ– सिद्धो को और सयतो को भावपूर्वक नमस्कार करके मै धर्मरूप अर्थ का मार्ग क्या है, यह कहता हू। मेरा कथन सुनिए।

इस अध्ययन के वक्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं। सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पाचवे गणधर और पट्टशिष्य थे। उन्होने अपने पट्टशिष्य श्री जम्बूस्वामी को उद्देश्य करके यह अध्ययन कहा है।

गुरु अपने शिष्य से कहते है– मै तुम्हे वह हित शिक्षा देता हू और मुक्ति का मार्ग बतलाता हू, जो इस भव के लिए सुखदायक और परभव के लिए कल्याणकारी है, परन्तु मै अपनी निज की शक्ति से नही किन्तु सिद्धो और सयतो को नमस्कार करके उनकी शरण ग्रहण करके और उनसे शक्ति प्राप्त करके बतलाता हू।

साधारणतया जहा का मार्ग पूछा जाता है, वही का बतलाया जाता है किन्तु यहा मुक्ति का मार्ग बतलाया जा रहा है। इसीलिए कहा गया हे कि *मै अर्थ और धर्म का मार्ग बतलाता हू।*

'अर्थ' का अर्थ

अर्थ शब्द की व्याख्या यहा इस प्रकार की गई हे – 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते धर्मात्मभिरित्यर्थ, स च प्रकृते मोक्ष सयमादिर्वा स एव धर्म तस्य गतिर्ज्ञान यस्या, ताम् अनुशिष्टि मम श्रृणुत'।

लिए यहा नहीं आये है। आप धन के लिए दौडभाग करते हैं, किन्तु यहा धन मिलने की सम्भावना न होने पर भी आये हैं, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्थ का धन के अतिरिक्त और भी कुछ अर्थ है और उसी के लिए आप यहा आये हैं।

किसी गृहस्थ की कदाचित् ऐसी इच्छा हो सकती है कि हम साधुओ के पास जायेगे तो किसी दूसरे बहाने हमे धन की प्राप्ति हो जायेगी, परन्तु साधु या सती की ऐसी भावना भी नही होती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहा धन की प्राप्ति न होने पर भी आप आये हैं, अतएव अर्थ का अर्थ धन ही नही, कुछ और भी है।

कहा जा चुका है कि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, उसका नाम अर्थ है। किन्तु इस प्रकरण मे यह विशेष समझना चाहिए कि धार्मिक जन जिसकी इच्छा करे, वह धर्म है। धार्मिक जन धर्म की ही इच्छा करते हैं। अतएव यहा अर्थ का अर्थ धर्म विवक्षित है।

इसी गाथा मे आगे कहा गया है कि धर्मरूपी अर्थ मे जिसके द्वारा गति होती हे, उसकी मैं शिक्षा देता हू। धर्मरूपी अर्थ मे ज्ञान द्वारा गति होती है और ज्ञान द्वारा ही धर्मरूपी अर्थ प्राप्त किया जा सकता है, अतएव इस कथन का आशय यह होता है कि 'मैं ज्ञान की शिक्षा देता हू।'

ज्ञान का अर्थ भी व्यापक है। ससार व्यापक का ज्ञान भी ज्ञान ही कहलाता है परन्तु यहा यह कहा गया है कि धर्मरूपी अर्थ मे गति कराने वाले तत्त्व का ज्ञान देता हू। यह ज्ञान आपके अन्तर मे विद्यमान है, किन्तु वह जाग्रत नहीं है। अतएव में शिक्षा देकर उस ज्ञान को जाग्रत करने का प्रयत्न करता हू।

दीपक मे तेल भी हो और वत्ती भी हो, फिर भी अग्नि का सयोग हुए विना वह प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा मे ज्ञान विद्यमान है किन्तु वह ज्ञान महापुरुष के सत्सग के विना विकसित नही हो सकता। अगर आत्मा मे ज्ञान की सत्ता ही न होती तो महापुरुष का सत्सग भी क्या काम आता? वह किसको विकसित करता? जिस दीपक मे तेल नही है या वत्ती नहीं है उसे दूसरे जलते हुए दीपक का स्पर्श कराया जाय तो भी क्या परिणाम निकलने वाला है? खाली चूल्हे मे फूक मारने से आखो मे राख ही पडती है और कोई सुपरिणाम नही निकलता। इसी प्रकार जब तक अपनी आत्मा मे ज्ञान न हो तब तक महापुरुषो की सगति या उनकी शिक्षा भी व्यर्थ जाती है।

इस गाथा मे कहा गया है कि – 'मै शिक्षा देता हू'। इस कथन से यह फलित होता है कि महापुरुषो ने हमारे भीतर शक्ति देखी है, इसी कारण वे हमे शिक्षा देते हैं। हमारे अन्दर ऐसी शक्ति विद्यमान है – हममे उस ज्ञान की सत्ता है, जो महापुरुषो की शिक्षा के द्वारा विकसित हो सकता है। अतएव हमे सावधान होकर उनकी शिक्षा को सुनना चाहिए।

'सिद्ध' पद का अर्थ

शिक्षा देने वाले महापुरुष ने कहा है – मै सिद्ध और सयत को नमस्कार करके शिक्षा को प्रारम्भ करता हू। परन्तु यहॉ हमे जानना चाहिए कि सिद्ध का अर्थ क्या है? पचनमस्कार पद मे भी सिद्धो को नमस्कार किया गया है। अतएव हमे 'सिद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

'सिद्ध' पद मे का सित् शब्द 'सिञ् बन्धने' धातु से बना है। जिस महान् आत्मा ने सित् को अर्थात् आठ कर्म रूप लकडियो के बधे भार को, ध्यातम् अर्थात् शुक्लध्यान रूप जाज्वल्यमान अग्नि के द्वारा भस्म कर डाला हो, वह सिद्ध कहलाता है।

'षिधु गतौ' धातु से भी सिद्ध शब्द बनता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि जो ऐसे स्थान पर गमन कर चुके हैं – पहुच गये हैं कि जहा से वापिस नही लौटना पडता, वे सिद्ध कहलाते हैं।

कुछ लोग कहते है कि सिद्ध होने के पश्चात् भी सिद्ध ससार का अभ्युत्थान करने के लिए पुन ससार मे अवतरित होते है। किन्तु ऐसा हो तो सिद्धिस्थान भी एक प्रकार का ससार ही बन जायगा। सच्चा सिद्धिस्थान तो वही कहला सकता है कि जिस स्थान से फिर कभी भी ससार मे आना ही न पडे। गीता मे कहा है –

यत्र गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम।

अर्थात् जहा पहुच जाने के बाद कभी वापिस नही लोटना पडता, वही परम धाम कहलाता है। यही परम धाम सिद्धस्थान हे। जहा जाने के पश्चात् फिर ससार मे आना पडता है वह तो एक प्रकार का ससार ही हे।

व्युत्पत्ति के आधार पर सिद्ध शब्द का तीसरा अर्थ भी किया गया है। 'षिधु सराद्धौ'– इस अर्थ मे जो कृत कृत्य हो गया हो, जिसके लिए कुछ भी करना शेष न रह गया हो, वह भी सिद्ध कहलाता हे।

जैसे पकी हुई खिचडी को कोई दुबारा नहीं पकाता, उसी प्रकार जिन्होने आत्मा के समस्त काम सिद्ध कर लिये हो और जिनके लिए कुछ भी करना शेष न रह गया हो, वे सिद्ध हैं। इस प्रकार एक ही शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं, किन्तु उनका भावार्थ एक ही है।

'षिधूम् शास्ते मागल्ये' इस धातु से बने सिद्ध शब्द का अर्थ है – दूसरो को उपदेश देकर जो मोक्ष पहुचे हैं, वे सिद्ध हैं। शास्ता का अर्थ उपदेशक होता हे। अतएव दूसरो को उपदेश प्रदान कर के जिन्होने सिद्धि प्राप्त की हे, वह सिद्ध हैं।

यहा यह शका की जा सकती हे कि जो तीर्थंकर हो कर सिद्ध हुए हैं, उन्हे शास्ता कहना तो उचित है, क्योंकि वे दूसरो के कल्याण का उपदेश देकर मोक्ष पहुचे हैं, किन्तु सभी सिद्ध तीर्थंकर नहीं होते। सिद्ध पन्द्रह प्रकार के होते हैं। उनमे से कई ऐसे भी हैं जो उपदेश दिये विना ही मोक्ष पहुचते हैं। उनके लिए 'शास्ता' पद का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? जो महात्मा ध्यान–मौन द्वारा मोक्ष पाते हैं, क्या वे भी जगत् को कोई उपदेश देते हें? अगर नही, तो उन्हे शास्ता कैसे कहा जाय?

इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि जो महात्मा ध्यान–मौन द्वारा मोक्ष मे जाते हैं, वे भी ससार को किसी–न–किसी पकार की शिक्षा देते ही हैं। अतएव उन्हे भी शास्ता कहा जा सकता हे। वे मोन का सेवन करके भी शिक्षा देते हैं और ससार को ऐसी शिक्षा की आवश्यकता भी है। यह ससार विशेषत मोन सेवन करने वालो के सहायता करने से ही चल रहा है। मूक सृष्टि के आधार पर ही यह बोलती सृष्टि टिकी हुई है। अतएव यह कहना सही नही हे कि जो महात्मा बोलते नही है, किन्तु ध्यान–मौन द्वारा ही कल्याण करते हें, वे ससार को कोई उपदेश या शिक्षा नही देते। वे भी जगत् के उपकारक ओर शिक्षादाता होते हैं।

सिद्ध भगवान् ने मोक्ष प्राप्त किया हे ओर इसी से लोग मोक्ष के इच्छुक हें। अगर वे मोक्ष न गये होते तो कोई मोक्ष की इच्छा न करता। वे महात्मा मन वचन ओर काय की सशुद्धि साध कर मोक्ष गये हें ओर इस प्रकार उन्होंने ससार के लोगो को मोक्ष का मार्ग वतलाया ओर उनके अन्त करण मे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न की। अतएव उन्हे भी शास्ता कहा जा सकता हे।

शास्ता के साथ यह भी कहा गया हे कि जो मागलिक हो वह सिद्ध ह। मागलिक का अर्थ हे – पाप का नाश करने वाला। तो जो पाप का नाश

करने वाला है, वह सिद्ध है। इस प्रकार जो शास्ता और मागलिक है, वह सिद्ध है।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि सिद्ध भगवान अगर मागलिक है तो बडे–बडे महात्माओ को रोग और दु ख क्यो सहन करने पडे ? गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अगार रखे गये और दूसरे महात्माओ को भी अनेक दु ख सहन करने पडे। वहा सिद्धो की मागलिकता क्यो काम न आई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मगल का अर्थ पाप को नाश करने वाला होता है। अगर कष्ट देने वालो पर कष्ट सहन करने वालो को द्वेष उत्पन्न हो, तो उसमे मगल नही है। हा, अगर द्वेष का भाव उत्पन्न न हो तो मगल समझना चाहिए। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर दहकते हुए अगार सोमिल ब्राह्मण ने रखे, परन्तु उन मुनि ने सोमिल को शत्रु नही माना, अपने मे मगल जगाने वाला मित्र माना।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् भावमगल है। आप द्रव्य मगल देखते है। जिनमे भाव–मागलिकता है, वे द्रव्यमगल का चमत्कार भी दिखला सकते है, किन्तु वे महात्मा ऐसा करने की इच्छा नही करते। वे तो आत्मा की शाति की ही रक्षा करना चाहते है। अगर वे किसी प्रकार का द्रव्य–चमत्कार बताने के इच्छुक होते तो चक्रवर्ती का राज्य और सोलह–सोलह हजार देवो की सेवा क्यो त्याग देते? और क्यो सयम को धारण करते? जहा देवता सेवक बन कर रहते हो, वहा द्रव्य चमत्कार मे क्या कमी रह सकती है? किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे महात्मा इस प्रकार के चमत्कार की इच्छा ही नही करते। जैसे कोई सूर्य की पूजा करता है और कोई सूर्य को गाली देता है, मगर सूर्य गालिया देने वाले पर रुष्ट होकर उसे कम प्रकाश नही देता और पूजा करने वाले पर तुष्ट होकर उसे अधिक प्रकाश नही देता। वह सब को समान प्रकाश देता है। यही स्थिति सिद्ध भगवान् की है।

सिद्ध का पाचवा अर्थ हे – जिनकी सिद्धि प्राप्त करने का आदि तो है, किन्तु अन्त नही है, वे भी सिद्ध कहलाते हैं।

गुरु महाराज शिष्य से कहते है कि सिद्ध प्रभु को नमस्कार करके, धर्म रूपी अर्थ का सच्चा मार्ग क्या है, यह बात मे तुम्हे बतलाता हू। सिद्धो को नमस्कार करके मै सयमियो को भी नमस्कार करता हू।

सूत्रो के रचयिता गणधर चार ज्ञानो के स्वामी थे। वे भी कहते है कि जो सयत हें–भाव से सयम का पालन करने वाले हैं, मै उन्हे भी नमस्कार करता हू। गणधर महाराज के इस कथन से साधुओ को समझना चाहिए कि

यदि हममे भाव से साधु का गुण होगा तो गणधर भी हमे नमस्कार करेगे हैं और यदि साधुता का गुण न हुआ तो हममे कुछ भी नही है।

बीसवे अध्ययन मे जो– कुछ भी कहा गया है उसका सक्षिप्त सार इस पहली गाथा मे दे दिया गया है। इस प्रथम गाथा मे सम्पूर्ण अध्ययन का सार किस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है, इस वात को विशेषज्ञ ही समझ सकता है। यह बात केवल जैन शास्त्र के सम्बन्ध मे ही लागू नहीं होती, किन्तु अन्य ग्रथो मे भी पूरे ग्रन्थ का सार आदि सूत्र मे ही कह दिया गया, देखा जाता है। उदाहरण के लिए कुरान को लीजिए। मैंने कुरान का अनुवाद देखा था। उसमे कहा गया है कि 124 इलाही पुस्तको का सार तोरेत, इजील, जबूब और कुरान– इन चार पुस्तको मे दिया गया है। फिर चारो का सार कुरान मे लाया गया है और कुरान का सार उसकी पहली आयत मे दिया गया है –

बिसमिल्लाह रहिमाने रहीम

इस एक ही आयत मे कुरान का सार किस प्रकार समाविष्ट है, यह एक विचारणीय बात है। परन्तु जब इस आयत मे 'रहिमान' और 'रहीम'– ये दोनो आ गये, तब कुरान मे और क्या शेष रह गया? हमारे यहा भी कहा गया है कि–

दया धर्म का मूल है

दया शब्द मे दो ही अक्षर हैं परन्तु क्या उसमे सभी धर्मो का सार नही आ जाता है? दया सब धर्मो का सार है, यह बात कुरान, पुराण या वेद–शास्त्र से नही, वरन् अपने अन्त करण से भी जानी जा सकती है। कल्पना कीजिए – आप जगल मे हैं और कोई मनुष्य तलवार लेकर आता हे ओर आपकी जान लेना चाहता है। तब आप उस मनुष्य मे क्या कमी देखेगे ? यही कि उसमे दया नही है।

इसी समय कोई दूसरा मनुष्य आता है और उस दुष्ट मनुष्य से कहता है – 'भाई इसे मत मार। अगर मारना ही है तो मुझे मार डाल।' अव आप इस दूसरे मनुष्य मे क्या विशेषता देखेगे? आप यही कहेगे कि वास्तव मे इस मनुष्य मे दया की विशेषता है, इसमे दया का गुण हे।

प्रश्न यह है कि यह बात आप किस प्रकार जान सके? इसका उत्तर आप यही देगे कि हम अपने अन्त करण से ही यह बात समझ सके हैं। हमारा अन्त करण ही साक्षी दे रहा हे कि इस मनुष्य मे दया हे। आत्मा स्वय ही

अपनी रक्षा चाहता है, अतएव इस व्यवहार से उसने परख लिया कि इस मनुष्य मे दया का गुण है।

इस प्रकार दया आत्मा का धर्म है। अगर आपको धर्मात्मा बनना है तो दया को अपने जीवन मे ताने–बाने की तरह बुन लो। शास्त्र मे कहा है –

एय खु नाणिणो सार, जेण हिसइ किंचणं।

– सूयगडाग सूत्र

अर्थात् किसी जीव को न मारना ही ज्ञान का सार है। जैसी अपनी आत्मा, वैसी ही दूसरो की आत्मा है। जैसे तुम मरना नही चाहते, वैसे ही दूसरे भी मरना नही चाहते। जैसे तुम्हे खराब वस्तु पसद नही, वैसे ही दूसरो को भी पसद नही। इसी प्रकार तुम्हे अपने लिए जो प्रतिकूल जान पडता है, वही दूसरो को भी प्रतिकूल जान पडता है। ऐसा जानकर दूसरो को दुख न पहुचाना, किन्तु दूसरो पर दयाभाव रखना चाहिए। एक फारसी कवि ने कहा है –

ख्वाहि कि तुरा हेच, वदी न आयद पेश,
तात्वानी बदी मकुन, अज कमोवेश।।

अर्थात् अगर तू चाहता है कि मेरे ऊपर कोई जुल्म न करे तो जिसे तू जुल्म मानता है, उसे तू दूसरो पर न कर। कोई तुम्हे मार कर तुम्हारी चीज छीन लेना चाहता है, झूठ बोल कर ठगना चाहता है अथवा तुम्हारी स्त्री पर बुरी निगाह डालता है, उसे तुम अत्याचारी समझोगे। यह बात इतनी सीधी और सरल है कि इसकी खातिरी साक्षी के लिए किसी पुस्तक की सहायता लेने की आवश्यकता नही। ज्ञानी जनो का कहना है कि जिस चीज को तुम अपने लिए अत्याचार समझते हो, वह दूसरो के प्रति मत करो। किसी की हिसा मत करो। असत्य न बोलो। किसी की स्त्री पर बुरी निगाह न डालो और किसी की चोरी न करो। यह मान लोगे तो तुम अत्याचारी नही रहोगे। जब तुम स्वय अत्याचारी नही रहोगे तो क्या दूसरे तुम्हारे ऊपर अत्याचार कर सकेगे? इस बात पर गहरा विचार करोगे तो तुम्हे स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि दया धर्म का मूल है और हिसा पाप का मूल है। करीमा मे ठीक ही कहा है –

चहल चाल उम्रे अजी जश्त गुजिश्त।
मिजाजे तो अजहाल तिफली न जश्त।।

अर्थात् तू चालीस वर्ष का हो गया फिर भी तेरा छोकरापन नही गया। अब तो बचपन को छोडकर बात को समझ। जिसे तू जुल्म गिनता है,

उसे दूसरा त्यागे अथवा न त्यागे किन्तु अगर तुझे धर्मात्मा बनना है तो तू तो त्याग दे। कोई राजा यह नही सोचता कि सब लोग राजा नहीं हैं तो मैं ही क्यो राजा हू? तो फिर दूसरो ने जुल्म का त्याग किया है या नहीं, यह बात भी तुम्हे क्यो सोचनी चाहिए? दूसरे जुल्म का त्याग नहीं करेगे तो वे भुगतेगे, किन्तु तुझे तो धर्मात्मा बनना है। अत तू तो जुल्म का त्याग कर दे।

'मैं कल्याण की शिक्षा देता हू'– ऐसा यहा कहा गया है। यह कल्याण की शिक्षा शास्त्रकार न केवल साधुओ और न श्रावको को ही, वरन् जगत् के समस्त जीवो को देते हैं। जब सूर्य सबको समान प्रकाश देता है, किसी प्रकार का भेदभाव नही करता तो फिर जो भगवान सूर्य से भी अधिक महिमा से मण्डित हैं, वे किसी भी प्रकार का भेदभाव कैसे रख सकते हैं?

1–महान् का अर्थ

उत्तराध्ययन शास्त्र का जैन परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यहा उत्तराध्ययन के बीसवे अध्ययन का व्याख्यान किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' अध्ययन है। अतएव यहा यह जान लेना आवश्यक है कि महान् और निर्ग्रन्थ शब्दो का अर्थ क्या है?

पूर्वाचार्यो ने महान शब्द का अर्थ बतलाते हुए भिन्न–भिन्न अर्थ किये हैं, अनेक बाते समझाई हैं। उन सब बातो को दोहराने का अभी समय नही है, क्योकि सूत्र समुद्र की भाति असीम है। अपने जैसे अपूर्ण अल्प ज्ञान वाले जीव उसकी सीमा का निर्धारण नही कर सकते। फिर भी इस सबध मे थोडा कहना आवश्यक है।

पूर्वाचार्यो ने आठ प्रकार के महान् बतलाए हैं –(1) नाम से (2) स्थापना से (3) द्रव्य से (4) क्षेत्र से (5) काल से (6) प्रधानता से (7) प्रतीत्य अर्थात् अपेक्षा से ओर (8) भाव से। इस अध्ययन मे किस प्रकार के महान् का वर्णन किया गया हे। यह यहा देखना हे किन्तु इससे पहले उपर्युक्त आठ महानो का अर्थ समझ लेना उचित हे।

(1) नाम महान–जिसमे महत्ता का एक भी गुण नही हे, परन्तु जो केवल नाम से ही महान् हे, वह नाम महान् कहलाता हे।

जैन शास्त्रो ने प्रारम्भ ओर अन्त समझाने का बहुत प्रयत्न किया हे। साधारणतया प्रत्येक वस्तु को नाम से ही जाना जा सकता हे। किन्तु नाम के साथ उसके स्वरूप को भी समझना चाहिए।

(2) स्थापना महान्—किसी वस्तु मे महानता का आरोपण कर लेना स्थापना महान है।

(3) दव्य महान्—जब केवलज्ञानी अन्त समय मे केवली समुद्घात करते है तब उनके कर्म पदेश चौदह राजू लोक मे फैल जाते है और उनके शरीर मे से निकला महास्कन्ध समस्त लोक मे समा जाता है। वह द्रव्य से महान् है।

(4) क्षेत्र महान्—समस्त क्षेत्रो मे आकाश ही महान् है, क्योकि आकाश समस्त लोक और अलोक मे व्याप्त है।

(5) काल महान्—कालो मे भविष्यकाल महान् है। जिनका भविष्य सुधरा, उनका सभी—कुछ सुधरा। भूतकाल कैसा ही उज्ज्वल क्यो न रहा हो, पर वह बीत चुका है। अतएव भविष्यकाल ही महान् है।

(6) प्रधान महान् – जो प्रधान माना जाता है, उसके सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन भेद है। सचित्त मे भी चतुष्पद, द्विपद और अपद, ये तीन भेद हैं। द्विपदो मे तीर्थंकर महान् है, चतुष्पदो मे अष्टापद महान् गिना जाता है और वृक्ष आदि अपदो मे पुण्डरीक कमल महान् माना जाता है। अचित्त मे चिन्तामणि रत्न महान है और मिश्र मे तीर्थंकरो का राज्य सम्पदा—युक्त शरीर महान् है। तीर्थंकर का शरीर तो दिव्य होता ही है, किन्तु राज्याभिषेक के समय वे जो वस्त्राभूषण पहन कर बैठते हैं, वे भी महान् होते है। स्थान के कारण वस्तु का भी महत्त्व बढ जाता है। इस कारण मिश्र मे तीर्थंकर का वस्त्राभूषण से युक्त शरीर महान् है।

(7) अपेक्षा महान्—एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु का महान् होना अपेक्षा महान् है जैसे सरसो या राई की अपेक्षा चने का दाना महान् है और चने के दाने से बोर महान् है।

(8) भाव महान्—टीकाकार का कथन है कि प्रधानता की अपेक्षा से क्षायिक भाव महान् है और आश्रय की अपेक्षा पारिणामिक भाव महान् है क्योकि जीव और अजीव, दोनो ही पारिणामिक भाव के अधीन हैं। किसी—किसी आचार्य के मत से औदयिक भाव महान् है, क्योकि अनन्त ससारी जीव औदयिक भाव के आश्रित है। इस प्रकार विभिन्न मत होने पर भी आश्रय की अपेक्षा से पारिणामिक भाव ही महान् है क्योकि पारिणामिक भाव मे सिद्ध और ससारी – दोनो प्रकार के जीवो का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार प्रधानता की अपेक्षा क्षायिक भाव महान् है।

यहा महान् निर्ग्रथ का प्रकरण है। निर्ग्रंथ को द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से महान् नही कहा है, परन्तु जो महापुरुष पारिणामिक भाव से क्षायिक भाव मे प्रवर्त्तते हैं, उन्हे महान् कहा है।

2—निर्ग्रंथ का अर्थ

अब विचार कीजिए कि निर्ग्रथ किसे कहना चाहिए? निर्ग्रंथ का अर्थ क्या है? जो द्रव्य और भाव से, बन्धनकर्ता पदार्थों से निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् जो द्रव्य और भाव—ग्रन्थि से मुक्त होते हैं, वे निर्ग्रंथ कहलाते हैं। द्रव्य—ग्रन्थि नौ प्रकार की और भाव—ग्रन्थि चौदह प्रकार की है। इन दोनो प्रकार की ग्रन्थियो का त्याग कर देने वाले निर्ग्रथ कहलाते हैं।

कोई व्यक्ति द्रव्य—ग्रन्थि को तो छोड दे, किन्तु कषाय आदि भाव—ग्रन्थि को न छोडे तो वह निर्ग्रथ नही कहा जा सकता। निर्ग्रंथ को तो निश्चय और व्यवहार – दोनो प्रकार की ग्रन्थियो को त्यागने की आवश्यकता है। पन्द्रह प्रकार के सिद्धो मे गृहलिगी भी सिद्ध होते हैं और अन्यलिगी भी सिद्ध होते हैं। किन्तु वे भाव की अपेक्षा सिद्ध होते है, द्रव्य की अपेक्षा तो स्वलिगी ही सिद्ध होते हैं। अतएव द्रव्य और भाव – दोनो प्रकार की ग्रथियो से जो विमुक्त होते है, वे ही निर्ग्रन्थ कहलाते है और जो सम्पूर्ण रूप से दोनो प्रकार की ग्रथियो से मुक्त हो जाते हैं, वे महानिर्ग्रथ कहलाते हैं। कोई द्रव्य ग्रन्थि से ही मुक्त होते हैं और कोई भाव—ग्रन्थि से ही, परन्तु जो दोनो प्रकार की ग्रन्थियो से छूट जाता है, वही महानिर्ग्रथ कहलाता है।

आजकल लोग प्राय जो आता है, उसी के बन जाते हैं। परन्तु शास्त्र कहता है कि तुम निर्ग्रंथ धर्म के अनुयायी हो, किसी विशेष व्यक्ति के अनुयायी नही। कोई निर्ग्रंथ धर्म की बात कहे, उसे मानो और जो निर्ग्रथधर्म की बात न कहे, उसे मत मानो।

निर्ग्रथ धर्म का प्रतिपादन निर्ग्रथ प्रवचन करता हे। द्वादशागी निर्ग्रथ प्रवचन की वाणी को सजीवन करने वाले, उसका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ और शास्त्र निर्ग्रंथ प्रवचन ही हैं। किन्तु जो द्वादशागी का खण्डन करता हे और उसके विरुद्ध किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हे, उसे निर्ग्रथ प्रवचन नही कहा जा सकता। निर्ग्रथ धर्म का अनुयायी निर्ग्रंथ प्रवचन के सिद्धान्त से विरुद्ध जाने वाले ग्रथ या शास्त्र को कदापि अगीकार नहीं करेगा। वह तो यही कहेगा कि मेरे लिए तो निर्ग्रथ प्रवचन ही प्रमाण हे।

3—महान् कौन ?

यह सबकी समझ मे आ जाय, इस दृष्टि से इस बात पर व्यावहारिक रीति से विचार करे। महान् पुरुषो की सेवा करने की सब की इच्छा होती है, परन्तु महान् कौन है? भागवत मे कहा है —

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्ते॰, तमोद्वारं योषितां सगि संगम्।
महान्तस्ते समचित्ता प्रशान्ता, विमन्यव सुहृद् साधवो ये।।

अर्थात् इस ससार मे मोक्ष का द्वार महान् पुरुषो की सेवा, सगति और उपासना है और नरक का द्वार स्त्री के उपासक, कनक—कामिनी के भोगी जन की सेवा करना है। जो समभावी हो, शान्तचित्त हो, क्षमावान् हो और निर्मल अत करण वाले साधु हो, वही महान् हैं।

महान् पुरुषो की सेवा—सगति को मोक्ष का द्वार कहा गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि महान् पुरुष किसे कहा जाय? जो बडे जागीरदार है, जो ठाठ के साथ मूल्यवान वस्त्र पहनते हैं और अकडते हुए चलते हैं, जो विशाल हवेलियो मे रहते हैं, उन्हे महान् समझा जाय या किसी दूसरे को? महान् वास्तव मे किसे कहना चाहिये, उसका निर्णय शास्त्रकारो द्वारा किया ही जायगा, परन्तु भागवत—पुराणकार कहते हैं कि ऐसी उपाधियो को धारण करने वाले महान् नही हैं। किन्तु जिनका चित्त सम है समतोल है, वही महान् कहलाने योग्य हैं। जिनका मन आत्मा मे है, पुद्गलो मे रचा—पचा नही रहता है, वे महान् है।

महान् पुरुष का मन हमेशा समतोल रहना चाहिए। मन को समतोल रखने का अर्थ है — आत्मा को भूल कर पुद्गलो मे रमण न करना। जड और चेतन का विवेक करके जड स्वभाव को दूर करना और चेतन स्वभाव को अपनाना, अर्थात् यह मानना कि जड का धर्म नश्वरता और अज्ञान है और चेतन का धर्म अविनाशी और ज्ञानमय है। यही चित्त की सम—स्थिति है।

कहा जा सकता है कि कार्मण शरीर की अपेक्षा जीव के पीछे अनादिकाल से उपाधि लगी है। यह मेरा कान है, यह मेरी नाक है, यह मेरा शरीर है, इस प्रकार जड को अपना मान कर आत्मा शरीर के अधीन हो रहा है। इस उपाधि के कारण कैसे माना जाय कि किसी का चित्त सम है? परन्तु यह तो सत्य है कि अनादिकाल से आत्मा के साथ उपाधि लगी है, परन्तु उपाधि को उपाधि मानना भी समचित्त का लक्षण है।

ककर को रत्न और रत्न को ककर कहने वाला मूर्ख गिना जाता है। यद्यपि रत्न और ककर, दोनो जड हैं, फिर भी रत्न और ककर को एक मानने

वाला मूर्ख समझा जाता है, तो फिर चेतन को जड और जड को चेतन समझने वाले को समचित्तवान् कैसे कहा जा सकता है? अज्ञान के कारण लोग चेतन को जड और जड को चेतन मानते हैं। परन्तु किसी के कहने या मानने से जड चेतन नही बनता और चेतन जड नहीं बन सकता। एक आदमी जगल मे जा रहा था। जाते–जाते उसने कुछ दूरी पर सीप देखी। चमचमाती सीप को वह चादी समझने और कहने लगा। दूसरा आदमी चादी को सीप कहने लगा। परन्तु उनके कहने से चादी सीप न बनी ओर सीप चादी न बनी। इसी प्रकार किसी के कहने से जड या चेतन अपना स्वभाव नहीं त्यागते। जो लोग जड को चेतन और चेतन को जड मानते हैं। वह उनका अज्ञान ही है और इस अज्ञान के कारण ही लोग समझते हैं कि यह मेरा है और यह तेरा है।

आशय है कि जो ऐसी उपाधियो मे उलझा हुआ है, वह महान् नहीं, जड का गुलाम है। वह आत्मवादी नही, जडवादी है। महान् पुरुष तो वह है जो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता। ऐसा पुरुष ससार की अन्यान्य वस्तुओ को अपनी न माने, इसमे आश्चर्य ही क्या है?

अब यह देखना है कि महान् पुरुषो की सेवा किस उद्देश्य से करनी चाहिये ? महान् पुरुष की सेवा करेगे तो वे कान मे मत्र फूक देगे अथवा मस्तक पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दे देगे तो हम ऋद्धि–समृद्धि से सम्पन्न बन जाएगे। इस उद्देश्य से महान पुरुषो की सेवा करना महात्माओ की सेवा नही, माया की सेवा करना है। किन्तु यदि इस विचार से सेवा की जाय कि 'मैं ससार की उपाधि मे फसा हू और जड को अपना मान बैठा हू। महान् पुरुषो की सेवा–सगति करने से मैं उपाधि से मुक्त हो जाऊगा', तो यह सच्ची सेवा है और ऐसी ही सेवा मोक्ष का द्वार हे।

जिनके मन मे समताभाव विद्यमान है, उन्हे कोई लाखो गालिया दे, तो भी उनके मन मे रोष या विकार का भाव उत्पन्न नही होता। अपनी प्रशसा सुनकर उनका मन फूल नहीं उठता। इस प्रकार जो प्रशसा से फूलते नहीं और निन्दा से क्रुद्ध नहीं होते, वे ही सच्चे महान् हैं।

एक बार पूज्य उदयसागरजी महाराज रतलाम मे विराजमान थे। उस समय रतलाम नगर उन्नत दशा मे था ओर सेठ भोजाजी भगवानजी का अच्छा प्रभाव था। पूज्यश्री की प्रशसा सुनकर एक मुसलमान ने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। अनुकूल अवसर देख कर वह पूज्यश्री के पास पहुचा और मनचाही कर्णकटु गालिया देने लगा। पूज्यश्री उस समय धर्मध्यान कर

रहे थे। मुसलमान तो अत्यन्त गदी और चुभने वाली गालिया दे रहा था और पूज्यश्री मानो गालिया सुन ही न रहे हो, इस प्रकार शात बैठे मन ही मन मुसकरा रहे थे। उनके मन मे जरा भी क्रोध न आया। जब मुसलमान को लगा कि पूज्यश्री मेरी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो चुके है, तब वह उनके पैरो मे गिर पडा और और कहने लगा – मैंने आपकी जैसी प्रशसा सुनी थी, आप वैसे ही शात है। वास्तव मे आप सच्चे फकीर है।

व्याख्यान मे शान्त रहने का उपदेश देना तो सरल है, पर क्रोध के प्रसग पर शान्त रहना बडा ही कठिन है। किन्तु महान् तो वही है, जो क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शात रहे।

कहा जा सकता है कि कोई गालिया दे तो क्या चुपचाप सहन कर लेना चाहिए? पर महापुरुष तो गालियो को गालिया ही नही मानते। वे उन गालियो मे से भी अपने लिये सारतत्त्व खीच लेते हैं। कोई उन्हे दुष्ट कहे तो वे यही विचार करते है कि यह मुझे बोध दे रहा है। ससार मे जो वस्तु दुष्ट गिनी जाती है, उसी के लिए यह मुझे दुष्ट कह रहा है। अतएव मुझे तो यही देखना चाहिये कि मुझमे कही दुष्टता तो नही आ गई है? अगर मुझमे दुष्टता घुस गई है तो बिना विलम्ब उसे दूर कर देना उचित है। अगर अपने मे दुष्टता नही है तो हसता रहे और विचार करे कि यह किसी दूसरे को दुष्ट कहता होगा। अगर यह मुझे ही दुष्ट कहता है तो यह इसका अज्ञान है। इसने मेरी आत्मा को पहचाना नही है। मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्ट होगा, इसी कारण यह मुझे दुष्ट कह रहा है। परन्तु जब मुझमे दुष्टता ही नही है तो फिर मुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है?

आपने सफेद पगडी पहनी हो और कोई आपको काली पगडी वाला कहे तो आप उस पर नाराज होगे? उस समय आप यही सोचेगे कि मैंने काली पगडी नही पहनी है, अतएव यह किसी और से कहता होगा। ऐसा विचार करने से क्या क्रोध आ सकता है? नही। यदि आप यह सोचे कि मैंने सफेद पगडी बाधी है, फिर भी यह मुझे काली पगडी वाला क्यो कहता है, और ऐसा सोचकर आप उस पर क्रोध करे तो यह आपकी भूल है, क्योकि आपको अपनी पगडी पर तो विश्वास नही है।

अगर क्रोधी के प्रति प्रेम करने के सिद्धान्त को लोग जीवन मे उतारे तो ससार मे शाति स्थापित हो और किसी प्रकार की अशाति न रहे। सास–बहू और पिता–पुत्र के बीच लडाई होने का कारण यही भावना है कि मे ऐसा नही, फिर मुझे ऐसा क्यो कह दिया? इसके बदले अगर यह भावना

आ जाय कि जब मैं ऐसा नही हू तो मुझे नाराज होने की आवश्यकता ही क्या है, तो अशाति का कारण ही न रह जाय।

आप निर्ग्रथ गुरु की सेवा करने वाले हैं, अतएव आपको शान्ति का यह गुण अवश्य अपनाना चाहिए। सच तो यह है कि ससार मे कोई किसी का अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा ही अपना अपमान करती है।

कहने का आशय यह है कि जो क्रोध के प्रसग पर भी प्रशान्त रह सकता है और क्रोधी पुरुष को भी प्रेमवर्षा से नहलाता है, ऐसा समचित्त वाला ही महान् कहलाता है। महान् पुरुष कदापि जड के वशीभूत नही होते। वे यही सोचते हैं –

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल, कदा पुग्गलाधार नही तास रगी।
पर तणो ईश नही अपर ए ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसगी।।

– श्रीदेवचन्द चोबीसी

परमात्मा के साथ जिनकी लगन लगी है, वे यही विचार करते हैं कि मैं पुद्गल नही हू, मैं पुद्गल का मालिक भी रहना नहीं चाहता तो फिर उसका गुलाम बन कर कैसे रह सकता हू?

आज लोगो को जो दु ख है, वह पुद्गल के प्रसग से ही है। लोग पुद्गल के गुलाम बन रहे हैं। अगर वे थोडा धैर्य धारण करे तो पुद्गल उनके गुलाम बन जाए। मगर लोगो मे इतना धैर्य कहा है? अतएव जितने दु ख है वे सब उनके अज्ञान के ही फल हैं। कहा है –

कहे एक सखी सयानी सुन री सुबुद्धि रानी,
तेरो पति दु खी लाग्यो और यार है।
महा अपराधी छाहि, माहि एक नर सोई,
दु.ख देत लाल दीसे नाना परकार है।
कहे आली सुमति कहा दोष पुद्गल को,
आपनी ही मूल लाल, होता आपा वार है।
खोटो नाणो आपको सराफ कहा लागे वीर,
काहू को न दोष मेरो, मौदू भरतार है।।

– श्री समयसार नाटक

इस प्रकार सारा दोष आत्मा का अपना है। इसमे पुद्गल का क्या दोष है? महान् पुरुष इस मर्म को भलीभाति समझते हैं। अतएव वे इस दोष से बचे रहते हैं।

4 – अनुबन्ध चतुष्टय

शास्त्र के पारम्भ मे पवृत्ति, पयोजन, सम्बन्ध और अधिकार– इन चार बातो का विचार किया जाता है। यही चार चीजे अनुबन्ध चतुष्टय के नाम से पसिद्ध हैं।

किसी भी कार्य मे पवृत्ति करने से पहले विचार किया जाता है। जैसे किसी नगर मे पवेश करना हो तो सर्वपथम उसके द्वार की खोज करनी पडती है। द्वार का पता न हो तो नगर मे किस पकार प्रवेश किया जा सकता है? अतएव पवृत्ति के विषय मे विचार पहले करना पडता है। इसी विचार को अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। अनुबन्ध चतुष्टय मे कही चार बातो का ध्यान रखने से सुखपूर्वक पवृत्ति हो सकती है और इसी अनुबन्ध चतुष्टय से शास्त्र की परीक्षा हो सकती है। जैसे लाखो मन अनाज और हजारो गज कपडे की परीक्षा उनके नमूने मात्र से हो जाती है। शास्त्र मे जो– कुछ कहा गया है, उसका सार पहली गाथा मे बता दिया जाता है, जिससे पता लग जाय कि इस शास्त्र मे क्या है?

अनुबन्ध चतुष्टय द्वारा शास्त्र का मूल उद्देश्य जाना जा सकता है। उद्देश्य के बिना प्रवृत्ति नही होती। जब आप घर से बाहर निकलते हैं तो कुछ–न–कुछ उद्देश्य निश्चित करके ही निकलते हैं। उद्देश्य सबका अलग–अलग हो सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि 'प्रयोजनेन विना मदोऽपि प्रवृतते' पत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई–न–कोई उद्देश्य अवश्य होता है। दूध का इच्छुक दूध की दुकान की ओर जाता है और शाकपात खरीदने की इच्छा रखने वाला शाक बाजार की तरफ जाता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर प्रवृत्ति करता है। अतएव यह पहले ही बतला दिया जाता है कि शास्त्र का उद्देश्य क्या है? और उसका विषय क्या है? और शास्त्र का अधिकारी कौन है? फिर शास्त्र के सम्बन्ध का भी उल्लेख कर दिया जाता है कि शास्त्र मे कथित वस्तु का वक्ता और श्रोता के साथ क्या सम्बन्ध है?

इन चार बातो से शास्त्र की परीक्षा हो जाती है। इस महानिर्ग्रंथीय अध्ययन मे ये चारो बाते हैं, यह इसके नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। इन चारो बातो का अध्ययन मे किस प्रकार समावेश किया गया है, यह बात यथावसर अपनी बुद्धि के अनुसार आगे बतलाई जाएगी।

अध्ययन का विषय

महानिर्ग्रंथीय अध्ययन का विषय क्या है? यह बात तो इसके नाम से ही प्रकट है। इस अध्ययन मे महान् निर्ग्रंथ के विषय मे चर्चा की जायेगी। इस अध्ययन की पहली गाथा मे स्पष्ट कहा गया है कि 'मैं धर्मरूप अर्थ मे गति कराने वाले तत्त्व की शिक्षा देता हू'। इससे भी यह प्रकट हो जाता है कि इस अध्ययन मे सासारिक बातो के विषय मे नही, वरन् धार्मिक तत्त्वो के विषय मे चर्चा की जाएगी।

यहा यह विचारणीय है कि धार्मिक तत्त्वो की चर्चा से ससार को क्या लाभ पहुचेगा? ससार मे मलिन विचारो का वातावरण फैल जाने के कारण धार्मिक विचारो का उपदेश और प्रभाव कम हो रहा है। गदे कपडो पर रग नही चढता। रग चढाने के लिए कपडो को साफ करना ही पडता है। इसी प्रकार जब तक हृदय मलिन है, तब तक उस पर धर्मोपदेश का रग नहीं चढ सकता। परन्तु मुझे विश्वास है कि तुम्हारे सब कपडे मैले नही है, अर्थात् तुम्हारा हृदय एकदम मलिन नही है। ऐसा होता तो तुम यहा उपदेश सुनने के लिए आते ही क्यो? फिर भी यह निश्चित है कि जब तक हृदय मे थोडी–बहुत मलिनता होती है, तब तक धर्म का रग बराबर नही चढता।

शास्त्रकारो का कथन है कि धर्मस्थान मे जाने के लिए घर मे से निकलते समय 'निस्सही' कहना, धर्मस्थान मे प्रवेश करते समय 'निस्सही' कहना और फिर गुरु के पास जाते हुए भी निस्सही कहना। इस प्रकार तीन बार 'निस्सही' क्यो कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि घर से निकलते समय 'निस्सही' कहने का प्रयोजन सब सासारिक कामो का निषेध करके धर्मस्थानक मे जाना है। क्योकि जो सासारिक कामो को छोडकर धर्मस्थान मे जाता है, वही धर्मक्रिया का पूरा–पूरा लाभ उठा सकता है और जो सासारिक प्रपचो को साथ लेकर जाता है, वह धर्मस्थान मे भी प्रपच ही करता है। वह धर्म का क्या लाभ ले सकता है? धर्मस्थानक मे पहुचने पर 'निस्सही कहने का अभिप्राय यह है कि घर से तो गाडी–घोडा आदि लेकर निकलता है, पर धर्मस्थान मे गाडी–घोडा तो चल नही सकता। अतएव गाडी–घोडा आदि का निषेध करने के लिए उस समय दोबारा 'निस्सही' बोला जाता है।

धर्मस्थान मे किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए इस सबध मे शास्त्र मे ऐसा वर्णन मिलता है कि भगवान् या किसी महात्मा के दर्शन करने के लिए कोई जाता है तो वह पाच अभिगमन करके प्रवेश करता है – "पच विहेण्ण अभिगमेण अभिगच्छइ तजहा – 1 सचित्ताण दव्वाण विउसरणयाए 2

अचित्ताण दव्वाण अविउसरणयाए 3 एग साडिय उत्तरासग करणेण 4 चक्खु प्फासे अजलि पग्गहेण 5 मणसा एगत्ती करणेण।" (1) सचित्त दव्य का त्याग करना (2) अस्त्रशस्त्र आदि अनुचित अचित्त दव्य साथ न ले जाना और वस्त्रो का सकोच करना (3) उत्तरासन करना (4) साधु की दृष्टि पडते ही हाथ जोडना और (5) मन को एकाग्र करना। ये पाच अभिगमन हैं।

धर्मस्थान मे साधु के पास जाकर फिर 'निस्सही' कहने का आशय यह है कि 'मैं समस्त पपचो का त्याग करता हूँ।'

इस पकार मन को एकाग्र करके और सासारिक प्रपचो का त्याग करके धर्मोपदेश सुना जाय या धर्मक्रिया की जाय तो वह लाभदायक सिद्ध होती है। चार अभिगमन करके भी यदि मन को एकाग्र न किया जाय तो आत्म–लाभ नही होता। अतएव यदि धर्मसिद्धान्त को जानने की रुचि हो तो मन को स्वच्छ करके धर्मोपदेश सुनना चाहिए।

अपने मनरूपी कपडे का मैल उतारने का भार मुझ पर मत डालो। धोने का काम धोबी करता है और रगने का काम रगरेज करता है। मैं तुम्हारे ऊपर सिद्धान्त रूपी धर्म–रग चढाना चाहता हू और वह तभी चढ सकता है जब तुम्हारा मनरूपी कपडा साफ हो।

इस अध्ययन का विषय क्या है, यह बतलाया जा चुका। अब इसका प्रयोजन देखना है। इस अध्ययन का प्रयोजन धर्म मे गति करना है, अर्थात् साधु–जीवन की शिक्षा देना है।

कहा जा सकता है कि साधु–जीवन की शिक्षा की साधुओ को आवश्यकता है। हम गृहस्थो को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है? तुम गृहस्थाश्रम मे हो और साधु साधु–आश्रम मे हैं। अपने–अपने आश्रम मे अपने–अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाए की जाती हैं। पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नही कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। अगर गृहस्थ धर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान् 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योकि जगत् मे गृहस्थो का भी समावेश होता है। अत गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते हैं। श्रेणिक जैसा राजा साधु–जीवन को अगीकार न कर सकने पर भी धर्म–शिक्षा को सुनकर गृहस्थ होते हुए भी तीर्थंकर गोत्र की उपार्जना कर सका तो फिर तुम्हे उस शिक्षा की आवश्यकता क्यो नही है? अतएव गृहस्थो के लिए भी इस शिक्षा का प्रयोजन है।

अब यह देखना चाहिए कि इस अध्ययन का अधिकारी कौन है? सूर्य सभी का है और सभी उससे प्रकाश पाने के अधिकारी हैं, किसी को सूर्य का

प्रकाश पाने की मनाही नहीं है। फिर भी प्रकाश वही पा सकता है जिसके आखे हैं। जिनके आखे नहीं, अथवा जिनकी आखो मे उलूक की भाति विकृति आ गई है, उनके सिवाय सभी सूर्य के प्रकाश से लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार जिनके हृदय के नेत्र खुले हैं, वे सब इस शिक्षा से लाभ उठा सकते हैं। यह शिक्षा हृदय–चक्षु के आवरण को भी दूर करती है, मगर आवरण को दूर करने की इच्छा होनी चाहिये। इस प्रकार जो इस शिक्षा से लाभ उठाना चाहते हैं, वे सब इसके अधिकारी हैं।

अब इस अध्ययन के सबध पर विचार करना चाहिए। सबध दो प्रकार का होता है – एक उपायोपेय सम्बन्ध और दूसरा गुरु शिष्य – सबध। गुरु–शिष्य सबध मे यह देखना है कि यह अध्ययन किसने कहा है ? और किसने सुना है? धर्मोपदेशक गुरु कैसा होना चाहिए? इस विषय मे शास्त्र मे कहा है–

आयगुत्ते सया दन्ते, छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमाक्खति, पडिपुण्णं महेसियं।।

अर्थात् धर्म का उपदेशक वही है जो आत्मा का दमन करता हो और आत्म–गोपन करता हो। जो इन्द्रियो को सयम की ढाल मे कछुए की तरह छिपा रखता हो, वही धर्म का उपदेशक है।

इन्द्रियो का दमन करने का अर्थ इन्द्रियो का नाश करना नही है। किन्तु जैसे लगाम पकड कर घोडे को स्वच्छद भाव से दौडने नही दिया जाता, उसी प्रकार इन्द्रियो को विषयो की तरफ न जाने देना ही इन्द्रियो का दमन है।

इसके अतिरिक्त धर्मोपदेशक आत्मसयमी, गुप्तेन्द्रिय और हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होता है। वह समस्त स्त्रियो को माता–वहिन के समान गिनता है, धर्मोपकरण के सिवाय कोई परिग्रह नही रखता। इस प्रकार कचन–कामिनी का त्याग करके जो आश्रवरहित होता है, वही धर्मोपदेशक अनुपम धर्म को शुद्ध और परिपूर्ण रीति से कह सकता है।

स्थविरो या गणधरो ने यह धर्म कहा है, यह गुरु–शिष्य सम्बन्ध है, परन्तु उपायोपेय सम्बन्ध क्या है, इस विषय मे पहले विचार करले। रोग को दूर करना उपेय है और औषध लेना उपाय है। इस प्रकार इस अध्ययन मे उपायोपेय सम्बन्ध क्या है? मोक्ष प्राप्त करना उपेय है और इस अध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना उसका उपाय है। यही इस अध्ययन का उपायोपेय सम्बन्ध है।

ससार मे उपाय को पा लेना ही कठिन है। जब उपाय हाथ आ जाता है तो रोग भी चला जाता है। डाक्टर आता है और रोगनाशक दवा देता है तो रोग भी चला जाता है। इसी प्रकार कोई उपाय मिल जाता है तो काम पार पड जाता है। किसी बहिन के पास रोटी बनाने के साधन ही न हो तो वह रोटी कैसे बना सकती है? अगर सब साधन मौजूद हो तो रोटी बनाने मे कुछ भी कठिनाई नही होती।

मान लीजिए, किसी को सब साधन और उपाय मिल गए, फिर भी वह अगर उद्योग न करे तो क्या उसका कार्य सिद्ध होगा? अतएव आप विचार कीजिए कि आपको क्या करना है? इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि गफलत की नीद छोडकर जाग्रत होना और प्राप्त साधनो का उपयोग करना। आपको आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और दुर्लभ मनुष्य–जन्म मिला है। यह क्या कम साधन है? फिर सिद्धान्त तत्त्व को समझने योग्य उम्र भी मिली है। अत इस उम्र मे मिले साधनो का जितना उपयोग हो सकता हो, उतना कर लेना चाहिए। बालवय मे सिद्धान्त तत्त्व को समझ सकने योग्य बुद्धि का विकास नही होता और वृद्धावस्था मे शक्ति क्षीण ही होती है। अतएव ज्ञानी कहते है – ऐ गाफिल मुसाफिरो! निद्रा का त्याग करके जागो, कहा तक सोते रहोगे? जैसे माता अपने पुत्र से कहती है – 'सूर्य चढ गया है, बेटा, जागो। कब तक सोते रहोगे?' इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सोने वालो को जगाते हुए कहते है –

मा सुवह जग्गियव्व, पल्ला हयव्वमि किस्म विस्सयिह।
तिन्नि जणा अणुलग्गा, रोगो जरा य मच्चू य।।

– वैराग्यशतक

हे जीवात्माओ! रोग, जरा और मरण, ये तीन जन तुम्हारे पीछे लगे हैं। तुम अब तक गफलत मे क्यो पडे हो? जागो, सोते मत रहो।

यह बात बहुत विचारणीय है। अतएव एक कथानक द्वारा, सरल करके समझाई जाती है।

एक बार दो मित्र जगल मे जा रहे थे। रास्ते मे एक मित्र थक गया और थकावट मिटाने का आश्रय भी उसे मिल गया। उसने देखा– जगल मे खूब घटादार सुन्दर वृक्ष हैं। कल–कल करती सरिता भी प्रवाहित हो रही है। शीतल मन्द समीर भी बह रहा है और सोने के लिए शिला भी रखी है। यह सब देख कर वह थका मित्र विश्राम करने के लिए ललचाया और विचारने लगा– यहा खाने को सुन्दर फल है, सूधने को सुगन्धित फूल हैं, पीने के लिए नदी का मीठा पानी है, जलवायु उत्तम है और वातावरण भी शात है। अतएव

यह स्थान खाने, पीने ओर सोने के लिए अनुकूल है। ऐसा सोच कर वह विश्राम करने के लिए बैठ गया। परन्तु दूसरा मित्र प्रकृति का ज्ञानी था। वह जानता था कि यहा की जलवायु ओर फल–फूल आदि किस प्रकार के हैं? अतएव उसने थके मित्र से कहा – भाई, यहा विश्राम लेना योग्य नहीं, क्योंकि यह स्थल उपद्रवमय है। यहा क्षण– भर भी विश्राम लेना लाभप्रद नहीं है। अतएव हमे जल्दी ही आगे बढना चाहिए, क्योकि हमारे जीव के तीन शत्रु हमारे पीछे पडे हैं। इन सुन्दर फल–फूलो पर तुम ललचाये हो, परन्तु ये जहरीले हैं और इसी कारण यहा की हवा भी जहरीली हो गई है। ये सुन्दर दिखलाई देने वाले फल–फूल थोडी ही देर मे तुम्हे बेभान कर देंगे। फिर तुम चल भी नहीं सकोगे। यह कलकल निनाद करके बहने वाली नदी भी यही शिक्षा देती है कि जैसे मेरा पानी बहता जा रहा है, उसी प्रकार तुम्हारी आयु भी चली जा रही है। अतएव भाई, यहा विश्राम न लेकर आगे चलो।

क्या सोवे उठ जाग बाउ रे,
अंजलि जल ज्यो आयु घटत है,
देत पहरिया घरिय धाऊ रे। क्या।।
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले,
कौन राजापति साह राऊ रे।।
भमत भमत भव–जलधि पाप के,
भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे।।क्या ।।
क्या विलम्ब करे अब बाउरे,
तर भव–जलनिधि पार पाउ रे।।
आनन्दघन चेतनमय मूरति,
शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे।। क्या.।।

शास्त्रकारो, ग्रन्थकारो कवियो और महात्माओ का यही कहना है कि हे जीवात्माओ! क्यो सोते हो? उठो जागो!

आप कहेंगे – क्या हमे साधु बनना है? परन्तु साधु क्या बुरी वस्तु है? अगर बुरी होती तो आप साधु का उपदेश ही क्यो सुनते ? साधुता तो विशिष्ट शक्ति होने पर ही धारण की जा सकती है, परन्तु आपको जो साधन मिले है, उनका सदुपयोग करो और नींद मे मत पडे रहो। जो लोग साधु नही बन सकते, उनके लिए ज्ञानी जन कहते हैं।

भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे।

अर्थात् तुम्हे भगवद्भक्ति की नौका मिली है तो उसमे क्यो नही बैठते?

दूसरा मित्र उस थके मित्र से कहता है – तुम पास मे खडी इस नौका मे बैठ जाओ। तुम्हे चलना भी नही पडेगा। मै नौका खेऊगा और नदी के पानी की सहायता से उसे नदी के किनारे ले जाऊगा।

अब थके मित्र को चलना भी नही है, फिर भी अगर वह नौका मे नही बैठता और चेतावनी देने पर भी वही सोता रहता है तो उस जैसा अभागा और कौन होगा? इसी प्रकार आपके सामने भगवान् की भक्तिरूपी नौका खडी है। अगर आपसे और कुछ नही बन सकता तो इस नौका मे बैठ जाओ, पर निद्रा मे मत पडे रहो।

साधु का स्थान उत्तम है, परन्तु वहा जाकर भी चित्त मे दुर्विचार आते रहे तो यह कितनी बुरी बात होगी? कदाचित् जितनी देर साधु के पास रहे उतनी देर अच्छे विचार रहे और बाहर जाते ही अच्छे विचारो को ताक मे रख दिया तो इससे क्या लाभ? तुम कहोगे कि यह हमारी अपूर्णता है, पर मैं कहता हू कि यह मेरी भी अपूर्णता है, क्योकि तुम मेरी कही को भूल जाते हो। मै अपनी अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करूगा, परन्तु मै तो निमित्त मात्र हू, उपादान कारण तो तुम स्वय ही हो। अगर उपादान कारण उत्तम होगा तो निमित्त कारण से लाभ पहुच सकेगा। अगर उपादन उत्तम न हुआ तो निमित्त कारण से कोई लाभ नही हो सकता। निमित के साथ उपादान का शुद्ध होना आवश्यक है। घडी मे जब तक चाबी देते रहेगे तब तक वह चलती रहेगी और ज्यो ही चाबी देना बन्द किया कि घडी बन्द हो जायेगी, तो उस घडी को आप कैसी समझेगे? आप उसे बिगडी घडी कहेगे? इसी प्रकार जब तक मै तुम्हे उपदेश की चाबी देता रहू, तब तक 'तहत' कहते रहो और बाद मे उपदेश को भूल जाओ, क्या यह ठीक है? तुम्हारे पास भगवद्भक्ति की नौका खडी है। तुम उसमे बैठ जाओ तो तुम्हारा बेडा पार हो जाय। तुलसीदासजी ने ठीक कहा है –

जग नभ वाटिका रही है फूलि फूलि रे।
धुआ कैस धौरहर देखि तू न भूलि रे।।

यह ससार की वाटिका, आकाश मे बिखरे तारो की तरह फूली–फली है, परन्तु यह स्थायी नही है। अतएव ससार की भूलभुलैया मे न पडकर परमात्मा की नौका मे बैठ कर ससार–समुद्र के पार पहुचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान् की भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? क्योकि भगवद्भक्ति न करने वाले सुखी और भक्ति करने वाले दु खी देखे जाते हैं। बहुत बार ऐसा उलटा क्रम देखा जाता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितने ही लोग प्रकट रूप मे भगवान् की भक्ति नहीं करते, किन्तु उनके नियमोपनियमो का पालन करते हैं और कितने ही लोग ऐसे भी हैं जो प्रकट रूप मे – दिखावटी तौर पर परमात्मा का नाम तो लेते हैं, परन्तु उनके बताये निममो का पालन नही करते। जो प्रकट रूप मे परमात्मा का नाम नही लेते, किन्तु उनके बताये नियमो का पालन करते हैं, वे कभी दु खी नही हो सकते। अतएव वे परमात्मा का नाम न लेने से सुखी हैं, ऐसा कहना उचित नही। वास्तव मे वे परमात्मा के बताये नियमो का पालन करने के कारण ही सुखी हैं। परमात्मा का नाम न लेने से वे सुखी हैं, यह कथन वैसा ही है जैसे किसी पहलवान को गाडी मे बैठा देखकर कोई कहने लगे कि गाडी मे बैठने से शरीर बलवान् बनता है। ऐसा कहने वाला इतना भी नही जानता कि गाडी मे बैठने से नही, किन्तु व्यायाम करने से शरीर बलवान् बनता है।

वस्तुत परमात्मा का नाम लेने का महत्त्व उनके बनाये नियमो का पालन करने मे है। शुद्ध मन से नियमो का पालन करना भगवान् का भजन करना ही है। मित्रो! तुम भी भगवद्भक्ति की नौका मे बैठ जाओ और भवसागर के पार पहुचो। भगवद्भक्ति के रग से हृदय को ऐसा रगो कि वह रग फिर उतर न सके।

ऐसा रंग बना लो, दाग न लागे तेरे मन को।

मन को स्वच्छ बनाओ और उस पर भक्ति का रग चढाओ, बस, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इस गाथा का सामान्य अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से इसका परमार्थ क्या है, यह विचारणीय है।

पहले बतलाया जा चुका है कि नमस्कार मत्र मे अरिहन्त, सिद्ध आदि जो पाच पद हैं, उनमे एक सिद्ध है और चार साधक हैं। यह बात एक दृष्टि से ठीक ही है, पर टीकाकार का कथन है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे की जाती है। इस दृष्टिकोण से दो सिद्ध और तीन साधक हैं। अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे हो सकती है, इसके लिए टीकाकार प्रमाण उपस्थित करते हैं –

एव सिद्धा वदन्ति परमाणु।

– अनुयोग द्वार

अर्थात् सिद्ध परमाणु की व्याख्या करते हैं।

यह निर्विवाद है कि सिद्ध बोलते या व्याख्या करते नही है, किन्तु अरिहन्त ही व्याख्या करते है। इससे स्पष्ट जान पडता है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे की गई है। इस दृष्टि से अहिन्त को भी सिद्ध मान कर नमस्कार किया गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तो सयत हैं ही, अत उन्हे 'सयत' पद देकर नमस्कार किया गया है।

यहा दूसरा प्रश्न खडा होता है। वह यह कि जब अरिहन्त को नमस्कार किया गया तो फिर आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है? जब राजा को नमस्कार किया गया हो तो परिषद् को नमस्कार करने की आवश्यकता ही क्या है? अरिहन्त राजा के समान हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु उनकी परिषद् है। उन्हे अलग नमस्कार करने की आवश्यकता क्यो समझी गई?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक कार्य दो प्रकार से होता है – एक पुरुष प्रयत्न से और दूसरा महापुरुष की सहायता से। इन दोनो कारणो के सहयोग से ही कार्य की सिद्धि होती है। यद्यपि महापुरुषो की सहायता अपेक्षित होती है, फिर भी प्रधान तो निज पुरुषार्थ ही है। अपना पुरुषार्थ हो तो ही महान् पुरुषो की सहायता भी मिल सकती है और तभी कार्य सिद्ध हो सकता है। कहावत है –

हिम्मते मर्दां मददे खुदा।

अरिहन्त को नमस्कार करके भी आचार्य आदि को नमस्कार करने का कारण यह है कि इष्ट कार्य की सिद्धि मे उनकी सहायता की भी आवश्यकता होती है। यद्यपि लिखने का कार्य अपने हाथ से करना पडता है, किन्तु सूर्य और दीपक की सहायता के बिना लिखा नही जा सकता, क्योकि प्रकाश की भी सहायता लेनी पडती है। मनुष्य अपने पैरो से चलता है, परन्तु प्रकाश न हो तो गडहे मे गिर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ के साथ महापुरुषो की सहायता की भी आवश्यकता है।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध सिद्ध है और आचार्य आदि साधक है। हमे दोनो की सहायता की अपेक्षा हे। अतएव यहा दोनो को ही नमस्कार कया गया है।

प्रस्तुत गाथा मे एक सिद्धान्त–तत्त्व का निरूपण किया गया है। कहा है कि 'सिद्ध ओर सयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूगा।' इस वाक्य मे दो क्रियाए हें। पहली क्रिया त्वा प्रत्ययान्त क्रिया का प्रयोग अपूर्ण काम के लिए होता है। जेसे कोई कहे – 'मै इस कार्य को करके उस कार्य

को करूगा', तो यहा दो क्रियाए हैं। उसी प्रकार 'मैं सिद्ध और सयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूगा।' इस वाक्य मे भी दो क्रियाए हैं। इन दोनो क्रियाओ का सम्बन्ध जोडकर एक परमार्थ की सूचना दी गई है। जैसे सूर्य को अन्धकार के प्रति द्वेष नही है, अन्धकार का नाश करने के लिए ही उसका उदय नही हुआ है, फिर भी सूर्योदय से अन्धकार का नाश हो ही जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी को अज्ञानी या अज्ञान के प्रति द्वेष नही होता, परन्तु सत्य तत्त्व का प्रतिपादन करने से अज्ञान का खण्डन हो ही जाता है। अर्थात् ज्ञानी जनो के ज्ञानप्रकाश से अज्ञान का नाश हो ही जाता है।

इस गाथा मे प्रयुक्त की गई दो क्रियाओ के विषय मे भी यही बात है।

बोद्धो का कथन है कि आत्मा का निरन्वय नाश हो जाता है, पर ज्ञानियो का कथन है कि ऐसी बात नही है। आत्मा का निरन्वय नाश नही, सान्वय नाश होता है। आत्मा पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नहीं। जैसे मिट्टी की मिट्टी पर्याय नष्ट हो जाती है और वह घट पर्याय मे परिणत हो जाती है तथापि मिट्टी का सर्वथा नाश नही होता। अगर मिट्टी का सर्वथा द्रव्य से भी नाश हो जाय तो उससे घट किस प्रकार बन सकता है ? इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, जिसमे आत्मा भी सम्मिलित है, पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नही। यह ज्ञानियो का कथन है। परन्तु बोद्धो का कथन है कि आत्मा का क्षण–क्षण मे निरन्वय नाश होता है। ऐसा होता अर्थात् द्रव्य का नाश होता है तो फिर पर्याय किसकी होती है?

इस गाथा से बौद्धो के इस कथन का खण्डन हो जाता है। टीकाकार कहते हैं कि इस गाथा मे दो क्रियाए है। अगर आत्मा का निरन्वय नाश हो जाय तो गाथा मे प्रयुक्त क्रियाए व्यर्थ हो जाए, क्योकि सिद्ध और सयत को नमस्कार करने वाली आत्मा उसी समय नष्ट हो जाती है, तो यह क्रिया व्यर्थ हुई। और दूसरी क्रिया की व्यर्थता तो स्पष्ट ही है। जब शिक्षा देने के लिए नमस्कार करने वाला ही कोई न रहा तो 'मै शिक्षा दूगा'– इस तरह कहने वाला आत्मा ही कहा रहा? परन्तु बौद्धो की मान्यता सत्य नही है। आत्मा का निरन्वय नाश नही होता, अतएव दोनो क्रियाए सार्थक है।

आत्मा का निरन्वय नाश मानने मे अनेक दोष आते हैं। निरन्वय नाश की मान्यता युक्तियो द्वारा स्थिर भी नही रह सकती। इस तात्त्विक बात को उदाहरण द्वारा सरल करके समझाता हू –

एक आदमी ने दूसरे पर न्यायालय मे दावा किया कि प्रतिपक्षी पर मेरी इतनी रकम बकाया है, मुझे दिलाई जाये। प्रतिपक्षी ने न्यायाधीश से कहा– यह दावा झूठा है, क्योकि रुपया देने वाला और लेने वाला कोई रहा ही नही है। वे तो उसी समय नष्ट हो गए। न्यायाधीश ने सोचा – यह मनुष्य चालाकी करता है और सिद्धान्त का बहाना करके बचना चाहता है। यह सोचकर न्यायाधीश ने उससे कहा – मै तुम्हे कैद की सजा देता हू। यह सुनकर वह मनुष्य रोने लगा और कहने लगा – मैं रुपये देने को तैयार हू, मुझे कैद की सजा न दी जाय।

न्यायाधीश ने कहा–तुम रोते क्यो हो? तुम्हारे सिद्धान्त से तो आत्मा क्षण–क्षण मे नष्ट होकर नवीन उत्पन्न होती है, फिर दु ख काहे का?

उस मनुष्य ने कहा – मैं शेष रुपये भर देता हू। मुझे छोड दीजिए। इस प्रकार वह अपने सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका।

कहने का आशय यह है कि जब आपको भावी पर्याय का अनुभव होता है तो भूत पर्याय का अनुभव क्यो न हो? भूत पर्याय का अनुभव न माना जाय तो सब क्रियाए निरर्थक हो जाएगी और कभी मोक्ष नही मिल सकेगा, क्योकि आत्मा के नष्ट होने के साथ ही क्रिया भी नष्ट हो जाएगी तो न पुण्य–पाप रहेगे, न मोक्ष ही रहेगा अतएव आत्मा का निरन्वय नाश मानना योग्य नही है। टीकाकार ने इस गाथा का यह मर्म प्रकट किया है।

इस अध्ययन मे एक महापुरुष का अधिकार है। इस अधिकार को कहने वाले और सुनने वाले दोनो महापुरुष थे। वक्ता महानिर्ग्रथ हैं और श्रोता राजाओ मे प्रधान राजा हैं। इन महापुरुषो के बीच हुआ विचार विनिमय हमारे लिए कितना लाभप्रद है, यह सोचा जा सकता है। इस अध्ययन के श्रोता का परिचय देते हुए कहा है –

पभूय रयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्त निज्जाओ, मडि कुच्छिसि चेइए।।2।।

अर्थ–विपुल सख्यक रत्नो का स्वामी और मगध का अधिपति राजा श्रेणिक बिहार यात्रा के लिए निकला और मडिकुक्ष नामक बगीचे मे आया।

यहा सर्वप्रथम यह देखना है कि रत्न का अर्थ क्या है? आप लोग हीरा, माणिक आदि को ही रत्न मानते हैं, परन्तु ये ही रत्न नही हैं, और भी रत्न हैं। मनुष्यो मे भी रत्न होते है, हाथियो मे भी रत्न होते है, घोडो मे भी रत्न होते हैं और स्त्रियो आदि मे भी रत्न होते हैं। इस प्रकार रत्न का अर्थ बहुत व्यापक है। रत्न का व्यापक अर्थ होता है – श्रेष्ठ। जो श्रेष्ठ होता है,

वह रत्न कहलाता है। राजा श्रेणिक के पास अनेक रत्न थे, यह कह कर सक्षेप मे ही उसकी सम्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

शास्त्रकार को यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि श्रेणिक बहुत रत्नो का स्वामी था? यह प्रश्न यहा विचारणीय हैं। कितने ही रत्न क्यो न हों? यदि आत्मा को नही पहचाना तो वे सब व्यर्थ हैं, क्योकि और सब रत्नो की प्राप्ति सुलभ है, परन्तु धर्मरूपी रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। धर्म–रत्न मिल जाय तो अन्य रत्न गिनती मे आ सकते हैं, अन्यथा वे किसी काम के नही है। यह बतलाना शास्त्रकार को अभीष्ट है।

आपको बडी से बडी सम्पत्ति मनुष्य–जन्म की मिली है, परन्तु आप उसकी कीमत नही समझते। अगर आपने इसकी कीमत समझी होती तो आप सोचते – मुझे यह बहुमूल्य रत्न मिला है। मै ककरो के बदले इस रत्न को गवा देने की मूर्खता कैसे करू? अगर तुम मनष्यत्व–रत्न की कीमत समझते हो तो एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देकर परमात्मा की भक्ति मे समय का सदुपयोग करो। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा दिव्य और ईश्वरीय बनेगी और तुम्हारा जन्म मूल्यवान् बन जायेगा।

आप कहेगे – आत्मा को परमात्ममय किस प्रकार बनाया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि ससार मे दो प्रकार के पदार्थ है – काल्पनिक और वास्तविक। जो वास्तविक नही है, उसे वास्तविक समझ लेना अज्ञान है। अज्ञान–जनित कल्पना ही आपको कठिनाई मे डाल रही है। काल्पनिक पदार्थ और वास्तविक पदार्थ, दोनो जुदा–जुदा हैं। जब तक वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नही होता, तब तक अज्ञान नही मिट सकता, यथा एक बार सीप मे चादी की कल्पना की, किन्तु जब सीप के पास जाकर देखा और उसके सीप होने की खातिरी की, तभी समझ मे आया कि यह चादी नही, सीप है। इस प्रकार की कल्पना को त्यागो और परमात्मा के साथ एकतात्मपनता स्थापित करो और यह जो कान, नाक और शरीर है, वह मैं नही हू, ऐसा विचार करो। आपको मिला हुआ मनुष्य–जन्मरूपी रत्न सार्थक होगा।

जब आप सो जाते हैं, तब आखे, कान वगैरह इन्द्रिया अपना काम वन्द कर देती है, फिर भी स्वप्न–अवस्था मे आत्मा सुनता है और देखता भी है। स्वप्नावस्था मे इद्रिया सो जाती हैं और मन जागता रहता है। इन्द्रिया सुप्त होती हैं फिर भी स्वप्न मे इन्द्रियो का काम चालू ही रहता है। इन्द्रियो की सुप्त दशा मे इन्द्रियो का काम कौन चलाता है? इस प्रश्न पर विचार

किया जाय तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह सब काम आत्मा ही कर रहा है।

आत्मा। अनन्त शक्तिमान् है, किन्तु वह भ्रम मे पड गया है और शरीर आदि को अपना स्वरूप समझ बैठा है। आत्मा अभी कल्पना के भवर मे फसा है, अतएव कल्पना को त्याग कर आत्मा के वास्तविक तत्त्व को पहचानो और सासारिक पदार्थो का ममत्व त्यागो। विश्वास करो कि आत्मा मे अनन्त शक्ति है। स्वप्नावस्था मे कान के सुषुप्त होने पर भी वह सुनता है और आख बन्द होने पर भी वह देख सकता है। वहा इन्द्रियो के विषय नही हैं, फिर भी कल्पना के बल पर आत्मा सब की सृष्टि कर लेता है। वह स्वप्नावस्था मे गध, रस, स्पर्श आदि की कल्पना करके आनन्द भी मानता है। स्वप्न मे क्रोध भी करता है, लोभ भी करता है सिह आदि को देखकर भयभीत भी होता है इस प्रकार आत्मा स्वप्न मे सुख भी मानता है और दु ख का अनुभव भी करता है।

स्वप्न की इन क्रियाओ से आत्मा की शक्तियो का अनुमान लगाया जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियो की सहायता के बिना भी काम चल सकता है। इस प्रकार आत्मा की अनन्त शक्तियो को जान कर परमात्मा की भक्ति मे उनका उपयोग करो। ऐसा करने से आपका मनुष्य–जन्म रूपी रत्न सार्थक होगा।

प्रत्येक कार्य उद्देश्य के अनुसार ठीक रूप से करना होता है। ऐसा न किया जाय तो परिणाम उलटा आता है। यह बात एक उदाहरण से भली–भाति समझ मे आ सकेगी–

एक बार एक सावधान चोर ने साहस करके राजा के घर मे प्रवेश किया। परन्तु उसके प्रवेश करते ही राजा जाग गया। राजा को जागा जान चोर भयभीत हुआ और 'मैं पकडा गया तो मारा जाऊगा' यह सोच कर भागा। राजा ने चोर को देख लिया। उसने चोर का पीछा किया। अब चोर आगे–आगे और राजा पीछे–पीछे दौड रहे थे। राजा को दौडते देख सिपाही भी दौडे। चोर भागता–भागता थक गया था, फिर भी किसी प्रकार भागा जा रहा था। वह जानता था कि अगर पकड मे आ गया तो जान से मारा जाऊगा। सामने श्मशान था। चोर ने सोचा–बचने का एक ही उपाय है। अगर मैं श्मशान मे मुर्दे की तरह पड जाऊ तो राजा मुझे मुर्दा समझ कर छोड देगा। बस मुर्दा बनने का स्वाग रचना चाहिए।

ऐसा सोच कर चोर श्मशान मे पहुच कर नीचे गिर गया और मृतक की तरह अपनी नाडियो का सकोच करके निढाल सा पडा। इतने मे राजा

के सिपाही वहा पहुचे। उन्होने चोर को पडा देखा। सिपाही कहने लगे–महाराज देखिए तो सही, यह चोर आपके भय से ही गिर कर मर गया है। राजा ने कहा–मरा नहीं होगा, मृतक का ढोंग करके पडा होगा। इच्छी तरह जाच–पड्ताल करो।

सिपाही चोर को खूब झकझोरन लगे। परन्तु मुर्दे की तरह निश्चेष्ट ही पडा रहा।

आपत्ति भी मनुष्य को अपूर्व शिक्षा देती है और उन्नत बनाती हे। राम पर वन मे जाने की एव उन्हे आदर्श रूप मे माना जाता है आवश्यकता आदि ने पडी होती तो उनका कोई नाम भी न जानता। भगवान महावीर ने भी अगर आपत्तिया सहन न की होती तो उनका कोई नाम न लेता, उन्हे कोई महावीर न कहता। सीता, चन्दनबाला, अजना, सुभद्रा आदि ने धैर्यपूर्वक आपत्तियो को सहन किया था, इसी कारण उनकी प्रशसा की जाती है– अतएव आपत्तियो से न घबरा कर उनका धीरज के साथ सामना करना चाहिए।

सिपाहियो ने चोर को खूब हिलाया–डुलाया, मगर वह हिला–डुला नही। तब उन्होने राजा से कहा–महाराज, यह चोर बिल्कुल मर चुका है। राजा ने फिर कहा–बराबर देखो, ढोग कर रहा होगा।

सिपाही चोर को मारने–पीटने लगे। उसके शरीर से रूधिर की धारा बहने लगी। फिर भी चोर ने चू–चा तक न की। तब सिपाहियो ने उसे मरा हुआ समझ कर राजा से फिर कहा–महाराज यह तो सचमुच ही मर गया है। हमने खूब मरम्मत की है, यहा तक कि रक्त बहने लगा है, फिर भी उसके मुह से वेदना की चीख नही निकली।

राजा ने कहा–वह मरा नही, जीवित है, क्योकि मुर्दे के शरीर मे से रक्त नही निकलता। वह ढोग कर के पडा है। उसके कान मे धीरे से कहो–'राजा ने तेरे सब अपराध क्षमा कर दिये हैं।' यह कह कर उसे मेरे पास ले आओ।

सिपाहियो ने राजा की आज्ञा का पालन किया। चोर उठ बैठा और राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राजा चोर को देख कर सोचने लगा–यह मेरे डर से मुर्दा बन गया तो मुझे साक्षात् मौत के भय से क्या करना चाहिए ? फिर राजा ने उससे पूछा–तू इस प्रकार मुर्दा बन कर क्यो पड गया था ?

चोर – आपके भय से।

राजा – इतनी सख्त मार पडी, फिर भी बोला क्यो नही ?

चोर – जब मैने मुर्दा बनने का स्वाग रचा था तो कैसे बोल सकता था ?

राजा – तब तो तू बगुला भगत जान पडता है।

चोर – महाराज, मै बगुला भगत नही हू। आपके भय से ही मैने मुर्दा होने का स्वाग रचा था।

राजा – तू जैसे मेरे भय से धरती पर ढल पडा, इसी प्रकार अगर ससार के भय से डरे और पूरा–पूरा स्वाग रचे तो तेरा कल्याण हो जाय।

चोर – महाराज, मैं ऐसी बातो को नही जानता। ऐसा ज्ञान आपको है, मुझे नही।

चोर ने अपने उद्देश्य के अनुसार कार्य की सिद्धि के लिए मार खाई। आप भी अपने उद्देश्य की रक्षा करना सीखो। आप ऊपर से कहते हैं कि हमारे हृदय मे परमात्मा बसा है, परन्तु अन्दर यदि विकार रखो तो क्या परमात्मा हृदय मे बस सकता है? अगर आपके मन मे परमात्मा का वास है और आप परमात्मा के सच्चे भक्त है तो आपको अपने ध्येय पर दृढ रहना चाहिए। कहा भी है –

तू तो राम सुमर जग लडवा दे।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत–पढत वाको पढवा दे।
हाथी चलत है अपनी चाल से–कुतर भुकत वाको झुकवादे।।

– आश्रम भजनावली

आप कहेगे कि अब राम कहा हैं? वह तो दशरथ के पुत्र थे और उन्हे हुए हजारो–लाखो वर्ष हो गए। उनका कैसे स्मरण किया जाय ? परन्तु ज्ञानियो का कहना है कि राम आपके हृदय मे ही विद्यमान है –

रमन्ते योगिनो यस्मिन्–इति राम ।

जिसमे योगीजन रमण करते हैं, वही राम है। और कोई नही, आपका आत्मा ही राम है। इसी आत्माराम का स्मरण करो, परन्तु यह भी विचार कर लो कि इसका स्मरण किस प्रकार करना चाहिए? मार खाकर चोर बोल जाता तो उसका स्वाग पूरा न होता। इसी प्रकार आप परमात्मा का स्मरण करके फिर सासारिक झगडो मे पड जाओ तो भक्त का स्वाग पूरा नही कहलाएगा। आप यही समझे कि यह आत्मा हाथी के समान है। इसके पीछे ससार के झगडे रूपी कुत्ते भौंकते हो तो भले भौंके। इनसे मुझे क्या प्रयोजन? अथवा कोई कोरे कागज पर स्याही से लिखे तो भले लिखा करे। इसमे मेरी क्या हानि है? इस तरह विचार करके अगर आप परमात्मा की शरण मे जाए तो

आपके उद्देश्य की पूर्ति और कार्य की सिद्धि होगी। चोर ने मुर्दे का स्वाग रच कर राजा का हृदय बदल दिया तो आप दूसरो का हृदय क्यो नहीं बदल सकते? आप अपने ध्येय को लक्ष्य मे रखेगे तो आपकी आत्मा महान् पद को प्राप्त कर सकेगी। आप गृहस्थ हैं, अत यहा से जाते ही आपको सासारिक उपाधिया घेर लेगी। उस समय इस उपदेश को ध्यान मे रखना। ऐसा करने से इस भव मे और परभव मे आपका कल्याण होगा।

अब मूल की ओर आइए। इस गाथा मे राजा श्रेणिक का परिचय दिया गया है। श्रेणिक इस कथा के प्रधान पात्र हैं। शास्त्रो मे बिम्बिसार नाम से भी इनका उल्लेख किया गया है। श्रेणिक का नाम बिम्बिसार केसे पडा और वे कितने बुद्धिशाली थे, यह प्रकट करने के लिए एक कथा प्रसिद्ध हे। वह इस प्रकार है –

राजा श्रेणिक के पिता प्रसन्नचन्द्र के सौ पुत्र थे। इन पुत्रो मे कौन सबसे अधिक बुद्धिमान है, यह बात प्रसन्नचन्द्र जानना चाहते थे। एक दिन सब पुत्रो की परीक्षा करने के लिए प्रसन्नचन्द्र ने कृत्रिम आग का प्रयोग किया और पुत्रो से कहा – 'आग लग गई है, अत सारभूत वस्तु लेकर बाहर निकल जाओ पिता का आदेश सुनते ही जिसे जो वस्तु साररूप प्रतीत हुई, वह उसे लेकर बाहर निकलने लगा। श्रेणिक उस समय दुदुभी लेकर बाहर निकले। यह देखकर सब भाई हसने लगे और कहने लगे– यह भी कैसा विचित्र है। नगाडा लेकर निकला है। रत्नो के भरे भडार को छोड कर नगाडा किसलिए लाया है?

इसलिए सब भाई श्रेणिक का उपहास कर रहे थे, मगर नगाडा लेकर बाहर निकलने मे क्या रहस्य है? यह किसे पता था? राजा प्रसन्नचन्द्र इस मर्म को समझ गये, किन्तु उन्होने विचार किया, जो मै सबके सामने श्रेणिक की प्रशसा करूगा तो एक ओर ये सभी भाई है ओर दूसरी ओर अकेला श्रेणिक है। इनमे आपस मे कलह उत्पन्न हो जायगा। यह सोच कर उन्होने सब लडको को अपने पास बुला कर पूछा– क्या हे? लडको ने श्रेणिक को मूर्ख बतलाते हुए कहा– देखिये न, यह नगाडा उठा लाया हे। प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक से पूछा – बेटा, रत्न न लेकर तुम नगाडा क्यो लाये हो?

श्रेणिक – पिताजी, यह नगाडा और यह भभा' राज्य के चिह्न हे। ये जल कर राख हो जाए तो राज्य के चिह्न मिट जाए। राज चिन्हो द्वारा राजा को रत्न फिर मिल सकते हैं, परन्तु ये राजचिह्न नही मिल सकते। अतएव मैंने राजचिह्नो की रक्षा करना उचित समझा।

राजचिह्न के रूप मे आज नगाडे की बहुत रक्षा की जाती है। इन राजचिह्नो की रक्षा के लिए विशेष तौर पर रक्षक नियुक्त किये जाते है। राजचिह्न का चला जाना राजा की पराजय समझी जाती है।

श्रेणिक का कथन सुनकर प्रसन्नचन्द बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु विशेष परीक्षा करने के लिए श्रेणिक से कहा – यह बताओ कि राजचिह्नो द्वारा रत्न कैसे प्राप्त किये जा सकते है? इस पश्न का उत्तर देने के लिए श्रेणिक बाहर चला गया और अनेक रत्न लेकर वापिस लौटा। प्रसन्नचन्द्र श्रेणिक की बुद्धिमत्ता देखकर खूब प्रसन्न हुए और भेरी तथा भभा को बचाने के कारण उसका नाम 'भभासार' पड गया। भभासार ही 'बिम्बिसार' के रूप मे पलट गया। राजा प्रसन्नचन्द ने उसे ही राजसिहासन पर बिठलाया।

'श्रेणिक' शब्द का अर्थ भी श्रीसम्पन्न किया गया है। घर से बाहर निकाल देने पर भी वह राजकुमार की भाति ही रहा और श्रीसम्पन्न होकर श्रेष्ठ ही रहा। इसी कारण वह श्रेणिक कहलाया।

श्रेणिक ससार की सभी सम्पदाओ से सम्पन्न था, किन्तु सम्यग्ज्ञान की सम्पत्ति उसके पास नही थी। उसे धन आदि की सम्पत्ति देने वाले और धर्म की सम्पत्ति देने वाले मे से आप किसे बडा समझते हैं? एक मनुष्य आपको धन–धान्य दे और दूसरा धर्म का तत्त्व समझावे, इन दोनो मे आपकी दृष्टि मे कौन बडा है? जिन्होने आत्मा की पहचान कराई है। आत्मा और शरीर, तलवार और म्यान की तरह जुदा–जुदा हैं, ऐसी प्रतीति कराई है, वे महात्मा किसी से कम नही हैं।

अगर आप आत्मा और शरीर को तलवार और म्यान की तरह भिन्न समझते हो तो फिर क्या चाहिए? इस बात पर तुम्हारी दृढ श्रद्धा और अटल विश्वास हो तो बस, तुम्हारे हाथ मे आत्मविजय की चाबी आ गई है। परन्तु बडी कमी तो यही है कि व्यावहारिक जीवन मे यह दृढ विश्वास कायम नही रहता।

किसी वीर पुरुष के सामने शत्रु लडने के लिए आवे तो वह तलवार को सभालेगा या म्यान को? अगर वह तलवार को हाथ मे न लेकर म्यान को ले तो क्या वीर कहलायेगा? वह अपने प्राणो की रक्षा कर सकेगा ? इसी प्रकार जब तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति टूट पडे, तब तुम तलवार के समान आत्मा की तरफ न देख कर म्यान के समान शरीर को ही देखने लगो तो क्या वीर श्रावक को यह शोभा देता है?

कितनी ही विपत्तिया क्यो न आ पडे, शरीर को नश्वर समझ कर आपत्तियो को धैर्यपूर्वक सहन करना और धर्म की रक्षा करना ही सच्ची वीरता है। कामदेव श्रावक ने धर्म की रक्षा किस प्रकार की, यह बात सक्षेप मे कहता हू।

कामदेव श्रावक पौषधशाला मे धर्माराधना कर रहा था। उस समय उसके धर्म की परीक्षा करने के निमित्त एक देव पिशाच का भयकर रूप धारण करके और हाथ मे तलवार लेकर उसके पास आया और कहने लगा कामदेव तू अपना धर्म त्याग दे, अन्यथा तुझे बहुत कटुक फल चखना पडेगा। देख इस तलवार को। टुकडे–टुकडे कर दूगा। तू मेरा कहना मान जा।

इस प्रकार लाल आखे करके देव कामदेव को डराने लगा, परन्तु वह लेश मात्र भी नही डरा। शास्त्र मे तो यहा तक कहा है कि देव का कथन सुनकर कामदेव का रोम भी नही फडका। उसे तनिक भी भय न लगा, जरा भी त्रास न हुआ।

यहा विचार करना चाहिए कि कामदेव भयभीत क्यो नही हुआ? क्या शरीर उसे प्रिय नहीं था? सम्पत्ति का मोह नही था? कामदेव के पास अठारह करोड स्वर्ण–मोहरे और साठ हजार गाये थी। इतनी बडी श्रीमताई होने पर भी जब धर्म का त्याग करने के लिए पिशाच मार डालने की धमकी दे रहा था, तब धर्म की रक्षा के सामने श्रीमताई का और शरीर की रक्षा का मोह आडे न आया। धर्म के सामने सम्पत्ति और शरीर उसके लिए तुच्छ थे।

कामदेव भगवान् का भक्त और सच्चा श्रावक था। उसे विदित था कि पिशाच धर्म का परित्याग कराने आया है, अतएव धर्म–परीक्षा के समय जरा भी न घबराता हुआ और धैर्य धारण करता हुआ, उस परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहा था – हे प्रभो! अगर मैने धर्म और आत्मा को पहचाना न होता और तेरी शरण मे न आया होता तो यह धर्म–परीक्षा कौन लेता? मेरे लिए तो आनन्द की बात है कि मुझे धर्म ओर आत्मा पर दृढ विश्वास है या नहीं? इस बात की परीक्षा करने के लिए मेरा यह मित्र आया है। मेरी यह प्रार्थना है कि मुझ मे इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होने की शक्ति आ जाय।

परीक्षा उन्हीं की ली जाती है जो शाला मे पढने जाते हैं। जो शाला मे अभ्यास ही नहीं करता, उसकी परीक्षा कोन लेता हे? कामदेव धर्म की पाठशाला मे, पोषधशाला मे धर्म का पाठ सीखता था और इसी कारण पिशाच परीक्षक बनकर परीक्षा लेने आया था। परीक्षक की हेसियत से पिशाच ने

कामदेव की कठोर परीक्षा ली कि अगर कामदेव उसके लिए पहले से तैयार न होता तो उसमे उत्तीर्ण होना सरल नही था। पिशाच ने कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए अनेक भयकर रूप धारण किये, परन्तु वह तनिक भी विचलित न हुआ। तब पिशाच अपनी तलवार सभाल कर शरीर के टुकडे–टुकडे कर डालने को तैयार हो गया, फिर भी कामदेव जरा भी नही डिगा।

आज तो तुम कल्पित भूत–प्रेत के भय से भी डरते हो, पर कामदेव साक्षात् भयकर पिशाच से भी नही डरा। तुम कहोगे– हम गृहस्थ हैं, अत भूत–प्रेत से डरना पडता है परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ न था? वह डरता नही था फिर तुम क्यो डरते हो? ऐसा कहो न कि हम कायर हैं और हमे इस बात पर विश्वास नही है कि शरीर और आत्मा म्यान तथा तलवार की तरह जुदा–जुदा है।

पिशाच कामदेव के टुकडे–टुकडे कर डालने की बात कहने लगा तो कामदेव ने क्या विचार किया? वह विचार करने लगा– यह पिशाच मेरे टुकडे–टुकडे करने को कहता है, परन्तु अनन्त इन्द्र भी मेरे टुकडे नही कर सकते। इस बेचारे की क्या चल सकती है? मै आत्मतत्त्व को समझता हू अतएव मुझे विश्वास है कि टुकडे होगे तो शरीर के होगे, इससे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं हो सकती। शरीर तो पहले से ही टुकडा–टुकडा है। इससे मेरा क्या बनता–बिगडता है? मुझे डरने का कोई कारण नही है, क्योकि आत्मा के टुकडे नही हो सकते।

मै पहले साधुओ और साध्वियो से कहना चाहता हू कि अगर श्रावको और श्राविकाओ मे भूत आदि का भय रहा तो यह आपकी दुर्बलता गिनी जाएगी। विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं तो शिक्षक को भी लज्जित होना पडता है। इसी प्रकार श्रावक–श्राविकाओ मे भूत आदि का भय रहेगा तो यह अपने लिए लज्जाजनक होगा। भगवान् का धर्म न मिला हो और आत्मा को न पहचाना हो तो भले भय का अनुभव हो, किन्तु भगवान् का धर्म पा लेने पर भी भय होना कैसे ठीक कहा जा सकता है?

हा, कामदेव ने हसते–हसते पिशाच से कहा – शरीर के टुकडे करने हो तो करो, आत्मा के टुकडे तो हो ही नही सकते।

कामदेव तनिक भी भयग्रस्त नही हुआ। इसका एक कारण जो मुझे प्रतीत होता है वह यह कि कामदेव सोचता है – मैने इसे कोई हानि नही पहुचाई, फिर भी यह टुकडा–टुकडा करने को क्यो कहता है? यही कारण जान पडता है कि इसने धर्म को नही पहचाना है। इसने धर्म नही पाया, पर

मैंने तो पाया है। मैं भी इसकी परीक्षा करके देखू कि यह कितने पानी मे है? इसका अधर्म निष्कारण ही मुझे वैर का भाजन बना रहा है, परन्तु मेरा धर्म मुझे वैरी पर भी क्रोध न करने का आदेश देता है। यह मुझे धर्म त्यागने को कहता है। इसका अर्थ यह है कि मैं अपना धर्म छोड कर इसके समान पिशाच बन जाऊ।

दो प्रकार की प्रकृतिया होती है – दैवी और आसुरी। यहा दोनो प्रकृतियो का द्वन्द्व चल रहा है। कामदेव दैवी प्रकृति वाला और पिशाच आसुरी प्रकृति वाला है। इन दोनो प्रकृतियो का स्वरूप बहुत विस्तृत है, किन्तु गीता मे सक्षेप मे इस प्रकार बतलाया है –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोध पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ! सम्पदमासुरीम्।।

दभ, दर्प, अभिमान, कठोरता, निर्दयता और अज्ञान, ये आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। जिनमे यह आसुरी प्रकृति होती है, वे असुर कहलाते हैं। दैवी प्रकृति के विषय मे कहा गया है –

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोगे व्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग- शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्व लोलुप्तं, मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेज क्षमा घृति शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

– भगवद्गीता

निर्भयता, सत्त्व सशुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिसा, सत्य, क्षमा, त्याग, शाति, दया, अलोलुपता, मृदुता, तेजस्विता, धैर्य आदि दैवी प्रकृति के लक्षण हैं।

दैवी प्रकृति का पहला लक्षण निर्भयता है। अपने पास वस्तु हो तभी दूसरो को दी जा सकती है। इसी प्रकार जो स्वय अभय है वही दूसरो को अभय बना सकता है। जो स्वय भय से कापता होगा, वह दूसरो को निर्भय केसे बनाएगा? भयभीत मनुष्य दूसरो को अभयदान देने मे समर्थ नही है। जो शरीर और आत्मा को म्यान और तलवार के समान समझता है और जिसने इस समझ को जीवन मे स्थान दिया है, वही अभयदान दे सकता है। कामदेव निर्भय था। आत्मा के सिद्धान्त पर उसका अटल विश्वास था। वह अपने धर्म पर दृढ था।

कामदेव की धर्म पर ऐसी दृढ आस्था थी, परन्तु आज आप धर्म पर दृढ नही है और इसी कारण कोई किसी देवता को पूजता फिरता है और कोई किसी को। स्त्रियो मे तो यह बात विशेष रूप से देखी जाती है। हम लोग ढोग करने लगे तो हमारे पास भी लोगो की भीड लग जाय, परन्तु ऐसा करना साधु का धर्म नही है। हम तो भगवान् महावीर का धर्म सुनाते हैं। जिसे पसद हो सुने, न पसद हो तो न सुने। धर्म पर दृढता होगी तो सभी जगह दृढता होगी। अतएव कामदेव की तरह तुम भी आत्मा पर विश्वास रखकर दृढता धारण करो।

कामदेव की दृढता देखकर पिशाच विचारने लगा – 'तेरे टुकडे–टुकडे कर दूगा' इतना कहने मात्र से ही इसकी परीक्षा नही होगी। केवल शब्दो से यह नही होगा, 'यह सोचकर वह कामदेव के शरीर के टुकडे करने लगा। फिर भी कामदेव प्रसन्न ही बना रहा। कामदेव सोचता था पिशाच के प्रहारो से मुझे वेदना नही हो रही है, बल्कि मेरे जन्म–जन्मान्तर की वेदना नष्ट हो रही है।

ऑपरेशन करते समय दु ख होता है या नही? पर जिनका कलेजा मजबूत होता है, वे उस समय भी प्रसन्न ही रहते है। जलगॉव मे डाक्टर ने मेरे हाथ का ऑपरेशन करने के लिए कहा, तब मैने अपना हाथ उसके सामने फैला दिया। डाक्टर ने कहा – तकलीफ होगी, क्लोरोफॉर्म सुघाना पडेगा। मैंने कहा– इसकी आवश्यकता नही। बिना ही क्लोरोफार्म सुघाये मेरा ऑपरेशन किया गया, किन्तु मुझे वेदना का अनुभव न हुआ। सुना है, फ्रास मे एक मनुष्य ने यह अनुभव करना चाहा कि शरीर की नसे काटने मे कैसी वेदना होती है? यह अनुभव करने के लिये वह अपनी नसे काटने लगा। यद्यपि नसे काटने से वह मर गया किन्तु अन्तिम समय तक वह हसता ही रहा।

कामदेव भी शरीर के टुकडे–टुकडे हो जाने तक हसता ही रहा। अन्त मे पिशाच थक गया, हार गया और उसे प्रतीति हो गई कि कामदेव अपने धर्म पर दृढ है, इसे आत्मा की शक्ति पर अटल विश्वास है, अतएव यह डिगाये डिग नही सकता। आखिर हार मानकर उसने अपना पिशाच रूप छोडकर देवरूप प्रकट किया। इस प्रकार कामदेव ने आसुरी प्रकृति को दैवी प्रकति के रूप मे परिणत कर दिया।

देव कामदेव से कहने लगा – 'इन्द्र महाराज का कथन सत्य सिद्ध हुआ। वास्तव मे आपकी धर्म–दृढता अडिग है। आप धर्म की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए हैं। मैं आपके शरीर के टुकडे करने चला, पर आपकी अविचल प्रतीति एव जिन–वचनो की आस्था ने मेरे जीवन मे परिवर्तन ला दिया, मुझे अपने कृत्य

पर पश्चात्ताप है। इससे मुझे विश्वास हो रहा है कि– मेरे पाप के टुकडे–टुकडे हो गए। लोहे की छुरी पारस को काटने चलती है तो स्वय सोने की बन जाती है। मैं आपकी परीक्षा करने चला तो मेरी ही परीक्षा हो गई। आपके चरणस्पर्श से मेरे पाप धुल गए। अब तक मैने बहुत पाप किये है, पर अव नही करूगा।

इस प्रकार कामदेव ने देव को भी सुधार दिया।

भगवान् महावीर देवाधिदेव हैं। अनन्त इन्द्र भी उनके रोम को चलायमान नही कर सके। आप ऐसे महावीर भगवान् के शिष्य हैं। आपको भी थोडी– बहुत धर्म–दृढता तो रखनी ही चाहिए। जो पानी सागर मे होता है, वही पानी थोडे परिमाण मे गागर मे भी आता है। इसी प्रकार भगवान् के अनन्त गुणो का कुछ अश आप अपने जीवन मे उतारेगे तो आपको जरा भी भय नही रह पायेगा।

राजा श्रेणिक बहुरत्नो का स्वामी था, परन्तु धर्मरूपी रत्न की उसके पास कमी थी, वह जलतारिणी, विषहारिणी और उपद्रव आदि को शान्त करने की विद्याए भी जानता था। इस प्रकार वह अनेक विद्या–रत्नो का नाथ होने पर भी धर्म–रत्न के अभाव मे अनाथ था।

आज जिनके पास खाने–पीने को न हो, जिनके घर–द्वार न हो और जिनका कोई रक्षक न हो, उन्हे अनाथ कहा जाता है, परन्तु महानिर्ग्रथ किसे नाथ और किसे अनाथ कहते हैं? इस सबध मे आगे कहा जायगा।

इस गाथा मे मण्डिकुक्ष बाग न कहकर मण्डिकुक्ष चैत्य कहा गया है। यहा देखना है कि चैत्य शब्द का अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध मे टीकाकार कहते हैं –

चैत्य इति उद्यानम्।

अर्थात् चैत्य का अर्थ बाग है। श्रेणिक चैत्य मे अर्थात् बाग मे गया। चैत्य शब्द चिय चयने तथा चिती सज्ञा के धातुओ से बना हे। जहा प्रकृति का बहुत उपचय हो, जहा प्रभूत प्राकृतिक सोन्दर्य हो, उसे चैत्य कहते है। अथवा ज्ञान को भी चेत्य कहते हे। मन को प्रसन्न करने का जो कारण हो वह भी चैत्य कहलाता हे।

यह बात में अपनी ओर से नही कहता, किन्तु पूर्वाचार्यो ने भी ऐसा ही कहा है। राजप्रश्नीय सूत्र मे वर्णन हे कि सूर्याभ देव ने भगवान् को 'देवय चेइय' कहकर वदना की। भगवान् को चेत्य क्यो कहा? इस सम्बन्ध मे टीकाकार मलयगिरि कहते हें –

सुप्रसन्नमन–हेतुत्वादिति चैत्यम्।

अर्थात् मन को प्रसन्न करने के कारण को चैत्य कहते है। किसी के लिए ससार का व्यवहार मन को प्रसन्न करने का कारण होता है तो किसी के लिए भगवान् मन को प्रसन्न करने के कारण होते हैं। सूर्याभदेव को देवलोक के सुख मन प्रसन्नता के कारण प्रतीत न हुए, वरन् भगवान् ही हुए। अतएव भगवान् को 'चेइय' कहकर उसने वदना की।

चैत्य शब्द रूढ नही किन्तु व्युत्पन्न प्रतिपदिक है। अतएव उसके अनेक अर्थ होते है। चैत्य शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति से मूर्ति नही होता। मूर्ति के लिए 'पडिमा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पडिमा और चैत्य शब्दो के अर्थ अलग–अलग हैं और दोनो शब्द भी अलग–अलग हैं। चैत्य शब्द जहा आया है, बाग, ज्ञान या साधु के अर्थ मे आया है।

कहा जा सकता है कि चैत्य शब्द का अर्थ बाग है, इस विषय मे क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि शान्त्याचार्यकृत टीका मे 'चैत्य इति उद्यानम्' ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् श्रेणिक राजा बाग मे गया, ऐसा उल्लेख मिलता है।

नाणादुमालयाइण्णं नाणा पक्खि निसेवियं।
नाणा कुसुम संछन्न, उज्जाणं णन्दणोवमं।।3।।

अर्थ–भाति–भाति के वृक्षो और लताओ से युक्त, तरह–तरह के पक्षियो द्वारा सेवित और अनेक प्रकार के कुसुमो से व्याप्त नन्दनवन के समान उद्यान था।

व्याख्यान मे पहले कहा जा चुका है कि राजा श्रेणिक के पास सब प्रकार के रत्न थे, परन्तु सम्यक्त्व–रत्न नही था। उसे तत्त्व का ज्ञान नही था। वह उसकी खोज मे था।

क्या आप पैसे की अपेक्षा सम्यक्त्व रूपी रत्न को बडा मानते हैं? आपका एक पैसा खो जाय तो उसकी चिन्ता करते हो, परन्तु सम्यक्त्व–रत्न की उतनी चिन्ता नही करते। आप जानते हैं कि पीर, पेगम्बर, भूत, भवानी के पास जाकर मत्था टेकने से समकित रत्न दूषित होगा, फिर भी स्त्री–पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए 'हम तो गृहस्थ हैं', ऐसा बहाना करके वहा जाते हो या नही? गृहस्थ होने का बहाना करके आप बचना चाहते है, परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ नही था? पर उसके बराबर आपको समकित–रत्न की कहा परवाह है? पैसे की सुरक्षा के लिए जितनी सावधानी रखी जाती हे, उतनी सम्यक्त्व–रत्न की रक्षा के लिए नही। कोई रत्न देकर कोडी खरीदे तो वह मूर्ख गिना जाता हे। यही बात समकित–रत्न के विषय मे समझनी चाहिए।

स्वार्थपूर्ति के लिए सम्यक्त्व मे दूषण लगाना उचित नही। सम्यक्त्व मे दृढता होगी तो सभी कामो में दृढता होगी। कामदेव के शरीर के टुकडे कर दिये गये, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए उसने शरीर की परवाह नहीं की। कामदेव की इस धर्म–दृढता के कारण भगवान् ने उसे उदाहरण के रूप मे लेकर साधुओ से भी यही कहा – जब कामदेव श्रावक इस तरह धर्म मे दृढ रहा, तो तुमको किस प्रकार दृढ रहना चाहिए, इस बात का विचार करो।

राजा श्रेणिक को अन्त मे महानिर्ग्रंथ के पास से समकित रत्न की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए व्रत–प्रत्याख्यान न करने पर भी वह भविष्य मे पद्मनाभ तीर्थंकर होगा। यद्यपि वह चाहता था कि मैं धर्मक्रिया करू, किन्तु वह नही कर सका।

आप जो धर्मक्रिया करते हैं, वह यदि दृढ श्रद्धा रख कर, तत्त्व की जिज्ञासापूर्वक की जाय तो अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो। अगर श्रद्धापूर्वक धर्मक्रिया नही की जाती हो तो वह अक के अभाव मे शून्यो की तरह निरर्थक सिद्ध होती है। अतएव कषायो को पतला करके अन्तरात्मा मे जागृति उत्पन्न करो।

यद्यपि श्रेणिक धर्मक्रिया न कर सका, फिर भी वह धर्मतत्त्व का जिज्ञासु था। उसकी रानी चेलना चेटक राजा की पुत्री थी। चेटक राजा के सात लडकिया थीं और सब सतिया थीं। चेलना की रग–रग मे धर्म का प्रवाह बहता था। राजा श्रेणिक को धर्म मे दृढ करने के लिए चेलना प्रयत्न कर रही थी। 'मेरे पति सम्यग्दृष्टि और धर्मात्मा बने और मैं एक धर्मात्मा राजा की पत्नी कहलाऊ, ऐसी उन्नत भावना वह भाती रहती थी, जबकि श्रेणिक चाहता था कि मेरी यह रानी धर्म का ढोग छोड कर मेरे साथ मौज–मजा करे।

इस प्रकार दोनो एक–दूसरे पर अपनी इच्छानुसार असर डालने के लिए प्रयत्नशील थे। रानी चेलना की धर्म–भावना कैसी है, श्रेणिक इसकी मीठी परीक्षा किया करता था, परन्तु चेलना अपनी धर्म–भावना का परिचय देकर उस के चित्त पर धर्म का प्रभाव अकित करने का प्रयास करती रहती थी। दूसरो पर धर्म का प्रभाव डालने के लिए नम्रता और सरलता की बहुत आवश्यकता होती है। बलात्कार से धर्म का प्रभाव नही डाला जा सकता। अपना निज का जीवन ही ऐसा बनाना पडता हे कि जिससे दूसरो पर धार्मिकता का प्रभाव पडे।

धर्म की परीक्षा करते–करते एक दिन राजा श्रेणिक हठ पकड गया। एक बार उसने एक महात्मा को अपने महल के पास से जाते देखा तो चेलना

को बुलाकर कहा – देखो, तुम्हारे यह गुरु नीची निगाह करके चले जा रहे है। इन्हे कोई मारे तो भी कुछ नही कर सकते। यद्यपि मेरे राज्य मे यह नियम है कि कोई किसी को कष्ट न दे, पर इन्हे कोई मार–पीट दे तो ये उसका सामना नही करेगे और न फरियाद करेगे। ऐसी कायरता है इनमे! ऐसे कायर गुरु की चेली मे भी कायरता ही आएगी। हम लोग वीर हैं। हमारे गुरु भी वीर होने चाहिए। ढाल–तलवार बाधकर और घोडे पर सवार होकर फिरने वाले होने चाहिए।

रानी चेलना अपने गुरु का यह अपमान सहन न कर सकी। उसने कहा – महाराज, मेरे गुरु ऐसे कायर नही जैसा आप कहते हैं। मैं कायर गुरु की शिष्या नही हू। मेरे गुरु की वीरता के सामने आप सरीखे सौ वीर भी नही टिक सकते। आपके बडे–बडे सेनापति भी काम से पराजित हैं, पर मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। दस लाख सुभटो पर भी विजय प्राप्त करने वाले सेनापति को पराजित करने वाले काम को जीत लेना कोई साधारण वीरता है? मेरे गुरु काम–विजयी हैं। काम को जीत लेना बडी से बडी वीरता है। फिर आप उन्हे कायर क्यो कहते है?

चेलना के मुख से गुरु का माहात्म्य सुनकर राजा श्रेणिक ने विचार किया – यह ऐसे नही मानेगी। किसी वेश्या को साधु के पास भेजू और साधु को भ्रष्ट करू तभी यह मानेगी। यह सोचकर श्रेणिक ने कहा– ठीक है, देखा जायेगा।

चेलना, राजा का अभिप्राय समझ गई। वह जान गई कि महाराज मेरे गुरु की परीक्षा लेगे। किन्तु उसे विश्वास था कि परीक्षा का परिणाम अच्छा ही आएगा। अतएव धैर्य धारण करके वह परमात्मा–प्रार्थना करने लगी – 'प्रभो! मेरी और मेरे गुरु की लाज रखना तेरे हाथ है। मैं तेरे शरण मे आई हू। शरणागत की रक्षा करना।' इस प्रकार प्रार्थना करके वह धर्मध्यान करने बैठ गई।

राजा ने एक वेश्या को बुलाकर कहा – तू उस साधु के स्थान पर जाकर और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहा आना। यह काम करेगी तो मुहमागा इनाम दूगा।

वेश्या तो मुफ्त मे भी राजा का काम करने को तैयार थी। जिस पर उसे राजा की ओर से इनाम मिलने की आशा हुई। उसने तत्काल हा भरी। वह श्रृगार करके और दूसरी कामोत्तेजक सामग्री लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने देखते ही उससे कहा– 'खबरदार, रात्रि के समय हमारे स्थान

पर स्त्रिया नही आ सकती। यह कोई गृहस्थ का मकान नही है। यहा साधु रहते हैं।'

वेश्या बोली – महाराज, आपकी बात ठीक है। पर आपका कहना तो वही मान सकती है जो आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हो। मैं दूसरे अभिप्राय से यहा आई हू। मैं आपको कोई कष्ट देने नहीं आई, आपका मनोरजन करने और आपको आनन्द देने आई हू।

यह कहकर वेश्या साधु के स्थान मे घुस गई। साधु समझ गए कि यह मुझे भ्रष्ट करने आई है। यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्यव्रत पर दृढ हू, परन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत को भग करके आई हू, तब मेरा कहना कौन मानेगा?

चेलना ने पहले ही यह मालूम कर लिया था कि यह साधु लब्धिधारी है, अतएव किसी प्रकार की बाधा नही आएगी।

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया। वेश्या घबराई और महात्मा से कहने लगी – महाराज, क्षमा कीजिये, मेरे प्राण बचने दीजिये। मुझे राजा श्रेणिक ने भेजा है। उन्ही के कहने से मैं आई हू। मैं अभी यहा से भाग जाती, पर क्या करू? बाहर ताला बन्द है। आप मुझ पर दया कीजिए।

महात्मा ने अपना वेश बदल लिया। शास्त्र मे कारणवशात्– वेश परिवर्तन करने के लिये कहा है। यह अपवाद विधि हैं। चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है, परन्तु अवसर आ जाय तो वेश बदल लेने का अपवाद सेवन करना पडता है।

इधर यह घटना घट रही थी और उधर राजा रानी से कह रहा था तुम अपने गुरु की इतनी प्रशसा कर रही थी, अब उनका हाल देखो। वह तो एक वेश्या को अपने पास रखे बैठे हैं। चेलना ने आश्चर्य के साथ कहा– – यह बात है? परन्तु जब तक मैं अपनी आखो से न देख लू तब तक में इस बात को नहीं मान सकती। अगर आपका कथन सत्य हुआ तो मे उन्हे गुरु नही मानूगी। मैं तो सत्य की उपासिका हू। आप जो कहते हे, उसे प्रत्यक्ष दिखलाइए।

राजा – मैं स्वय देख चुका हू। अब क्यो बात को बढाती हो ?

रानी – जब तक में अपनी आखो से न देख लू, तब तक इस विषय मे आपका कथन सत्य नही मान सकती। में स्वय देख लूगी तो उसी घडी उन्हे साधु रूप मे मानना छोड दूगी।

आखिर राजा चेलना को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया, दरवाजा खोला। दरवाजा खुलते ही जैसे पिजरे मे से पक्षी बाहर भागता है, उसी पकार वेश्या बाहर आई और राजा से कहने लगी – आप मुझे दूसरा कोई भी काम सौंप दीजिये, मगर साधु के पास जाने को न कहिये इन महात्मा के तपस्तेज से मैं आज मर गई होती, परन्तु इन्ही की दया से जिदी रह गई।

वेश्या की भय से कापती आवाज सुनकर रानी ने राजा से कहा – महाराज, यह वेश्या क्या कह रही है? इसके कहने से तो जान पडता है कि आपने ही इसे यहा भेजा था। भले ही आपने भेजा हो, परतु मैं तो पहले ही कह चुकी हू कि मेरे गुरु को इन्दाणी भी नही डिगा सकती। मगर यह क्या कह रही है, इस पर विचार कीजिये।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया। वह बोला – वेश्या की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नही। छोडो इस बात को।

रानी ने कहा – ठीक है। यह वेश्या आत्मा के सबध से मेरी बहिन के समान है। फिर भी मैं इसकी बात को छोडती हू। आप भी इसे छोड दे। पर आइये, उन महात्मा के पास तो चले।

दोनो महात्मा के पास गये। देखा, महात्मा दूसरे ही वेश मे है। यह देख कर रानी ने राजा से कहा – देखिये, ये मेरे गुरु ही नही हैं। मै तो उसी को गुरु मानती हू जो द्रव्य और भाव, दोनो से मुक्त हो। इन महात्मा का वेश मेरे गुरु का वेश नही है। यह रजोहरण, मुहपत्ती आदि से सुविहित वेश नही है। ऐसी स्थिति मे ये मेरे गुरु कैसे हो सकते हैं?

राजा फिर लज्जित होकर विचार करने लगा – रानी ठीक कह रही है। मुझे धर्म का तत्त्व समझना चाहिये। राजा श्रेणिक के अन्त करण मे तत्त्व को जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई।

आशय यह है कि धर्म के द्वारा ही धर्म की पहचान होती है। धर्म का सम्बन्ध सघ के साथ भी है, क्योकि सघ के सहकार से ही धर्मतत्त्व को जाना जा सकता है। सघ मे श्रमण का भी समावेश होता है। भगवन् ने कहा है –

चत्तारि समणसघ पण्णत्ते, तजहा
समणए, समणीए, सावयए, सावियाए।

– स्थानागसूत्र

सघ मे श्रमण का पहला स्थान है। इसी कारण सघ को श्रमणसघ भी कहते हैं। सघ के सहकार से धर्मतत्त्व को समझा जा सकता है, अतएव

सघ का सहकार साधकर श्रद्धापूर्वक धर्म–क्रिया करो। ऐसा करने से तुम्हारे कल्याण के साथ औरो का भी कल्याण होगा।

राजा श्रेणिक एक महान् राजा था। अतएव अन्य राजाओ की अपेक्षा उसके महल अधिक विशाल और सुन्दर होगे। परन्तु वह रात–दिन महलो मे ही बन्द न रह कर जगल की हवा खाने के लिये बाहर भी निकला करता था।

जगल की स्वच्छ हवा के बिना जीवन स्वस्थ नही रह सकता, ऐसा वह समझता था और इसी विचार से हवाखोरी के लिये बाहर जाता था। शास्त्र मे वायु–सेवन (सैर) के लिये 'विहार–यात्रा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शास्त्रीय शब्द का भाव समझने योग्य है।

जिसकी यात्रा की जाती है, वह उसकी रक्षा के लिये की जाती है। जैसे शरीरयात्रा, धर्मयात्रा, धनयात्रा आदि। जैसी यात्रा होती है, वैसा ही उसका लाभ भी देखा जाता है। धर्म की यात्रा मे धर्म की रक्षा और धन की यात्रा मे धन की रक्षा की जाती है। इसी प्रकार शरीरयात्रा का अर्थ शरीर की रक्षा करना है।

आज शरीरयात्रा के नाम पर ऐसे काम किये जाते हैं कि जिनसे शरीर बिगडता है। आप लोग बाहर की यात्रा करने निकलते हैं, किन्तु आपकी वह यात्रा कैसी बेकार होती है, इस बात का जरा विचार करो। आज शायद ही कोई मकान बिना पाखाने का होगा। पहले के मकान कितने ही बडे क्यो न हो, उनमे पाखाना नही होता था, पर आज तो छोटे से छोटे मकान मे भी पाखाना होना आवश्यक माना जाता है। इन पाखानो के कारण मकानो मे कितनी दुर्गन्ध भरी रहती है। यहा अशक्ति के कारण मैं गोचरी के लिये नही निकलता, परन्तु दिल्ली मे गोचरी के लिये जाता था। तब कोई बिरला ही घर होगा, जिसमे प्रवेश करते पाखाने का दर्शन न हो। मुम्बई और कोलकात्ता की इन पाखानो के कारण कैसी खराब स्थिति होगी, यह कल्पना की जा सकती है। कोलकाता की स्थिति के सम्बन्ध मे एक मारवाडी भाई ने गीत सुनाया था –

कलकत्ता नही जाना, यारो कलकत्ता नही जाना।
जहर खाय मर जाना, यारो कलकत्ता नही जाना।।
कल का आटा, नल का पानी, चर्बी का घी खाना।।यारो।।

मतलब यह है कि किसी भी प्रकार कोलकाता नही जाना चाहिये। अगर आजीविका न मिलती हो तो जहर खाकर मर जाना, पर कोलकाता तो नही जाना, क्योकि वहा चक्की का आटा, नल का पानी और चर्बी का घी मिलता है।

आजकल तो वनस्पति–घी शुरू हुआ है। गाय रखने मे तो कितने ही लोग पाप मानते हैं, परन्तु वनस्पति–घृत खाने मे उन्हे पाप नही लगता। इस प्रकार ऐसा जान पडता है, जैसे आज के लोग जीवनयात्रा को भूल गये हैं और जीवन को नष्ट करने वाले खान–पान का सेवन करते हैं।

श्रेणिक राजा भले अन्य कार्य भूल गया हो, पर विहारयात्रा करने का काम नही भूला था। वह चाहे शरीर रक्षा के लिए निकला हो या वायुसेवन के लिए, लेकिन शास्त्र मे कहा है कि वह विहारयात्रा के लिए बाहर निकला था।

आज कई लोग कहते हैं,– शास्त्र सुन कर क्या करे? शास्त्रो मे तपस्या करने का कहा है। उन्हे सुनकर क्या भूखे मरें? ऐसा कहने वाले शास्त्र का अर्थ न समझने के कारण शास्त्र की अवज्ञा करते हैं। शास्त्र मे कैसे–कैसे गभीर तत्त्वो का निरुपण किया गया है, यह बात तो तभी जानी जा सकती है, जब किसी शास्त्राभ्यासी के मुख से उन्हे सुना जाय। बाकी अभ्यास किये बिना ही शास्त्र की अवज्ञा करना महापाप है। शास्त्र का मुख्य ध्येय तो मोक्ष है, परतु मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन साधनो एव तत्त्वो की आवश्यकता है, उन्हे भी शास्त्रकार भूले नही हैं।

ग्राम या नगर कैसा ही क्यो न हो, गाव के बाहर जाने से अवश्य ही वायु–परिवर्तन हो जाता है। श्रेणिक यह बात जानता था। शास्त्र मे हवा के सात लाख भेद बतलाये गये हैं। हवा के प्रत्येक भेद के साथ प्रकृति का जुदा–जुदा सबध बतलाया गया है। समुद्र की हवा जुदा होती है, द्वीप की हवा अलग प्रकार की होती है। इसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि प्रत्येक दिशा की भी हवा अलग तरह की होती है। हवा के सबध की बारीकियो को जानने वाला वैज्ञानिक हवा को जान कर यह भी बतला सकेगा कि इस प्रकार की हवा चली है तो ऐसा होगा। इस प्रकार शास्त्र मे हवा के भेदो का वर्णन है।

हा, तो राजा श्रेणिक विहारयात्रा के लिये बाहर निकल मडिकुक्ष बाग मे आया। वह बाग शास्त्र के कथनानुसार नन्दनवन के समान था।

प्रकृति के नियमो का पालन और रक्षण करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही आगे जाकर उन्नति हो सकती है। श्रेणिक स्वय 72 कलाओ का ज्ञाता था और उसके पास शरीरशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि के विशेषज्ञ पण्डित रहते थे। फिर भी राजा शरीररक्षा के लिए मडिकुक्ष बाग मे घूमने जाता था।

जहा अनेक प्रकार के वृक्ष और लताए होती हैं, वह बाग कहलाता है। वृक्ष और लता मे यह अन्तर होता है कि वृक्ष किसी की सहायता लिये बिना अपने–आप बढता जाता है और फल–फूल प्रदान करता है, पर लताए दूसरे की सहायता लिये बिना सीधी या ऊँची नही होती, मगर तिरछी फैलती जाती हैं और फलफूल प्रदान करती हैं।

शास्त्र मे कहा है कि मडिकुक्ष बाग मे अनेक वृक्ष थे और अनेक लताए थीं। प्रश्न किया जा सकता है कि मोक्ष का वर्णन करने वाले शास्त्र मे बाग का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप जीवन का हेतु भूल गये हैं, पर शास्त्रकार जीवन के अगो को नहीं भूले। साधु होकर भी कोई वन और वृक्ष को नहीं भूल सकता। बौद्ध साहित्य मे देखा गया है कि जब बुद्ध गया के जगल मे गये तब उन्होने कहा – 'हम जैसे योगियो के भाग्य से ही जगल सुरक्षित है – नष्ट नहीं कर दिया गया है। जगल न होता तो आत्मसाधना के लिये योगियो को बडी कठिनाई होती।' इस प्रकार योगी जन जगल के महत्त्व को समझते हैं। बडे–बडे सिह भी बडे जगल मे ही बसते हैं। जगल या वृक्षो से सिह की उत्पत्ति नही होती, परन्तु उसका रक्षण वही होता है। जहा केवल रेत के टीले होते हैं, वहा सिह भी दिखाई नही देते।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन के लिए जो वस्तुए आवश्यक हैं, उन्हे न बतला कर केवल मोक्ष की बाते करना आकाश के फूल बताने के समान है। किसी वृक्ष को बतलाना हो तो उसके मूल को भी बतलाना चाहिए। जीवन के लिए वृक्षो की बहुत बडी आवश्यकता है।

कुछ लोगो का खयाल है कि जीवन मे मित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किंतु वृक्षो की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का वैज्ञानिक यह उत्तर देते हैं कि जीवन मे मित्रो या बन्धु–बाधवो की अपेक्षा वृक्षो की विशेष आवश्यकता है, क्योकि वृक्षो की सहायता पर ही जीवन टिक सकता हे। वृक्षो की सहायता से ही जीवन केस टिकता है? इस सबध मे उनका कथन हे कि मनुष्य जो हवा छोडता है, वह जहरीली कार्बन गेस हे। अगर मनुष्य यह जहरीली हवा न छोडे और दूसरी हवा ग्रहण न करे तो वह जीवित नही रह सकता। मनुष्य जो जहरीली हवा छोडता हे, उसे वृक्ष खींच लेते हैं और उसके बदले मे आक्सीजन हवा देते हैं, जिसकी बदोलत मनुष्य जीवित रह सकता है। प्रकृति की रचना ही कुछ निराली हे कि मनुष्य जो जहरीली हवा छोडता है, वही वृक्षो के लिए अमृत के समान सिद्ध होती हे। इसी दृष्टि से, वृक्ष यदि

यक्त विषैली वायु को पचाकर आक्सीजन हवा न छोडे तो मनुष्य जीवित रह सकता है?

प्रकार वृक्ष मनुष्य के लिए अतीव जीवनोपयोगी है, फिर भी लोग जीवन मे वृक्षो की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे लोगो को विचार कि वृक्ष न होते तो उनकी जीवन–रक्षा के लिए जीवन–वायु की रता?

मानव–जीवन की रक्षा करते हैं, फिर भी आजकल उन पर दया, जाती। प्राचीन काल के लोग वृक्षो की आत्मीय जन की भाति । किसी वृक्ष को काट दिया जाता तो उन्हे बहुत दु ख होता था। के लोगो ने वृक्षो की दया त्याग दी है और फिर कहते है – हम ो है।

जहर पीकर अमृत प्रदान करते हैं, उन वृक्षो पर दया न करना । महाभारत मे वृक्ष को अजातशत्रु कहा गया है। अजातशत्रु का सका कोई शत्रु न हो। जो पत्थर मारता है या कुल्हाडी मार कर ै, उसे भी वृक्ष बदले मे अपने मधुर फल प्रदान करता है या अपना र्पित कर देता है। ऐसे जीवनोपयोगी वृक्ष की जीवन मे कितनी है!

ल्ली के लोग कहते थे कि पुरानी दिल्ली मे बहुत वृक्ष थे, किन्तु र्डिंग पर बम फेका गया और बम फेकने वाला पकडा न जा सका, के सभी वृक्ष कटवा डाले गये। सोचने की बात यहा यह है – बम ा और दड मिला किसको?

ज जगल को काट कर वीरान बना दिया जाता है, परन्तु इसके वर्षा कम होती जाती है, यह किसे मालूम है? जब बडे–बडे जगल थे, तब केसरीसिह के समान माहत्मा लोग भी वहा निवास करते म साधुओ को भी अब तो नगर की शरण लेनी पडती है।

जा श्रेणिक बाग को अपनी सब सम्पत्तियो मे बडी सम्पत्ति मानता ी कारण वह बगीचो को नवपल्लवित रखता था।

स्त्र मे बाग का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि उस बाग कार के पक्षी रहते थे। वह बाग भाति–भाति के पक्षियो से सेवित थन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल मे आजकल की तरह हत्या नही की जाती थी। आज तो अपनी विलासवृत्ति को रने के लिए, पखो के लिए भी पक्षियो की हत्या की जाती है। मैंने

एक लेख मे पढा था कि यूरोप और अमेरिका मे लोगो की शिकारप्रियता की बदौलत पक्षियो की अनेक जातिया ही नष्ट हो गई हैं। इस प्रकार आधुनिक सुधार और फैशन ने वैर ही उत्पन्न किया है।

पक्षियो की रक्षा के लिए आप क्या ऐसी प्रतिज्ञा कर सकते हैं? कि जिन वस्तुओ मे पक्षियो के पखो का उपयोग किया गया होगा उन वस्तुओ को अपनी मौज–शौक के लिए काम मे न लेगे? कदाचित् आप ऐसी वस्तुओ का उपयोग न करते हो, फिर भी त्याग करना उन जीवो को अभयदान देने के समान है। आज मौज–शौक के लिए कितने जीवो की हत्या की जा रही है? यह बात लोग नही समझते। अनेक बुद्धिमान् लोगो ने घोर हिसाजनक रेशमी और चर्बी वाले कपडो का त्याग किया है, तो क्या आप लोग उन वस्तुओ को त्याग नही सकते? जिनके लिए पक्षियो की हत्या की गई हो और पखो का उपयोग किया गया हो?

मडिकुक्ष बाग मे अनेक पक्षी स्वतन्त्रता और निर्भयता के साथ कल्लोल करते थे। वहा उन्हे किसी भी प्रकार का भय नही था। जहा पक्षी इस प्रकार निर्भयतापूर्वक कल्लोले करते हो, समझना चाहिए कि वहा दया है।

पक्षियो से जीवन को लाभ होता या नही? यह आपको क्या पता है? किन्तु आपके न जानने मात्र से कोई वस्तु निरुपयोगी नही हो सकती। आप शायद न जानते होगे कि हीरे की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? यह तो जानने वाले ही जानते हैं। कहावत है कि जिस देश के रत्न महान् होते हैं, वही महापुरुषो का जन्म होता हे। गगा, हिमालय आदि भारत मे ही हैं, इस कारण भारत मे ही अनेक महापुरुषो का जन्म हुआ हे। जिस प्रकार प्रकृति की रक्षा की जाती है, प्रकृति उसी प्रकार का फल देती हे।

उस बाग मे अनेक प्रकार के फूल खिले थे। फूलो के सोरभ से बाग महक रहा था। आज के लोग सुगन्ध के लिए सेट का उपयोग करते हैं। इन लोगो को भारत का अत्तर पसन्द नही आता। परन्तु सेन्ट के शोकीनो को यह पता नही हे कि उसमे मिली हुई स्पिरिट मस्तिष्क मे जाकर कितनी हानि पहुचाती है।

भारतीयो को भारतीय वस्तु रुचती नही हे और विदेशी वस्तुए किस प्रकार बनाई जाती हैं यह बात वे जानते नहीं हैं। वास्तव मे यह देश को लज्जित करने वाली बात हे। आप तेल का भी उपयोग करते होगे, परन्तु कौनसा तेल किस प्रकार बनता हे और वह आपकी प्रकृति के लिए अनुकूल

है या प्रतिकूल, इन बातो पर कभी आपने विचार किया है? आज की पोशाक ही इतनी पापमय है कि तेल, लवडर और सेन्ट के बिना काम नही चल सकता। आज तो खाने की वस्तुओ की अपेक्षा भी पहनने की वस्तुए भारी हो रही है।

वास्तविक जीवनोपयोगी वस्तुओ का त्याग करके जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुओ को अपना लेने से आज बडी बेढगी स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह सब प्रकृति के साथ वैर विसारने (भूलने) के समान है। प्रकृति के साथ वैर करने के कारण ही ऐसे–ऐसे रोग फूट पडे है, जिनका कभी नाम भी नही सुना था।

इत्र और सेन्ट आदि के लिए अनेक प्रकार के पाप किये जाते है। उस कृत्रिम सुगन्ध से मन तथा बुद्धि मे विकृति होती है, परन्तु प्राकृतिक सुगन्ध मे रोग उत्पन्न करने की या विकार उत्पन्न करने की बुराई नही होती।

अगर मै कान मे इत्र का फौहा रख लू तो आप क्या कहेगे? आप मुझे उपालभ देगे। किन्तु प्राकृतिक रीति से मेरी नाक मे जो सुगन्ध आती हो तो क्या मुझे उपालभ देगे? इत्र लगाने के कारण उपालभ देने का हेतु यही है कि इत्र लगाना प्रकृति के साथ युद्ध करने के समान है, कितु प्राकृतिक रूप से फूल की सुगध को ग्रहण करना प्रकृति के साथ युद्ध करना नही है। वह सुगध तो प्रकृति स्वय प्रदान करती है। उसे कोई रोक नही सकता। अनाथी मुनि बाग मे बैठे थे, किन्तु उनसे कोई यह नही कह सकता था कि आप मौज–शोक के लिए बाग मे बैठे है क्योकि वहा जो सुगध थी, वह प्राकृतिक सुगन्ध थी।

मडिकुक्ष बाग को नन्दनवन की उपमा दी गई है। इन दोनो का सम्बन्ध उपमान–उपमेय का है। अर्थात् मडिकुक्ष बाग नन्दनवन के समान था और उसी बाग मे महामुनि विराजमान थे।

उदयपुर के महाराणा सज्जनसिहजी कहा करते थे कि बुद्धि का घर आराम है। आराम होता है तो बुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु आराम का स्थान शहर ही नही है। कदाचित् आप कहेगे कि नगर तो आपको भी प्रिय है! आप भी गाव मे रहना पसन्द नही करते। परन्तु आपको मालूम होना चाहिए कि शहर वालो के कारण ही मुझे यह उपालभ सहन करना पड रहा है। जहा रोगी ज्यादा होते है, वही डाक्टरो को ज्यादा जाना पडता है। इसी कारण हमे भी नगरो मे अधिक आना पडता है। आज नगरो मे जितना विकार फैला है, उतना ग्रामो मे नही। ग्रामो मे नगर के समान खराबी नही आई है। मैं आज ही आपसे

नगर त्याग देने को नहीं कहता, परन्तु इतना तो अवश्य कहता हू कि आप भी अपने जीवन को सुधारने की ओर ध्यान दे।

मुझे दया और पोषध आदि प्रिय हैं, फिर भी इन पर अधिक भार न देकर शरीर और आत्मा के कल्याण की अन्य बातो पर इसलिए भार देता हू कि शरीर को स्वस्थ और ठीक रखने से धर्मकार्य भी भलीभाति हो सकते हैं– 'शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्'। अतएव आप प्रत्येक वस्तु को लाभ–हानि की विवेक–दृष्टि से देखो और हानिकारक वस्तु का त्याग करके लाभप्रद वस्तु को अपनाओ। धर्म को पवित्र रखने के लए ही मैं जीवन को पवित्र ओर स्वस्थ रखने की बात पर विशेष बल देता हू।

हा, तो मडिकुक्ष बाग नन्दनवन के समान फल–फूल–सम्पन्न था। देवों का वर्णन करते समय नन्दनवन को भले ही बडा माना जाय, किन्तु अमुक दृष्टि से देखा जाय तो मडिकुक्ष बाग की अपेक्षा वह छोटा ही कहा जायगा। नन्दनवन मडिकुक्ष की बराबरी नही कर सकता। इसका कारण है। कल्पना कीजिए – राजा का एक महल है। उसमे सगमरमर जडा हुआ है। चारो ओर सुन्दर और मनोरम चित्रो से सजाया गया है। उसमे सभी प्रकार के सुख–साधन उपलब्ध हैं।

दूसरी ओर एक छोटा–सा खेत और उस खेत मे काली मिट्टी है। जल से परिपूर्ण छोटा–सा कुआ है। उस खेत मे छोटे–छोटे पोधे उगे हैं।

इन दोनो मे आप किसे पसन्द करेगे? किसी मनुष्य को उस राजमहल मे रहने दिया जाय ओर उसके साथ यह शर्त की जाय कि खेत मे पेदा हुई कोई भी वस्तु इस महल मे नहीं आ सकेगी तो क्या उसे उस महल मे रहना पसद आएगा? इसके विपरीत उसी मनुष्य से कहा जाय कि खेत मे पैदा होने वाली सभी वस्तुए तुम्हे दी जाएगी, किन्तु रहने के लिए एक छोटा–सा झोपडा ही मिलेगा। बताइए, वह आदमी किसमे रहना पसन्द करेगा? झोपडी मे या महल में? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हे। वह मनुष्य खेत म रहना ही पसन्द करेगा। महल कितना ही सुन्दर ओर विशाल क्या न हो, उसम शरीर को टिकाने के साधन नहीं उत्पन्न हो सकते। ऐसा होने पर भी अगर कोई खेत को पसन्द न करके राजमहल मे ही रहना पसन्द करे तो वह उसका व्यामोह ही गिना जायेगा।

यही बात मडिकुक्ष बाग आर नन्दनवन के विषय मे समझी जा सकती हे। नन्दनवन की तरह मडिकुक्ष बाग मे यद्यपि बाहर की शोभा नही ह फिर भी उन दोनो मे महल ओर खेत के समान अन्तर हे। नन्दनवन म जा

शोभा है, वह देवो के रमण करने के लिए ही है। हा, सुगन्धित, सुन्दर फल–फूल नही है, परन्तु मडिकुक्ष बाग मे तो अनेक प्रकार के फल–फूल है। नन्दनवन के विषय मे कहा गया है कि वहा जो– कुछ है, सब रत्नो का बना है। अतएव वहा के पक्षियो को वैसा पोषण नही मिल सकता जैसा मडिकुक्ष बाग मे मिल सकता है। कहा गया है कि मडिकुक्ष बाग मे भाति–भाति के पक्षी किलोले करते थे। जहा पक्षियो को आनन्द मिलता हो, वहा क्या मनुष्यो को आनन्द नही मिलता होगा? जहा पक्षियो को फलादि खाने का आनद मिलता है वहा मनुष्यो को भी आनन्द प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नही है। जिस फल को पक्षी पसन्द नही करता उसे क्या आप पसन्द करेगे? आक के फल को पक्षी या बन्दर नही खाते तो मनुष्य भी नही खाता। इस प्रकार फलादि की परीक्षा पहले पक्षी करते हैं। कहने का आशय यह है कि जो फलादि पक्षियो को आनन्दप्रद होते हैं, वे मनुष्यो को भी आनन्द देते है।

एक दूसरी बात पर भी यहा विचार कर ले। साधारणतया जो पशु–पक्षी फल खाते है, वे मास नही खाते। लेकिन मनुष्य कैसा प्राणी है कि वह फल भी खाता है और मास भी खा जाता है! बन्दर फल खाता है, मास नही। कबूतर अनाज के दाने चुगता है, मास नही खाता। इस प्रकार ये पशु–पक्षी फल खाने की मर्यादा का भी पालन करते हैं, मगर मनुष्य ने तो फलाहार की मर्यादा का उल्लघन कर डाला।

जहा पशु–पक्षियो को सहज पोषण मिलता है, वहा के मनुष्य भी सुखी होते हैं और जहा पशु–पक्षी दुखी रहते हैं, वहा मनुष्य भी दुखी रहते हैं। यह प्रकृति का नियम है।

मुडिकुक्ष बाग मे जीवो को फलाहार मिलता था, किन्तु नन्दनवन मे वह कहां? इसके अतिरिक्त मुडिकुक्ष बाग मे अनाथी मुनि विराजमान थे और कदाचित् वहा भगवान् महावीर के चातुर्मास भी हुए होगे, परन्तु क्या नन्दन–वन मे साधु मिल सकते है? इस प्रकार मुडिकुक्ष बाग नन्दनवन से भी अनेक दृष्टियो से उत्तम सिद्ध होता है।

आप लोग स्वर्ग का वर्णन सुनकर ललचाओ मत। मैं पूछता हू कि आपका राजकोट बडा या स्वर्ग बडा? आप कदाचित् स्वर्ग को बडा कहेगे किन्तु राजकोट मे जो धर्म–जागृति हो रही है, वह क्या स्वर्ग मे सभव है? वहा तो मुनि भी नही मिल सकते। पर राजकोट मे मुनियो का जमघट है और आनन्द–मगल वर्त रहा है। ऐसी स्थिति मे स्वर्ग को बडा कैसे कहा जा सकता है? इस विषय को समझने के लिए भक्ति का एक उदाहरण लीजिए –

कहते हैं, गोपियो की भक्ति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हे स्वर्ग में लाने के लिए विमान भेजा और कहलाया, तुमने नन्दलाल की बहुत भक्ति की है। इसलिए चलो, तुम्हे स्वर्ग मे स्थान मिलेगा।

इसके उत्तर मे गोपियो ने क्या कहा? यह भक्तो की वाणी मे ही बतलाता हू –

ब्रज व्हालुं म्हारे वैकुंठ नथी जावु,
त्या नदनो लाल क्याथी लावुं।

गोपियो ने कहा – हमारे स्वर्ग की बात मत करो। हमे तो ब्रज ही प्रिय है।

विमान लाने वाले बोले – क्या तुम सब पागल हो गई हो? जरा विचार तो करो कि कहा स्वर्ग और कहा ब्रज? यहा दुष्काल पडे तो तिनका भी न मिले। इसके सिवाय यहा सिह, बाघ आदि का भय है, तरह–तरह की बीमारिया हैं और सदा मौत का भय सताता रहता है। परन्तु स्वर्ग मे यह कुछ भी नहीं है। सब प्रकार का आनन्द है। वहा रत्नो के महल हैं और इच्छा करने मात्र से पेट भर जाता है। भोजन करने की भी आवश्यकता नही रहती और जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। फिर भी तुम स्वर्ग मे आना नही चाहती और ब्रज मे रहना चाहती हो?

गोपियो ने कहा – हम पागल नही हैं। जान पडता है, तुम्ही पागल हो गए हो। यह तो बतलाओ कि तुम क्यो विमान लेकर हमे ले जाने को आये हो? हमने नन्दलाल की भक्ति की हे, इसीलिए तो? विचार करो कि जिस भक्ति के कारण तुम हमे स्वर्ग मे ले जाने को आए हो, वह भक्ति स्वर्ग से भी कितनी बढकर है? फिर उस भक्ति को छोडकर हम क्यो स्वर्ग मे जाना पसद करे? हम अपनी भक्ति का विक्रय नही करना चाहती। तुम स्वर्ग को बृज से बढकर मानते हो, पर यदि यह ठीक हे तो नन्दलाल का जन्म स्वर्ग मे न होकर यहा क्यो हुआ?

गोपियो का उत्तर सुनकर देव चुप ही रहे। कहने लगे– वास्तव मे हमारा स्वर्ग ब्रज के सामने किसी विसात मे नही हे। धन्य हे तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति। हमारा शरीर तो रूप–रग मे सुन्दर हे, पर किस काम का ? इस शरीर मे तुम्हारी–सी भक्ति कहा?

तुम स्वर्ग को उत्तम मानते हो तो विचार करो – क्या वहा व्रतधारी श्रावक साधु मिल सकते हैं? क्या वहा तीर्थंकरो का जन्म हुआ हे? इस दृष्टि से विचार करो तो आपको ज्ञात होगा कि राजकोट का महत्त्व कितना हे। यहा

रहकर धर्म की जैसी और जितनी साधना की जा सकती है, स्वर्ग मे नही की जा सकती।

मुसलमानो के हदीसो मे कहा है – जब अल्लाह इस दुनिया को बना चुके तब फरिश्तो को बुलाकर उनसे बोले 'तुम इनसान की प्रार्थना और बदगी करो।'

अल्ला के आदेशानुसार दूसरे फरिश्तो ने तो इनसान की बदगी की, परन्तु एक फरिश्ते ने आज्ञा नही मानी। उसने अल्लाह से कहा – 'आप क्यो ऐसी आज्ञा दे रहे है? कहा हम फरिश्ते और कहा इनसान? फरिश्ता हो कर हम इनसान की बदगी करे? इनसान खाक का बना है और हम 'पाक है।' इनसान नापाक है। इस प्रकार कहकर उसने अल्लाह की आज्ञा का उल्लघन किया। तब अल्लाह मिया ने उसे बहुत उपालभ दिया।

विचारणीय विषय यह है कि जब फरिश्ते भी इनसान की बदगी करते हैं तो दोनो मे बडा कौन है?

तथ्य यह है, फिर भी आप क्यो स्वर्ग की इच्छा करते है ? यह राजकोट स्वर्ग से बढा–चढा है और यहा की भूमि जैसी आनन्द–मगल–दायिनी है, वैसी स्वर्ग की भूमि नही। जैसी धर्म–साधना यहा हो सकती है, वैसी स्वर्ग मे नही।

इस प्रकार मानना चाहिए कि नन्दन–वन की अपेक्षा मडिकुक्ष बाग उत्तम है। देव भी मडिकुक्ष बाग की कामना करते है और वहा आकर खडे भी रहते हैं। परन्तु यहा के ज्ञानी पुरुष स्वर्ग की इच्छा नही करते। शास्त्र मे कहा है –

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।।

इस प्रकार भक्तजन स्वर्ग की भी कामना नही करते। वे कहते है, हम स्वर्ग की इच्छा करके अपनी भक्ति को बेचना नही चाहते।

आज यहा राजगृही नही है, लेकिन राजकोट तो है। नाम राशि के लिहाज से दोनो मे बडी समानता है। कमी है तो यही कि यहा अनाथी मुनि जैसे मुनिवर नही है और श्रेणिक जैसे भक्त भी नही हैं। फिर भी धर्म का रग तो जमा है। अनाथी जैसे न सही, साधारण मुनि तो है। तप और त्याग भी हो रहा है। किन्तु स्वर्ग मे साधारण साधु भी नही है ओर तप–त्याग भी नही होता। अतएव स्वर्ग की इच्छा करके अपनी धर्मक्रिया का विक्रय मत करो।

तुम कह सकते हो कि हम ससारी जीवो को सभी चीजो की इच्छा होती है, परन्तु ज्ञानीजनो के वचनो के आधार पर मैं तुम्हे विश्वास दिलाता हू कि किसी वस्तु की इच्छा न करते हुए निष्काम भाव से धर्म–कार्य करोगे तो हजार गुना लाभ होगा। इच्छा करने से लाभ होगा, ऐसा समझना भूल है।

आपकी पत्नी आपसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए भोजन बनाती हू, इसका मुझे मेहनताना क्या मिलेगा? तो ऐसा कहने वाली पत्नी से आप क्या कहेगे? यही न कि तुम मेरे यहा भाडे पर नही आई हो कि मेहनताना मागो?

आप अपनी पत्नी से तो ऐसा कहते हैं और भगवान् से कहते हैं कि यह दो, वह दो। जरा विचार करो कि यह वृत्ति कहा तक उचित है? अगर आप इसी प्रकार मागते रहे तो परमात्मा के घर के अधिकारी नही बन सकते। अधिकारी बनने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो आपको सासारिक वस्तुओ की इच्छा तुच्छ प्रतीत होगी।

इस विषय मे सभी शास्त्रो का मन्तव्य एक–सा है। केवल अर्थ करने मे भिन्नता होती है। किन्तु स्याद्वाद दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि सभी शास्त्र सत्य के प्रतिपादक है। एक प्रमाण द्वारा इस बात को समझिए।

मीरा से किसी ने कहा – आपको राणा प्रिय क्यो नही है? तब उन्होने उत्तर दिया –

ससारीनु सुख एव, झाझवानु नीर जेवु।
तेते तुच्छ करी फरी रे मोहन प्यारा।।

इसकी व्याख्या करने मे देर लगेगी, फिर भी इस सबध मे थोडा कहूगा। मैंने शकर भाष्य देखा तो उसमे भी यही कहा है कि ससार के जीव मृगजल की तरह भ्रम मे पडकर भटकते फिरते हैं। जैसे सूर्य की किरणे रेत पर पडने से पानी का भ्रम होता हे ओर उसे पानी मानकर हरिण उसके पीछे दौडते है परन्तु पानी न मिलने के कारण उनकी तृषा शान्त नही होती ओर वे हताश हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी ससार ओर शरीर के विषय मे 'यह मेरा है'– ऐसा मान वेठती हे ओर इस भ्रम के कारण ससार मे भटकती है। रेत को पानी मान लेने से जेसे वास्तव मे पानी नहीं मिलता ओर तृषा शान्त नही होती उसी प्रकार सासारिक भोगो की इच्छा करने से वास्तविक सुख नही मिलता। सुख का आभास मात्र होता हे।

मीरा भी यही बात कहती है कि ससार का सुख मृगजल सरीखा है। अतएव म सासारिक सुख के भ्रम मे भटकना नही चाहती। जेसे रेल की दोना

पटरियो पर चलना शक्य नही है, उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति करना और ससार के सुख भोगना, ये दोनो काम एक साथ नही बन सकते। ससार के पदार्थो का ममत्व त्याग देने पर ही परमात्मा की भक्ति हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि यह भूमि स्वर्ग से कुछ कम नही है और मडिकुक्ष बाग नन्दनवन से कुछ कम नही है। तुम्हारा कल्याण तो यही हो रहा है और यही हो सकता है, फिर क्यो स्वर्ग की प्रशसा अथवा इच्छा करते हो?

एक अमेरिकन डाक्टर, जो एक आध्यात्मवादी विद्वान था, एक दिन अपने शिष्यो के साथ जगल मे गया। वही उसके शिष्यो ने पूछा – 'स्वर्ग की भूमि श्रेष्ठ है या यह भूमि श्रेष्ठ है?'

डाक्टर ने उत्तर दिया – जिस भूमि पर तुम अपने दो पैर रख कर खडे हो और जो भूमि तुम्हारा भार वहन कर रही है, इस भूमि को अगर तुम स्वर्ग की भूमि से हीन समझते हो तो तुम इस पर पैर रखने के अधिकारी नही।'

इसी पकार तुम्हारा कल्याण इसी भूमि पर हो सकता है और हो रहा है, फिर भी अगर तुम स्वर्ग के ही गुण गाते रहो तो यह तुम्हारा व्यामोह ही है।

मडिकुक्ष बाग फूलो से सुगधित था। इसी बाग मे महात्मा अनाथी विराजमान थे और वही राजा श्रेणिक के साथ उनकी भेट हुई। इस कथन मे गहरा रहस्य भरा है। कोई पूर्ण पुरुष ही उस रहस्य को पूर्ण रूप से समझ सकता है। मैं अपूर्ण हू और कथन भी अपूर्ण ही होगा। फिर भी इस विषय मे कुछ कहना चाहूगा।

फूल और मनुष्य का सबध कितना घनिष्ठ है, इस विषय पर विचार करना है। मै स्वय वैज्ञानिक नही हू, किन्तु फूल के विषय मे वैज्ञानिको के विचार मैने सुने हैं। उन विचारो की शास्त्र के साथ क्या सगति है, यह मै दिखलाने का प्रयत्न करूगा।

फूलो मे अनेक रग होते हैं। वैज्ञानिको के कथनानुसार रगो की इस विभिन्नता का सम्बन्ध सूर्य की किरणो के साथ है। सूर्य की किरणो के कारण ही फूलो मे जुदा–जुदा रग उत्पन्न होते हैं। यहा यह प्रश्न हो सकता है कि सूर्य की किरणे तो सब फूलो पर समान रूप से पडती हैं, फिर उनके अलग–अलग रग होने का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक देते हैं कि किरणो को ग्रहण करने मे विभिन्नता होने के कारण फूलो के रग मे भी विभिन्नता देखी जाती है। अर्थात् जो फूल सूर्य की किरणे ग्रहण करके अधिक से अधिक त्याग करते हैं, उनका रग एकदम सफेद होता है। जो थोडा त्याग

करते हैं वे गुलावी रग के होते हैं। जो इनसे भी कम त्याग करते हैं वे पीले रग के होते हैं। जो उनसे कम त्याग करते हैं, वे लाल होते हैं। जो किरणो को ग्रहण अधिक करते हैं और त्याग कम करते हैं वे नीले रग के होते हैं। किन्तु जो फूल सूर्य की किरणो को पूरी तरह हजम कर जाते हैं और त्याग विल्कुल नही करते हैं, उनका रग एकदम काला होता है।

काला रग किरणो को हजम कर जाता है, यह वात प्रत्यक्ष से भी स्पष्ट जान पडती है। फोटो लेने के कैमरे पर काला कपडा रखा जाता है। दूसरे रग का कपडा रखा जाय तो थोडी–वहुत किरणे भीतर चली जाती हैं और फोटो अच्छा नहीं आता। मगर काला रग सूर्य की किरणो को अन्दर प्रवेश नही करने देता। वह सव किरणो को हजम कर जाता है, अतएव फोटो ठीक उतरता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह समझा जा सकता है कि काला फूल भी किरणो को हजम कर जाता है।

मडिकुक्ष वाग मे अनेक प्रकार के फूल थे। इस कथन का आशय यह है कि फूलो मे किरणो को ग्रहण करने की तरतमता बतलाई गई है। जैन शास्त्र के किसी अभ्यासी को यह वात समझाई जाय तो विदित होगा कि इस मे कैसी–केसी सामग्री विद्यमान हैं। आज लोग तोतारटन्त करके पडित वन जाते हैं और फिर कहते हैं – जेनशास्त्रो मे कुछ भी नही हैं। वास्तव मे ऐसे लोग जेन शास्त्रो मे गहरे उतर कर समझने का प्रयत्न ही नही करते। पोथी पढ लेने से ही ज्ञान की प्राप्ति नही हो जाती, परतु गुरु की उपासना करके समझने का प्रयास करने से ही शास्त्रार्थ समझा जा सकता है। गुरु की कृपा विना वस्तु पूरी तरह नहीं समझी जा सकती। एक कवि ने इस विषय मे कहा है –

पढके न बैठे पास अक्षर बाच सके,
बिना ही पढे कहो कैसे आवे फारसी।
जौहरी के मिले बिन हाथ नग लिये–
फिरो बिना जौहरी वाके सशय न टारसी
'सुन्दर' कहत मुख रच हू न देख्यो जाय,
गुरु बिन ज्ञान जैसे अन्धे तम आरसी।।

अर्थात् पुस्तक मे अक्षर ता सव हैं किन्तु उस्ताद के विना फारसी नहीं आती। हाथ मे नग हे परन्तु जोहरी की सहायता विना उसकी कीमत कोन आक सकता है? वृटिया तो अनेक हैं परन्तु जव तक उनकी उपयोगिता न जान ली जाय तव तक वह किस काम की? दवा का प्रयोग वताने वाला

डाक्टर न हो तो दवा का होना किस मतलब का? इसी प्रकार पुस्तक होने पर भी उसका ज्ञान गुरु से प्राप्त करना चाहिए। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त करना अधेरे मे आरसी लेकर मुह देखने के समान है।

आज लोग गुरु की सहायता लिये बिन पुस्तको द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, यही बुराई है। योग्य गुरु की सहायता से जैन शास्त्रो को समझा जाय तो उनके गुह्य रहस्यो का ज्ञान हो। अगर आप प्रत्येक बात को गुरु के पास से समझ कर विश्वास करो तो भ्रम मे न पडो और आत्मा का कल्याण भी कर सको।

शास्त्रो मे अनेक स्थलो पर लेश्या के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है। लेश्या दो प्रकार की होती है – द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। इन भेदो पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लेश्या का अर्थ क्या है? लेश्या की व्युत्पत्ति है –

लेश्यति इति लेश्या

जैसे गोद दो कागजो को चिपका देता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्मो को जो चिपकावे वह लेश्या है। किसी–किसी आचार्य के मत से 'योगप्रवृति लेश्या' अर्थात् मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति लेश्या हैं। कोई कोई कहता है –

कृष्णादि द्रव्य साचिव्याद् आत्मन परिणाम विशेषो लेश्या।

अर्थात् कृष्ण आदि द्रव्यो के सयोग से आत्मा का जो परिणाम–विशेष होता है उसे लेश्या कहते हैं।

शुक्ल, पीत, तेजो, कापोत, नील और कृष्ण, ये छह प्रकार की लेश्याए हैं। शुक्ल का रग सफेद होता है, पीत का रग पीला होता है, तेजो का रग लाल होता है, कापोत का रग कबूतर के रग जैसा होता है, नील का रग नीला व कृष्ण लेश्या का रग काला होता है।

अब हमे देखना है कि फूल और लेश्या के बीच क्या साम्य है ? यह आत्मा प्रकृति से कुछ–न–कुछ ग्रहण करती ही है। हवा, पानी आदि की प्राकृतिक सहायता लिये बिना तो जीवन ही नही टिक सकता, अतएव प्रकृति की सहायता लेनी ही पडती है। जिस प्रकार फूल सूर्य की किरणो को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी किसी–न–किसी की सहायता लेता है। जो आत्मा जितनी सहायता लेता है, उससे भी अधिक त्याग करता है, वह शुक्ललेश्या वाला है। ज्यो–ज्यो त्याग मे कमी आती जाती है, त्यो–त्यो लेश्या

भी हीन और हीनतर होती जाती है। अन्त मे जो दूसरो की सहायता लेना ही जानता है, देना नहीं जानता, वह कृष्णलेश्या वाला है।

वर्ण के साथ ही लेश्या के वर्ण, गध, रस और स्पर्श का भी सम्बन्ध है। शास्त्र मे इनका वर्णन मिलता है। कृष्णलेश्या वाले के भाव खराब होते हैं, अतएव उसकी गध भी खराब होनी चाहिए, पर इस बात का निर्णय अगर अपनी नाक से सूघ कर कोई करना चाहे तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक बात उसके समुचित साधनो द्वारा ही जानी जा सकती है। कहते हैं, मन का भी फोटो उतरता है। अब कोई साधारण कैमरे द्वारा मन का फोटो लेना चाहे तो कैसे ले सकता है? मन का फोटो लेने के लिए कैमरा भी विशेष प्रकार का होना चाहिए। इसी प्रकार लेश्या के वर्ण, रस, गध और स्पर्श वगैरह को जानने के लिए उपयुक्त साधनो की आवश्यकता है। यह द्रव्यलेश्या की बात हुई। द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या परस्पर सम्बन्धित हैं। अत द्रव्यलेश्या की तरह भावलेश्या भी समझनी चाहिए।

जैसे फूलो का सुधार किया जा सकता है, उसी प्रकार लेश्या का भी सुधार किया जा सकता हे। गुलाब सफेद भी होता और काला भी होता हे। जो काला होता है उसका भी सुधार हो सकता है। इसी प्रकार अशुभ लेश्या को भी सुधारा जा सकता है। अतएव आप भी लेश्या को सुधारने का प्रयत्न करो।

आप पूछ सकते हैं, लेश्या का सुधार किस प्रकार हो सकता है? और उसका सुधार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल के लिए भगवान् महावीर ने विधान किया हे कि साधु सफेद वस्त्र धारण करें। फिर भी कोई रगीन वस्त्र पहने तो आप दोष मानेगे या नही? रग से भाव का भी सम्बन्ध हे और रगीन वस्त्रो के परिधान से भावो मे भी अन्तर पड जाता है। सफेद रग स्वाभाविक हे। अतएव भगवान् ने सफेद वस्त्र पहनने का विधान किया हे। स्वाभाविक रग मे भावो की भी स्वाभाविकता रहेगी। भावो मे अस्वाभाविकता न आ जाय, इसी उद्देश्य से भगवान् न साधुओ के खान–पान आदि की भी विधि बतलाई हे और यह भी बतलाया हे कि साधु क्या खाये ओर क्या न खाये?

कुछ लोग कहते हं, जिसमे जीव विद्यमान हे, जसे कि वनस्पति आदि, उसे छोड कर कोई भी वस्तु खाई जाय तो क्या बाधा हे ? इसका उत्तर यह हे कि खाने की कोई वस्तु रजोगुणी होती हे कोई तमोगुणी होती हे और कोई सतोगुणी होती है। खानपान मे केवल जीव का ही विचार नही किया

गया है, परन्तु प्रकृति का भी विचार किया गया है। गीता मे भी कहा है कि जो जैसा भोजन करता है, उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है। कृष्ण की मूर्ति के सामने मद्य, मास, प्याज या लहसुन का भोग क्यो नही चढाया जाता? ये सब चीजे तमोगुण को उत्पन्न करने वाली हैं, इसीलिए इनका निषेध है। इसी हेतु लहसुन आदि खाने का महात्मा निषेध करते हैं। वे केवल जीवन की दृष्टि से ही नही, वरन् प्रकृति की दृष्टि से उनका निषेध करते है। जीवो के विचार के साथ प्रकृति का भी विचार किया गया है। शास्त्र मे कहा है कि साधु को तमोगुणी वस्तु खाने मे बहुत विवेक और विचार रखना चाहिये। शास्त्र मे विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओ को विगय या विकृति गिना गया है।

जो साधु, आचार्य और उपाध्याय को गोचरी बताये बिना विगय खाता है, वह दड का भागी होता है। दूध, दही, घी आदि के सबन्ध मे जीव की दृष्टि से विचार नही किया गया है, परन्तु ये वस्तुए किसको किस प्रकार विकारजनक होती है, इस दृष्टि से विचार किया गया है। अतएव खाने मे भी विचार और विवेक रखने की आवश्यकता है। खान–पान पर नियत्रण रखकर अपनी प्रकृति को सतोगुणी बनाना चाहिए। ऐसा करने से लेश्या मे भी सुधार होगा।

आज कई लोग मदिरा को लाल शर्बत कहकर सोचते हैं कि इसके पीने मे क्या हानि है? परन्तु गभीर भाव से सोचना चाहिये कि ऐसी वस्तुए कितनी हानिकारक हैं? कुरान और हदीसो मे कहा है कि जो वस्तु बुद्धि मे विकृति उत्पन्न करती है, उन्हे खाना–पीना नही चाहिए। वे वस्तुए हराम है।

इस प्रकार विधि–निषेध का प्राय प्रत्येक वस्तु के विषय मे सब शास्त्रो मे उल्लेख मिलता है। यह बात अलग है कि किसी जगह देश–काल को देखकर किसी अखाद्य वस्तु को एकदम निषेध न किया गया हो, लेकिन इसका अभिप्राय यह नही कि उसकी छूट दी गई है। ऐसा समझ लेना भूल होगी। मैंने कुरान मे देखा है कि अल्लाह ने जमीन और आसमान बनाकर इनसान के लिए फल–फूल आदि बनाये। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि कुरान के अनुसार इनसान के लिए फल, धान्य आदि बनाये गए हैं। मनुष्य के लिए फल, धान्य आदि वस्तुए ही भक्ष्य हैं, किन्तु मनुष्य, मनुष्य को या पशु को खा जाय, यह किसी भी प्रकार योग्य नही है। अली साहब ने तो जीव का मास खाने का निषेध किया है और कहा है – 'अपने पेट मे किसी की कब्र न बनाओ।'

अभिप्राय यह है कि खानपान और वेशभूषा से भी जीवन प्रभावित होता है, अतएव इनमे भी विवेक और विचार रखना चाहिए।

आज महिलाओ मे भी नये–नये फैशन चले हैं और कितने ही लोगो का कहना है कि उन्हे अपना लेने मे हानि ही क्या है? मगर ऐसे अन्धानुकरण प्रेमी यह नही सोचते कि खानपान और वेशभूषा का परिणाम क्या होता है? इससे सस्कृति, स्वभाव और प्रकृति पर कैसा प्रभाव पडता है?

आप लोग सामायिक मे वस्त्र उतार कर क्यो बैठते हैं? इसलिए कि वस्त्र उतारने से भाव मे भी परिवर्तन होता है। मुसलमान नमाज पढते समय सादा वस्त्र पहनते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से अहकार दूर होता है। कपडो से भी अहकार उत्पन्न होता है। खादी और विलायती वस्त्र मे अहकार की दृष्टि है या नही? दारू और दूध पीने वाले की बुद्धि मे अन्तर होता है या नही? इस तथ्य को जो जानता है, वही समझ सकता है। किन्तु जो लोग आदत से लाचार है, उन्हे तो खराब वस्तु भी अच्छी लगती है।

मैंने गाधीजी की 'आरोग्यविचार' नामक पुस्तक देखी है। उसमे लिखा है कि किसी देश के लोग विष्ठा भी खाते हैं। वे लोग विष्ठा खाते है, अतएव विष्ठा खाने योग्य वस्तु तो नही कही जा सकती।

जयपुर के भगी विष्ठा को सडा कर उसमे उत्पन्न हुए कीडो का रायता बनाते हैं और बडी रुचि के साथ खाते है। क्या उनके खाने से विष्ठा के कीडे खाने योग्य पदार्थ मान लिये जाए?

पनवेल मे मैंने देखा कि मछलियो की दुर्गन्ध चारो ओर फैली हुई थी। एक भाई ने मुझसे कहा – मछलिया खाने वाले लोग बडे मजे से मछलिया खाते हैं।

इस प्रकार कोई मनुष्य अपनी आदत के कारण बुरी वस्तु को भी अच्छी मानने लगे, यह बात अलग हे परन्तु उसके मानने मात्र से बुरी वस्तु अच्छी नही हो जाती हे। अतएव तुम खानपान और पोशाक के सम्बन्ध मे गहरा विचार करो आर जो वस्तुए हानिकारक हो, उनका त्याग कर दो और सात्त्विक पदार्थो को ही ग्रहण करो। ऐसा करने से लेश्या म भी सुधार होगा।

तत्थ सो पासइ साहु, सजय सुसमाहिय।
णिसन्न रुक्ख मूलम्मि, सुकुमाल सुहोइय।।14।।

अर्थ – वहा राजा ने वृक्ष के मूल मे वेठे हुए सुकुमार सुख म पले आर दडे हुए समाधिवान् सयमी साधु को देखा।

आत्मा भ्रम मे पडकर बहुत बार भौतिक सुखो के पीछे भटकता है और उस सुख के अभिमान मे अपने को 'नाथ' और दूसरो को 'अनाथ' मानने लगता है। परन्तु सच्चाई यह है कि 'मैं सब का नाथ हू'– इस अभिमान मे आकर वह स्वय अनाथ बन जाता है।

राजा श्रेणिक भी भौतिक सुख के अभिमान मे आकर अपने–आप को सबका नाथ मानता था। परन्तु श्रेणिक की यह बडी भूल थी। इस भूल को महामुनि अनाथी ने अपने उपदेश द्वारा दूर किया और उसे समझाया कि श्रेणिक तू स्वय अनाथ है। साथ ही उसे आध्यात्मिक सुख का मार्ग बतलाया। इस गाथा मे उन्ही महामुनि का परिचय दिया गया है।

राजा श्रेणिक मडिकुक्ष बाग मे विहारयात्रा के लिए आया था। वह शाही ठाठ से आया होगा, परन्तु शास्त्र मे इस विषय का कोई वर्णन नही मिलता। अतएव यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार राजा को शोभा दे, उसी प्रकार वह वहा आया होगा।

राजा श्रेणिक फूलो की गध, बगीचे का आनद लेता हुआ बाग मे इधर–उधर घूम रहा था। घूमते–घूमते एक महापुरुष साधु पर उनकी नजर पडी। वह महात्मा सयत अर्थात् सम्यक् प्रकार से आत्मा की यतना करने वाले और सयम के धारक थे। यह बात उनके चेहरे पर झलकने वाले समाधिभाव से स्पष्ट जान पडती थी। महात्मा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। वे सुकुमार और सुखी थे।

इस कथन पर विशेष विचार किया जाय तो वह लम्बा होगा और अनेक बाते जानने को मिलेगी। किन्तु अभी इतना अवकाश नही है, अत सक्षेप मे ही कहता हू।

राजा ने बगीचे मे महात्मा को देखा। महात्मा के विराजमान होने से बगीचे मे कोई विशेषता आ गई होगी। शास्त्रकारो का कहना है कि महात्माओ के सयम का परिचय तो उनके आस–पास का वातावरण ही दे देता है। जहा महात्मा विराजमान होते हैं, वहा उनका शाति के प्रताप से वैर–विरोध रह ही नही जाता। जिन जीवो मे स्वाभाविक वैर–विरोध होता है, ऐसे सिह और बकरी सरीखे प्राणी भी निर्वैर होकर शातिपूर्वक एक साथ बैठते और रहते हैं। भयभीत जीव भी निर्भय हो जाते हैं। जिस प्रकार महात्माओ का प्रभाव चेतन जगत् पर तो पडता ही है, किन्तु जड पदार्थो पर भी पडे बिना नही रहता। इस नियम के अनुसार उन महात्मा का प्रभाव मडिकुक्ष बाग पर पडा

ही होगा। राजा श्रेणिक सोचता होगा कि आज बगीचे मे क्या अनोखापन है? इसी समय उसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे महात्मा पर जा पडी।

साधु के साथ वृक्ष का भी वर्णन किया गया है। साधु और वृक्ष की तुलना की जाय तो दोनो मे बहुत समानता प्रतीत होगी। ग्रथकारो ने मुनि और वृक्ष का साम्य बतलाया है। वृक्षो पर शीत और आतप गिरते हैं, मगर वे किसी के सामने फरियाद नही करते, वरन् समभावपूर्वक सहन करते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष पवन का आघात सहन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी सहनशील बनो। ऐसा करने से ससार की कठोर से कठोर विपत्तिया सिर पर आ पडने पर भी तुम दृढ रह सकोगे। सहिष्णुता का अभ्यास करना कल्याण का मार्ग है। जो सहनशील होता है, वही आगे चलकर उन्नति कर सकता है।

महाभारत मे कहा है कि युधिष्ठर ने भीष्म से कहा – अब आपका अन्त समय सन्निकट आ गया है, अत मैं आपसे एक बात ओर पूछना चाहता हू। आपने मुझे धर्म और राजनीति की अनेक बाते बतलाई हैं। मगर एक बात पूछनी शेष रह गयी है। वह अब पूछना चाहता हू।

भीष्म ने उत्तर दिया – जो पूछना चाहते हो, खुशी से पूछो। मै तुम्हारी तिजोरी मे शिक्षा की जो बाते रख दू, वे सुरक्षित ही हैं।

युधिष्ठर–कोई प्रबल शत्रु आक्रमण करदे तो राजधर्म के अनुसार क्या करना चाहिए?

भीष्म – इसके लिए मैं एक प्राचीन कथा सुनाता हू। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

नदियो का स्वामी समुद्र, सब नदियो के बर्ताव से प्रसन्न रहता था, किन्तु वेत्रवती नदी के बर्ताव से अप्रसन्न हुआ और कहने लगा – तू बडी कपटिन है। तू निष्कपट होकर मेरी सेवा नही करती।

नदी बोली – मेरा अपराध क्या है?

समुद्र – तेरे तीर पर बेत बहुत होते है, परन्तु किसी भी दिन तूने बेत का एक टुकडा भी लाकर मुझे नही दिया। ओर नदिया तो अपने–अपने तीर पर होने वाली वस्तुए मुझे भेट करती हैं, पर तू बडी कपट–मूर्ति है। तूने आज तक मुझे बेत नहीं दिया।

समुद्र का कथन सुन कर नदी कहने लगी – इसमे मेरा कुछ भी अपराध नहीं है। जब मैं जोश के साथ सपाटा मारकर आपकी ओर दोडती आती हू तब बेत नीचे झुक कर पृथ्वी पर लग जाते हैं और जब मेरा पूर उतर

जाता है तो ज्यो के त्यो खडे हो जाते हैं।। इस कारण मै एक भी बेत को नही तोड पाती। ऐसी स्थिति मे मेरा क्या अपराध है?

समुद्र ने कहा – ठीक है। मैं यह बात जानता हू, परन्तु तेरे साथ हुआ मेरा यह सवाद दूसरो के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

यह सवाद सुनाकर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा – युधिष्ठिर! जब अपने से अधिक बलशाली शत्रु से सामना करना पडे तब क्या करना चाहिए, इस विषय मे बेत से शिक्षा ग्रहण करो। शत्रु प्रबल हो तो नम्रता धारण कर लेना ही उचित है। बेत नीचे झुक जाता है, परन्तु अपनी जड को उखडने नही देता और पूर उतरने पर ज्यो का त्यो तन कर खडा हो जाता है। इसी प्रकार अपनी जड को मजबूत रखकर प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना चाहिए। जो बहुत तेज सपाटे के साथ आता है वह लम्बे काल तक नही टिक सकता। अतएव जब प्रबल शत्रु आवे तो झुक जाना चाहिए और जब चला जाय तो फिर ज्यो का त्यो खडा हो जाना चाहिए। सबल शत्रु के आने पर भी जो अकड कर खडा रहता है, उसकी जड उखड जाती है और उसके लिए फिर खडा हेना शक्य नही रहता। अतएव नम्र होकर अपनी जड उखड जाने से बचा लेना ही बुद्धिमत्ता है।

युधिष्ठिर को धर्मराज और अजातशत्रु भी कहा जाता है। वह किसी को अपना शत्रु नही मानते थे। इसी प्रकार वृक्ष भी अजातशत्रु है, वे भी किसी को अपना शत्रु नही मानते। युधिष्ठिर की अजातशत्रुता के विषय मे तो तर्क वितर्क भी हो सकता हैं, परन्तु वृक्षो की अजातशत्रुता के विषय मे किसी को सन्देह नही हो सकता। पवन, शीत, ताप, धूप, वर्षा आदि के कष्ट सहते हुए भी वे अडोल–अचल रहते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्ष की कोई शाखा बिजली से खिर जाय अथवा पाला पडने से जल जाय या कोई काट ले तो भी वृक्ष रोता नही। जो शाखाए अवशिष्ट रहती हैं, उन्ही मे ऋतु के अनुसार फलो–फूलो को पोषण दिया करता है।

ससार मे एक दु ख तो पुत्र, माता या किसी अन्य स्वजन की मृत्यु होने पर आ पडता है और दूसरा दु ख रो–कलप कर हाय–हाय करके स्वय उत्पन्न कर लेते हैं। परन्तु हानि होने पर अपनी शक्ति का अधिक ह्रास न होने देकर विकास करना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा लोग वृक्षो से ले तो कितना लाभ हो। एक कवि कहता है –

रे मन ! वृक्ष की मति लेहु रे!
काटन वाले से नही वैर कछु,
सीचन वाले से नही है स्नेह रे।।

कवि मन को सबोधिन करके कहता हैं – अरे मन! तू वृक्ष से शिक्षा क्यो नहीं लेता? वृक्ष को कोई कुल्हाडे से काटता है तो वह उसके प्रति वैरभाव धारण नहीं करता। यही नही, उसे भी वह शीतल छाया और खाने को फल–फूल देता है और वृक्ष अपने को सीचने वाले पर भी राग नहीं करता। इस प्रकार वृक्ष प्रत्येक पर समभाव रखता है। हे मन! तू इस समभाव को क्यो नही सीखता?

वृक्ष मे विद्यमान इस समभाव को तुम क्यो नही धारण करते? वृक्ष से भी गये–बीते क्यो बन रहे हो? वृक्ष को लोग जड समझते हैं (यद्यपि वह जड नही, एकेन्द्रिय जीव है), लेकिन तुम तो चेतन हो। चेतन होकर भी इस गुण को ग्रहण नही कर सकते?

जैसे वृक्ष किसी को दु ख नही पहुचाता, उसी प्रकार मनुष्य किसी को दु ख न पहुचावे, तो फिर ससार मे कोई किसी का शत्रु ही न रहे।

कदाचित् आप सोचेगे कि हम ऐसे सरल बन जाएगे तो शत्रु हमे मार ही डालेगे। परन्तु वृक्ष इस विषय मे क्या कहता है? वृक्ष कहता है – मैं किसी दूसरे के द्वारा नहीं काटा जाता, किन्तु अपने वशजो द्वारा ही काटा जाता हू।

अगर कुल्हाडी मे लकडी का हत्था न हो तो वृक्ष मे घाव लग सकता है? पर वह कट नही सकता। वह जब कटता है तो अपने वशज लकडी के हत्थे की सहायता से ही कटता है। इसी प्रकार तुम्हारे प्रति अगर कोई वैर रखता हो तो भी जब तक तुम अपने मन की सहायता न दो, वह तुम्हारा कुछ भी नही कर सकता। तुम शत्रु के हाथ मे अपने मन का हत्था देते हो तभी कुल्हाडारूपी वैर तुम्हारा अनिष्ट कर पाता हे। तुम अपने मन को वैर की ओर न जाने दो तो तुम्हारा कोई कुछ भी नही बिगाड सकता। वृक्ष को अजातशत्रु कहने का यही हेतु हे। वृक्ष कितने उपकारक हैं, फिर भी लोग अपने मौज–शौक के लिए उन्हे काट गिराते हें।

घाटकोपर मे में जगल गया था। लोटते समय मैंने देखा कि जो वृक्ष थोडी देर पहले हरा–भरा खडा था, वही अव धरती पर कटा पडा है। मेर साथी साधुओ ने काटने वालो से पूछा – किसलिए तुमने इस वृश्रो को काटा हे? उन्होने उत्तर दिया – इस वृक्ष के कोयले से चूने की भट्ठी पकाई जाएगी। पके हुए चूने को वगला वनाने के लिए काम मे लाया जाएगा।

इस प्रकार वगले वनवाने के लिए ऐसे उपकारी हरे–भरे वृक्षा का काट फेका जाता हे।

मैने हदीसो को देखा है। उनमे 'कतिलुल हाजर' को महापाप माना गया है। अर्थात् हरे वृक्षो को काटना अपराध है। हरे वृक्ष सब को शाति देते है, परन्तु बगले सब को शाति नही दे सकते। केवल मकानो के लिए ही वृक्ष नही काटे जाते, किन्तु आजकल तो मशीनो के कारण वृक्ष का व्यापक विनाश हो रहा है। इजनो मे भी लकडी और कोयला काम मे लाया जाता है और इसके लिए वृक्ष काटे जाते है। इस प्रकार यत्रो ने वृक्षो का विशेष विनाश किया है। मगर वृक्षो के नाश के साथ प्रकृति के सौन्दर्य का और तुम्हारे सुख का भी नाश हो रहा है।

बाग मे वृक्ष के नीचे जो महात्मा बैठे थे, वे भी वृक्ष के समान ही सहनशील थे। कैसी भी आपत्ति क्यो न आ पडे, उसे समतापूर्वक सहन करने वाले थे। तुम भी वृक्ष के समान सहनशील बनो तो तुम्हारी आत्मा गुणशील बनेगी और तुम्हारा कल्याण होगा।

इस गाथा मे बतलाया गया है कि राजा ने साधु को देखा। अतएव यहा देखना है कि साधु किसे कहत है? साधु शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है –

साधयति स्व पर कार्याणि इति साधु.।

अर्थात् जो अपना और दूसरो का कार्य साधता है, वह साधु कहलाता है। नदिया जाती तो समुद्र की ओर है, पर जिधर से जाती है, उधर के आस–पास के प्रदेश को सीचती और फलद्रूप बनाती जाती है। इसी प्रकार साधु भी अपना कार्य सिद्ध करते हुए दूसरो का कार्य साधते है, जैसे वृक्ष स्वभावत फलते–फूलते हैं और यह नही सोचते कि हम दूसरो के लिए फले–फूले, फिर भी दूसरो के उपकारक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार साधु भी अपना कार्य साधते हुए दूसरो का उपकार करते है। जैसे वृक्ष अपनी प्रशसा से हर्ष और निन्दा से विषाद का अनुभव नही करता, उसी प्रकार साधु भी अपनी निन्दा से दु खी नही होते और प्रशसा से फूलते नहीं। जैसे वृक्ष पत्थर मारने वाले को भी फल–फूल, अन्तत छाया देते हैं, उसी प्रकार साधु निन्दा करने वाले को भी तत्त्व का बोध देते है और अपनी आत्मा के समान मानते है।

इस प्रकार जो स्वय मुक्ति की साधना करते हैं और उपासना करने वाले को मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, वे साधु है। प्रश्न किया जा सकता है कि गाथा मे जब 'साधु' शब्द का प्रयोग किया गया है तो फिर उसी के समानार्थक 'सयत' पद का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न

के उत्तर मे टीकाकार कहते हैं कि साधुता गृहस्थो मे भी हो सकती है। आरम्भ–समारम्भ मे रहने पर भी गृहस्थ स्व–पर का कल्याण साध सकता है। साहित्य मे गृहस्थ को भी साधु शब्द से सम्बोधित किया गया है। जो अपने स्वार्थ का साधन करता हुआ परमार्थ को नहीं भूल जाता, वह गृहस्थ भी साहित्य मे साधु कहा गया है।

गृहस्थ की यह साधुता तुम्हे भी सीखनी चाहिए और वृक्षो से भी शिक्षा लेनी चाहिए। वृक्ष अपने काटने वाले को भी शीतल छाया देता है। इसी प्रकार तुम भी दूसरो का उपकार करो। स्त्री–पुत्र आदि कुटुम्बी जनो को तो छाया देते ही हो, उनकी सार–सभाल रखते ही हो, परन्तु जव कोई गरीब तुम्हारे यहा आकर छाया मागे तो उसे दुतकारो मत।

श्रीज्ञातासूत्र मे मेघकुमार का वर्णन है। उसके पूर्वभव का वृत्तात बतलाते हुए कहा गया है कि एक हाथी ने अपने रहने के लिए जगल मे चार कोस का मडल बनाया था, परन्तु जब जगल मे दावानल सुलगा तो दूसरे–दूसरे प्राणी अपने प्राणो की रक्षा के लिए उस मडल मे आ गये। तब हाथी ने उन प्राणियो को बाहर नही निकाल दिया, वरन् स्थान दिया। जो प्राणी उसके मडल मे आये थे, वे उसके आत्मीय या सजातीय नही थे, फिर भी उसने विचार किया – जैसे मुझे आश्रय की आवश्यकता है, उसी प्रकार इन जीवो को भी आश्रय चाहिए। आश्रय पाने के लिए ही ये यहा आए हैं। अतएव इन्हे आश्रय देना ही चाहिए।

हाथी की उदारता कितनी महान् है। हाथी ने कितने शास्त्रो और कितनी पुस्तको का स्वाध्याय किया था कि उसमे इतनी बडी उदारता आ गई? तुमने शास्त्रो का स्वाध्याय किया हे, पुस्तके पढी हैं, फिर भी ऐसी उदारता क्यो नहीं आई? तुम तो पढे–लिखे हो। तुम मे कोई बीए हे कोई एमए हे ओर किसी ने सरकार से रायबहादुर का खिताब पाया है, फिर भी तुम्हे इस प्रकार की उदारता का विचार क्यो नही आता?

हाथी ने उन जीवो को अपने मडल मे स्थान दिया। इतना ही नही कितनेक प्राणी उसके पेरो के बीच मे जो स्थान था उसमे भी आ घुस। फिर भी उसे क्रोध नहीं आया। उसने शरीर खुजलाने के लिए पेर ऊचा किया तो मोका पाकर एक खरगोश उस खाली जगह मे वेठ गया। ऐसे समय हाथी को क्रोध आ सकता था। वह चाहता तो पेर जमीन पर रख देता आर खरगोश का कचूमर निकल जाता। चाहता तो सूड से पकडकर दूसरी जगह फक दता मगर हाथी ने ऐसा नहीं किया। उसने विचार किया कि खरगोश आग क भय

से यहा आया है, अतएव उसे आश्रय मिलना ही चाहिए। यह विचार करके उसने अपना पैर ऊपर ही उठाये रखा। बहुत देर तक ऊचा रखने के कारण पैर अकड गया और हाथी धडाम से धरती पर गिर पडा। परन्तु अपनी उदारता के कारण उस श्रेणिक राजा के पुत्ररूप मे जन्म लिया। आपको विचार करना है कि जब हाथी मे भी इतनी उदारता एव करुणा थी तो आप मे कितनी उदारता होनी चाहिए?

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार गृहस्थ भी साधुता को धारण कर सकते है। राजा श्रेणिक ने जिन साधु को देखा था, ऐसे गृहस्थ साधु नही थे। इस बात को प्रकट करने के लिए 'सयत' पद दिया गया है, अर्थात् वह महात्मा आत्मा की यतना करने वाले सयमी थे।

साधु और सयत के साथ महात्मा को 'सुसमाहिय' भी कहा है। 'सुसमाहिय' का अर्थ है – उत्तम समाधि वाले। प्रश्न है – यह विशेषण किसलिए दिया गया है? इसका उत्तर यह है कि कुछ लोग सयत तो होते है और सयत के योग्य सब क्रियाए भी करते है, परन्तु तत्त्वो की श्रद्धा उल्टी रखते है, जैसे गोशालक और जमाली। जमाली की बाह्य क्रिया उत्तम कोटि की थी, परन्तु श्रद्धा विपरीत थी, अतएव साधु सयत होने पर भी वह समाधिमान् नही था। यह महात्मा विपरीत श्रद्धा वाले नही थे, उन्हे तत्त्वो के स्वरूप मे कोई भ्रम नही था, ये बात स्पष्ट करने के लिए उन्हे सुसमाहित कहा गया है।

वे साधु सुकुमार थे। जो कामदेव को पूरी तरह जीत ले, वह सुकुमार कहलाता है। उनका शरीर ऐसा था कि कामदेव को भी जीत ले। अतएव उन्हे सुकुमार कहा गया है।

उन महात्मा के लिए 'सुहोइय' विशेषण भी दिया गया है। 'सुहोइय' का अर्थ – सुख के योग्य। जो सुख मे पला हो, जिसने कभी कष्ट न देखा हो, वह शरीर से सुखी कहलाता है। किसी मनुष्य ने पहले कष्ट भोगे हो तो वर्तमान मे कष्ट न होने पर भी उसके शरीर पर कष्टो की छाया रह जाती है और बारीकी से देखने वाला समझ लेता है कि इसने कष्ट भोगे हैं। किन्तु पहले कष्ट भोगने पर भी उनके शरीर पर दुख का कोई चिह्न नही था। अतएव मुनि का शरीर सुखी जान पडता था।

इसके सिवाय 'सुहोइय' का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि उनका शरीर सुख के योग्य था, अर्थात् वे सुख भोगने योग्य रूपवान् थे। तीसरे, वे शुभोचित थे, अर्थात् शुभ गुणो वाले थे।

राजा श्रेणिक साधु के पास जाने के उद्देश्य से बाहर नहीं निकला था। फिर भी कौन जाने कब और किस प्रकार आत्मकल्याण के साधन मिल जाते हैं। इधर राजा श्रेणिक का बाग मे घूमने के लिए जाना और उधर अनाथी मुनि का आगमन होना ऐसा सुन्दर योग था। इस सुयोग के होने मे भी कोई गुप्त शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान थी, यह मानना ही पडता है। तुम भले प्रत्यक्ष से यह बात न मानो, परन्तु अनुमान से तो मानना ही पडेगा।

राजा ने मुनि को देखा। मुनि को देखकर वह उनकी ओर ऐसे आकर्षित हुआ जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है। मुनि पर दृष्टि पडते ही उसके मन मे आया –

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइण्णो तमि सजए।
अच्चंत परमो आसी अउलो रूव विम्हओ।।5।।
अहो वण्णो! अहो रूवं! अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खती! अहो मुत्ती!, अहो भोगे असंगया।।6।।

अर्थ – मुनिराज के रूप को देखकर राजा श्रेणिक को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आश्चर्यचकित राजा अपने मन मे कहने लगा–अहा, इन आर्य का वर्ण कैसा है! इनका रूप कैसा है! इनकी सरलता और शीतलता कैसी है ! इनकी क्षमा और निर्लोभता कैसी अद्‌भुत है। इनकी भोगो के प्रति निस्पृहता कैसी अनूठी है!

व्याख्यान – नाम की महिमा तो गाई जाती है, परन्तु नाम के साथ रूप का भी सम्बन्ध हे। साधारणतया किसी को पहिचानने के लिए नाम का उपयोग किया जाता है, परन्तु कभी–कभी रूप से भी नाम जाना जाता है। राजा मुनि के रूप को देखते ही समझ गया कि यह मुनि सयत और सुसमाधिमान् है।

स्थानाग सूत्र मे चार प्रकार के सत्य कहे गये हैं। नाम से भी सत्य होता है, स्थापना से भी सत्य होता हे, द्रव्य से भी सत्य होता है, और भाव से भी सत्य होता हे। नाम से सत्य होता है इसमे भी समझने की आवश्यकता है। किसी ने अपना नाम ही मिथ्या बतलाया हो। रूप से भी सत्य सिद्ध किया जा सकता हे, किन्तु किसी ने रूप ही झूठा बना लिया हो तो? अतएव नाम या रूप सत्य है या नहीं इस बात की परीक्षा करने की आवश्यकता रहती है। लोग छल–कपट स भी काम लेते हैं अतएव सावधानी रखनी चाहिए।

कोई मनुष्य तुम्हारे पास आकर और झूठा नाम लेकर धोखा दे तो यह खोटा काम कहलायगा या नही? और वह अपराधी गिना जायेगा या

नही? इसी पकार साधु न होने पर भी कोई साधु होने का ढोग करे तो वह बुरा कहा जायेगा या नही? कोई पीतल को सोना कहकर ठगाई करे तो यह अपराध माना जायेगा या नही? जैसे कितने ही लोग कलचर मोती को असली मोती कहकर बेचते है, उसी पकार भाव मे भी धोखेबाजी चलती है। शास्त्र मे कहा है –

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरा।
आयार भावतेण य, कुवइ देव किव्विस।।

तप, रूप, वय, आचार–विचार आदि की चोरी करना, इनके विषय मे मिथ्या भाषण करना भाव–चोरी है। जो भाव अपना न हो, दूसरे का हो, फिर भी उसे अपना बतलाना भी भाव–चोरी है। जैसे दूसरे की बनाई कविता को अपनी बनाई कहना, अथवा किसी की कविता के भाव लेकर उस पर अपना नाम दे देना यह भाव–चोरी है। भगवान् ने कहा है कि नाम, स्थापना, दव्य और भाव, ये चारो सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते है। अतएव इस विषय मे बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

वे मुनि वास्तव मे रूपवान् थे। जैसा उनका रूप था वैसे ही उनके गुण थे। रूप बनावटी है या वास्तविक, यह बात मुखाकृति देखते ही मालूम हो जाती है। बनावटी रूप छिपा नही रह सकता। मुनि का रूप देखते ही राजा विस्मय मे पड गया और मन मे कहने लगा – अहा, ये मुनि कैसे अतुल रूपवान् हैं! ऐसा रूपवान् तो मैने कही नही देखा।

राजा श्रेणिक स्वय कितना सुन्दर था, इसका वर्णन शास्त्र मे आया है। एक बार वह सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके अपनी रानी चेलना के साथ भगवान् महावीर के समवसरण मे गया था। भगवान् के समवसरण मे स्वभावत वीतरागता का वातावरण रहता है। फिर भी श्रेणिक की सुन्दरता देखकर साध्विया भी मुग्ध होकर सोचने लगी – यह पुरुष कितना सुन्दर है! हमारे तप और सयम के फलस्वरूप हमे ऐसे ही सुन्दर पुरुष की प्राप्ति हो। इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर साधुओ ने निदान किया था – 'हमारे तप और सयम के फलस्वरूप हमे ऐसी सुन्दरी स्त्री प्राप्त हो।' कहने का अभिप्राय यह है कि श्रेणिक स्वय अतिशय रूप–सम्पन्न था।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि रूप स्त्रियो मे अधिक होता है या पुरुषो मे ? साहित्य मे कवियो ने स्त्रियो के रूप का वर्णन करते हुए सभी पदार्थो को स्त्रियो के रूप के सामने तुच्छ बतलाया है, किन्तु भर्तृहरि इसे कामान्धता कहकर कहते हैं –

स्तनौ मासग्रन्थी कनक कलशावि त्युपमितौ,
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम।
स्त्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवर कर स्पर्द्धि जघनम्
अहो निद्य रूप कविजन विशेषैर्गुरुकृतम्।।

जिसका जिस वस्तु पर राग होता है वह उसकी प्रशसा करता है, यह स्वाभाविक है, किन्तु भर्तृहरि वैरागी थे। वे कहते हैं – जो रूप अनेक प्रकार से निन्द्य है, उस स्त्री के रूप को कवि वृथा ही महत्त्व देते हैं। स्त्रियो के स्तन मास के उभरे हुए पिण्ड के सिवाय और क्या हैं? मगर कविजन उन्हे कनक–कलश कहकर महत्त्व प्रदान करते हैं। यह उनकी मोहान्धता ही है।

मोहान्ध मनुष्य खराब वस्तु को भी अच्छी कहता है। यूरोपीय कवि भी कहते हैं कि जब मनुष्य कामान्ध बन जाता है तब खराब चीज को भी अच्छी कहने और मानने लगता है।

भर्तृहरि आगे कहते हैं – स्त्रियो का मुख भी कफ, पित्त और श्लेष्म–थूक के घर के अतिरिक्त और क्या है ? फिर भी कवि उनके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं। यही नही, स्त्रियो के मुख के सामने चन्द्रमा को भी तुच्छ बतलाते हैं। स्त्रियो को कवि हसगामिनी और गजगामिनी कहते हैं। इस प्रकार उन्होने स्त्रियो के अग–प्रत्यग का वर्णन करके उनके रूप को बहुत महत्त्व दिया है।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वास्तव मे स्त्रियो मे ही रूप है, पुरुषो मे नही? इस सम्बन्ध मे कवियो का कथन है कि अन्यान्य बातो मे पुरुष, स्त्रियो से बढ कर हैं, किन्तु रूप की दृष्टि से तो स्त्रिया ही पुरुषो से बढी–चढी हैं। स्त्रियो के रूप की ज्वाला मे पुरुष पतग की तरह अपने प्राण होम देता है। स्त्रियो के रूप की मोहिनी पुरुषो को पागल बना देती है।

सीता की रूपमोहिनी ने ही रावण का सकुटुम्ब विनाश किया। होल्कर राजा ने इसी रूपमोहिनी के फेर मे पडकर राज्य का त्याग किया और दामोदरलालजी भी एक वेश्या के रूप के पीछे पायमाल हुए।

इस प्रकार कवियो क कथनानुसार स्त्रिया के रूप के कारण ही पुरुष उनके गुलाम बन रह हं। परन्तु वास्तव मे ही यदि स्त्रियो मे अधिक रूप हैं आर पुरुषो मे कम, तो स्त्रिया रूप को बढाने क लिए क्यो कृत्रिम साधना का उपयोग करती ह? स्वाभाविक रूप से जिनके दात अच्छे और मजबूत होगे वे लोग क्यो नकली दात लगवाएगे? जिनके नेत्र तेजस्वी हैं वे चश्मा क्या चढाएगे? जिनके प्राकृतिक साधना म कमी होती हे, वही लोग कृत्रिम साधना

की सहायता लेते है। इसी पकार अगर स्त्रियो मे स्वभाविक पूर्ण सौन्दर्य है तो फिर वे सौन्दर्यवर्द्धन के लिए कृत्रिम साधनो का उपयोग क्यो करती है? जब उन्हे अपने मे सौन्दर्य की न्यूनता दृष्टिगोचर होती है, तभी तो कृत्रिम साधनो द्वारा शृगार सजाती हैं और इस पकार अपने रूप को बढाने का प्रयत्न करती हैं।

अभिपाय यह है कि स्त्रियो मे रूप की कमी है। इसी से उन्हे कृत्रिम साधनो का पयोग करना पडता है। इस दृष्टि से देखे तो पतीत होगा कि स्त्रियो मे पुरुषो से अधिक रूप-सौन्दर्य नही होता। प्राकृतिक रचना की दृष्टि से भी पुरुष, स्त्रियो की अपेक्षा अधिक सुन्दर होते है। ऐसी स्थिति मे केवल मोहान्धता के कारण ही पुरुष, स्त्रियो को अधिक रूपवती गिनते हैं।

मोर और ढेलडी की सुन्दरता देखी जाय तो मोर की सुन्दरता ही श्रेष्ठ पतीत होगी। मोर की गर्दन और पखो जैसी ढेलडी की गर्दन और पख सुन्दर नही होते और न वह मोर के रग जैसी शोभायमान ही होती है। मुर्गा और मुर्गी को देखिए। मुर्गे की चोच जैसी लाल होती है, वैसी सुन्दर और लाल चोच मुर्गी की नही। गाय और साड को देखा जाय तो गाय की अपेक्षा साड अधिक सुन्दर प्रतीत होगा। जैसे सुन्दर सीग हरिण के होते है, वैसे हरिणी के नही होते। सिह की गर्दन पर जैसी सुन्दर अयाल होती है, सिहनी की गर्दन पर नही होती। हाथी के दात जितने सुन्दर और लम्बे होते है, हथिनी के उतने सुन्दर और लम्बे नही होते।

इस प्रकार पशुओ-पक्षियो मे भी मादा की अपेक्षा नर ही अधिक सुन्दर होता है तो फिर मनुष्य-जाति मे, जो सब प्राणियो मे उत्कृष्ट गिनी जाती है, पुरुष कम और स्त्रिया अधिक सुन्दर कैसे हो सकती है? वास्तव मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुष अधिक रूपवान् होते हैं, किन्तु कामान्ध लोग पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो को अधिक रूपवान् मानते और कहते है।

जो महापुरुष पहले स्त्रियो मे अधिक सौन्दर्य मानते थे, वे भी जब उनके जजाल मे से छूट गये तो कहने लगे कि स्त्रियो मे ऐसा क्या सौदर्य है कि जिसकी कविजन प्रशसा करते है। जिस प्रकार मछली अवसर मिलते ही जाल मे से निकल भागती है, इसी प्रकार महापुरुष भी अवसर पाते ही स्त्रियो के जाल मे से भाग छूटते है और छूट जाते है तो उन्हे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि स्त्रियो मे कोई रूप सौंदर्य नही।

भर्तृहरि भी पहले पिगला को ही अपना सर्वस्व समझते थे, पर जब पिगला के जाल मे से छूटे तब वे भी कहने लगे कि स्त्रियो मे वास्तव मे रूप-सौंदर्य नही, कामीजन उनमे सौंदर्य की कल्पना करते है।

सुनते हैं, लैला, जिसके पीछे मजनू ने अपने प्राणो की भी परवाह नही की, देखने मे वहुत कुरूप थी। फिर मोहान्धता के कारण मजनू को वह इतनी अधिक प्रिय लगी कि उसने उसके पीछे प्राणो का भी मोह नही किया। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मोह के कारण ही स्त्रियो मे अधिक रूप माना जाता है और जहा रूप–सोंदर्य नहीं होता, वहा रूप–सौंदर्य की कल्पना कर ली जाती है।

मोहान्धता के कारण भिन्न–भिन्न देशो मे भिन्न–भिन्न प्रकार की स्त्रियो को सुन्दरी समझा जाता है। यूरोप मे चमकीली आखो वाली और भूरे रग के बाल वाली युवती, चीन मे चपटी नाक वाली युवती और सोमालीलैंड मे मोटे ओष्ठ वाली युवती रूपवती और सुन्दर मानी जाती है। भारत मे ऐसी स्त्री मे सौंदर्य की कल्पना नही की जा सकती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मोहान्धता के कारण ही अपनी–अपनी रुचि के अनुसार स्त्रियो को रूपवती और सुन्दरी मान लिया जाता है।

यह सव मोह की लीला है। इसी मोहलीला के कारण राजा श्रेणिक को देखकर साध्वियो ने और रानी चेलना को देखकर साधुओ ने अपने तप–चरित्र को वेचकर रूप सौंदर्य की इच्छा की थी। फिर तो सर्वज्ञ भगवान् ने सारा भेद जानकर और निदान का स्वरूप समझा कर तथा प्रायश्चित्त देकर उन्हे शुद्ध किया था और साधु–साध्वियो ने भी प्रायश्चित्त द्वारा पाप की शुद्धि की थी, परन्तु कहने का आशय यह हे कि जिस श्रेणिक का रूप देखकर साध्विया भी मोहान्ध वन गई थी, वही श्रेणिक मुनि का अतुल रूप देखकर आश्चर्य मे पड गया।

श्रेणिक जेसा रूपवान् राजा जिन मुनि के रूप की प्रशसा करने लगा, वे मुनि कितने रूपवान् होगे! यह अनुमान करना कठिन नही हे। मुनि ने रूपवृद्धि के लिये वस्त्राभूपण धारण नही किये थे फिर भी उनका रूप केसा अनुपम था! इस पर स्त्रियो ओर पुरुषो को समझना चाहिए कि शरीर की चमडी पर रहने वाला रूप–सोंदर्य ही सच्चा रूप–सोंदर्य नही हे। सच्चा सौंदर्य तो अन्तरात्मा मे रहता हे। इसलिए चमडी के सोदर्य के भ्रम म मत पडा। अन्तरतम का रूप–सोंदर्य ही मुख पर झलक उठता हे।

मुनि वृक्ष के नीचे वेठ थ। उनक शरीर पर आभूपण नही थे फिर भी वस्त्राभूषणो से सुशोभित सुरूपवान् राजा श्रेणिक ने मुनि म एसा क्या रूप–सादर्य दखा कि उसके आश्चर्य का पार न रहा?

इसका उत्तर यह है कि जो जिसका परीक्षक होता है, वही उसकी ठीक परीक्षा कर सकता है। हीरे की परीक्षा जौहरी कर सकता है। सुनते है— कोहिनूर हीरा, जो आज ससार का सर्वश्रेष्ठ हीरा गिना जाता है, एक किसान को, कृष्णा नदी के किनारे मिला था। वह किसान उस हीरे की कीमत न आक सका। उसका मूल्याकन जौहरी ने ही किया। इसी प्रकार रूप बाहर की चमडी पर नही, हृदय मे रहता है। परन्तु उस रूप को तो हृदय का परीक्षक ही जान सकता है। राजा श्रेणिक हृदय का परीक्षक था। इसी कारण मुनि के हृदय का अतुल रूप उनकी मुखाकृति और आखो मे झलका देखकर वह चकित रह गया।

दयालु सत्यवादी सदाचारी, की तथा हिसक, असत्यवादी और दुराचारी की आखो मे क्या अन्तर होता है? यह बात तो आप भी जानते होगे। कौन मनुष्य कैसा है? इसकी परीक्षा उसकी आखे देखकर की जा सकती है। दयालु और सदाचारी के रूप पर देव भी मुग्ध हो जाते है। देव स्वय रूपवान और वैक्रिय रूप धारण करने वाले होते हैं। किन्तु वे भी सत्यवादी और सदाचारी मनुष्य के हृदय का रूप देखकर उस पर मुग्ध हो जाते है।

तुम भी हृदय के रूप को प्राप्त करो और कदाचित् न कर सको तो जिनमे हृदय का सुन्दर रूप हैं, उनकी प्रशसा करो। ऐसा करने से भी तुम्हारा कल्याण होगा।

उपमान और उपमेय के विषय मे लोग प्राय भूल कर बैठते हैं। स्त्रियो का रूप वर्णन करते हुए उपमा देने मे जो भूले हुई हैं, उनके सम्बन्ध मे कुछ विचार किया जा चुका है। पर राजा श्रेणिक मुनि के रूप के विषय मे किसी प्रकार की भूल नही करता। वह अपने रूप के साथ मुनि के रूप की तुलना करता है। उसे मुनि का रूप अधिक जान पडता है। जब मुनि के रूप की तुलना मे किसी का रूप नही टिक सका, तब वह कहता है – अहा, इन मुनि का रूप तो अतुल है।

जिसकी आखो पर काम—विकार का चश्मा चढा होता है, वह कुरूप स्त्री मे भी सुन्दरता ही देखता है। परन्तु मुनि को देखने मे राजा की आखो पर वह चश्मा नही चढा था। फिर भी राजा को मुनि का रूप अतुल प्रतीत हुआ।

किसी प्यासे मनुष्य के आगे खुशबूदार तेल की सुन्दर शीशी रखी जाय और दूसरे मिट्टी के पात्र मे सादा पानी रखा जाय, तो वह दोनो मे से किसे पसन्द करेगा? प्यास न लगी होने की हालत मे भले कोई तेल ले ले,

किन्तु जब प्यास से कठ सूख रहा होगा, तब तो वह तेल के बदले पानी लेना ही पसन्द करेगा, फिर भले वह मिट्टी के बर्तन मे ही क्यो न हो? इसी प्रकार भूखे मनुष्य को रूखी–सूखी ज्वार या बाजरी की रोटी और दाल दी जाय, दूसरी ओर मिट्टी के बने सुन्दर केले, अनार आदि खिलौने दिए जाए, तो भूखा मनुष्य दोनो मे से किसे पसन्द करेगा? उत्तर स्पष्ट है। भूखा आदमी रोटी लेना चाहेगा और मूल्यवान् खिलौनो को भी तुच्छ समझेगा।

इसी प्रकार राजा भी मुनि के रूप के सामने सब रूपो को तुच्छ मान रहा था। वह विचार करता है कि दूसरो के रूप से मेरी भूख–प्यास नही बुझ सकती, परन्तु इस मुनि का रूप मेरी भूख–प्यास को बुझा सकता है। यह सोचकर राजा कह उठता है – अहो वर्ण! अहो रूप!

वर्ण और रूप मे क्या अन्तर है, यह देखना चाहिए। शरीर के सुन्दर आकार के अनुसार जिसका रग सुन्दर होता है, उसे सुवर्ण कहते हैं। सोने को भी 'सुवर्ण' कहा जाता है, पर किस कारण? अगर रग के कारण ही सोना सुवर्ण कहलाता हो तो पीतल का रग भी सोने के समान ही पीला होता है। फिर उसे भी सुवर्ण क्यो नही कहा जाता? असली बात यह है कि सोने मे और भी विशेषता है। कहा जाता है कि सोना भले हजार वर्ष तक धरती मे गडा रहे, लेकिन जब निकाला जाता है तो पहले के बराबर ही वजन मे रहता है, कम नही होता। इसके सिवाय उस पर जग भी नही चढता। पीतल का रग भी पीला हे, परन्तु सोने मे जो विशेषता है, वह उसमे नही। पीतल पाच–दस वर्ष तक ही जमीन मे गडा रहे तो उस पर जग चढ जाएगी और वह सड जाएगा। सोने मे ऐसा चिकनापन होता है कि वह सडता नही। दूसरे वह वजन मे भारी भी होता हे। तीसरे उसके परमाणुओ मे ऐसा लोच होता हे कि उसमे से पतले से पतले तार खीचे जा सकते हे। इस प्रकार सोने मे रग के साथ कुछ ऐसी विशेषताए हे, जिनके कारण वह सुवर्ण कहलाता हे किन्तु पीतल सुवर्ण नही कहलाता।

राजा श्रेणिक दूसरो के वर्ण के साथ मुनि के वर्ण की तुलना करके फिर कहता हे – यह वर्ण तो अतुल–अनुपम हे। अहा केसा असाधारण वर्ण हे यह! दूसरे वर्णो पर तो देर–सवेरेर जग चढ जाती हे परन्तु इनका वर्ण ता ऐसा ह कि उस पर जग चढ नही सकती। इस प्रकार विचार करक राजा मुनि के वर्ण के विषय म चकित हा गया।

कहा जा सकता ह कि मुनि के रूप मे दूसरा क रूप स क्या विशषता थी? इसका उत्तर यह हे कि अन्य धातुआ की अपेक्षा सोन म जा विशषता हाती हे वही अन्य क रूप की अपेक्षा मुनि के रूप म हाती हे।

सोने की भाति मुनि को अगर पृथ्वी मे दबा दिया जाय तो क्या उनके शरीर पर दाग न लगेगा? क्या उनका पाणान्त न हो जाएगा? इसका उत्तर यह है कि जो नाथ है, ऐसे उन मुनि को जमीन मे गाड देने की हिम्मत किसमे है? सोना जड है, इस कारण वह गाडा जा सकता है और आग मे तपाकर पिघलाया जा सकता है, किन्तु मुनि को कौन गाड सकता है और कौन सोने की तरह पिघला सकता है? उन्हे आग तपा नही सकती और पवन हिला नही सकता।

मुनि का ऐसा रूप क्यो था, यह आगे बतलाया जाएगा। यहा तो केवल यही कहना है कि उनका रूप अतुल अर्थात् अनुपम था। उसके सामने देवता का रूप भी तुच्छ था। देव का रूप तो कभी–न–कभी बिगड जाता है, किन्तु मुनि का रूप ऐसा था कि कभी बिगड ही न सके।

दूसरे लोग रूप के गुलाम होते है, पर मुनि रूप के नाथ थे। राजा श्रेणिक भी सोचता है, 'हम लोग तो रूप के गुलाम है, पर ये मुनि तो रूप के नाथ है। उनकी आखो मे अजन नही आजा गया है, शरीर पर कोई आभूषण नही है, उन्होने सुन्दर वस्त्र भी नही पहने है, फिर भी कितना सुन्दर रूप है। इस रूप के सामने मेरा रूप तुच्छ है।

तुमने अपने हाथ मे हीरे की अगूठी पहनी हो और दूसरे के हाथ मे सोने की अगूठी पहनी देखो तो तुम्हे कोई आश्चर्य नही होगा। अपनी अगूठी को तुच्छ भी नही समझोगे। हा, अगर तुमने चादी की अगूठी पहनी हो और दूसरे ने हीरे की, तो तुम्हे अपनी अगूठी तुच्छ प्रतीत होगी। तुम यही सोचेगे कि मेरे पास तो कुछ भी नही है। जो कुछ है वह इसी के पास है। इस प्रकार राजा के जिस रूप को देखकर साध्विया भी ललचा गई थी, वही श्रेणिक मुनि के रूप के सामने अपने रूप को तुच्छ मानकर सोचने लगा कि मेरा रूप विकारी है, किन्तु इन मुनि का द्रव्यरूप और भावरूप निर्विकारी है।

आज के लोग द्रव्यरूप के सामने भावरूप को भूल रहे है। मगर आखिर तो भावरूप की ही शरण मे जाना पडता है। भावरूप के समक्ष द्रव्यरूप तुच्छ है। द्रव्यरूप हो और भावरूप न हो तो उसकी कोई कद्र नही होती।

यहा मैंने देखा कि एक ब्राह्मण मिट्टी के शकर, पार्वती, नाग, गणेश आदि कलापूर्वक बनाता है, परतु दूसरे ही दिन उन्हे नदी मे विसरा देता है। इसी प्रकार गणगौर भी कलापूर्वक सजाई जाती है और उन्हे सुन्दर वस्त्राभूषण भी पहनाये जाते हैं, किन्तु खेल समाप्त होते ही गणगौर को पानी मे फेक दिया

जाता है। गणगौर का तो रानी आदि भी सम्मान करती हैं, परन्तु उनके पास खडी जीवित स्त्री का उतना सम्मान नही किया जाता। तो क्या वह स्त्री गणगौर से भी गई बीती है? गणगौर को नदी मे फेक दिया जाता है, क्योकि उसमे केवल द्रव्यरूप ही है, भावरूप नही हैं। परन्तु उस स्त्री मे कदाचित् द्रव्यरूप न हो, पर भावरूप तो है ही। अतएव उसे कोई नदी मे नहीं फेक सकता। ऐसा करने का किसी को अधिकार नही। उसके पति को भी नहीं।

इस प्रकार द्रव्यरूप की अपेक्षा भावरूप ही उत्तम है, फिर भी आज के लोग भावरूप को भूलकर द्रव्यरूप मे ही फसे हुए हैं। इस भूल को दूर करके समझना चाहिए कि पौद्गलिक वस्तुए नाशवान् हैं। उनमे सौंदर्य की कल्पना करना कल्पना मात्र ही है।

इतने विवेचन के बाद वर्ण और रूप के अन्तर को समझना आसान होगा। कुशल कारीगर सोने के जेवर का सुन्दर घाट बनाता है और फूहड कारीगर उसी सोने का भद्दा घाट बनाता है। द्रव्य एक–सा होने पर भी कारीगरी के भेद से आकृति मे भेद हो जाता है। इसी प्रकार रग तो अच्छा हो, पर आकृति अच्छी न हो – नाक – कान आदि अवयव बेडोल हो तो रग क्या अच्छा लगेगा? रग तभी अच्छा लगता है जब उसके साथ आकृति भी अच्छी हो। मुनि की आकृति भी अच्छी थी और रग भी अच्छा था। यह बतलाने के लिए वर्ण के साथ रूप का भी उल्लेख किया गया है।

किसी की आखे छोटी और किसी की बडी होती है। किसी की आखो मे लाल रेखा होती हे, किसी की आखो मे नही होती। इन दोनो प्रकार की आखो मे कुछ अन्तर माना जाता हे या नही? यद्यपि दोनो प्रकार की आखो को नापा जाय तो कोई विशेष अन्तर नही पडेगा, फिर भी दोनो मे बडा अन्तर समझा जाता हे।

सीता के स्वयवर मे बडे–बडे राजा भी आये थे और राम भी आये थे। नाप की दृष्टि से राम की और दूसरे राजाओ की आखो मे कोई खास अन्तर न पडता, फिर भी गहरा विचार करने स उनमे अवश्य अन्तर जान पडेगा। सीता को राम दूसरी दृष्टि से देखत थे और दूसर राजा दूसरी दृष्टि से। दूसरे राजा सीता के रूप पर मुग्ध थे, राम नही। वे शाति से बैठे सोच रहे थे – सीता का गरज होगी तो वह आप ही आएगी।

जो अपूर्ण होता हे वही ललचाता हे पूर्ण नही ललचाता। राम ललचाये नहीं। व दूसर राजाओ की तरह धनुर्वेध के लिए नही दौडे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि कोई दूसरा धनुर्वेध करके पहले ही सीता को न ले जाय।

वे तो यही सोच रहे थे कि कोई सीता का वरण कर ले तो भी मेरी क्या हानि है? किसी की इच्छा पूरी हो जाय तो अच्छा ही है।

यह सोच कर राम मस्ती मे बैठे रहे। किन्तु जब कोई भी राजा धनुर्वेध न कर सका, तब राजा जनक ने कहा –

वीरविहीन मही मै जानी।

अर्थात् आज ऐसा जान पडता है कि यह पृथ्वी वीरो से खाली हो गई है। इस धराधाम पर एक भी वीर नही रहा।

राजा जनक का यह कथन सुनकर लक्ष्मण ने उपालभ के स्वर मे राम से कहा – आप यहा मौजूद हैं और राजा जनक यह क्या कह रहे हैं ? आपकी आज्ञा हो तो मै सारे ब्रह्माण्ड को उठा लू।

लक्ष्मण के कहने पर भी राम को उत्कठा नही हुई। यही नही, उन्होने लक्ष्मण को शात रहने का इशारा किया और स्वय उठकर राजाओ से कहा– 'किसी अन्य राजा को जोर आजमाना हो तो भले आजमावे। किसी के मन की मन मे नही रह जानी चाहिए।' ऐसा कहने पर भी जब कोई राजा न उठा तो राम ने धनुष उठाया और लक्ष्यवेध किया। प्रतिज्ञा के अनुसार सीता ने राम के गले मे वरमाला डाल दी।

इस प्रकार दूसरे राजाओ और राम की आखो मे अन्तर जान पडता है या नहीं? तुम भी राम जैसे स्वतत्र और शुद्ध दृष्टि वाले बनो तो इन्द्र भी तुम्हारा गुलाम बन जाएगा।

यहा तक 'अहो वण्णो, अहो रूव' इन दोनो पदो का व्याख्यान किया गया। इससे आगे कहा गया है – 'अहो अज्जस्स सोमया।' अर्थात् आर्य की सौम्यता भी कैसी अनूठी है। अतएव यहा 'आर्य और सौम्यता' के अर्थ पर विचार करना है।

आर्य शब्द के विषय मे श्रीपन्नवणा सूत्र मे विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। आर्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कर्म–आर्य होते हैं, कोई क्षेत्र–आर्य होते हैं और कोई धर्म–आर्य होते हैं। वे मुनि धर्म–आर्य थे। जो आर्यकर्म करते हैं वे कर्मार्य कहलाते हैं जो आर्य–धर्म का पालन करते हैं, वे धर्मार्य कहे जाते हैं।

आज तो अनेक लोग अपने–आप को आर्य कहते हैं, वास्तव मे आर्य किसे कहते हैं, इस विषय मे कहा है –

आरात् सकलहेय धर्मेभ्य इत्यार्य·।

अर्थात् जो सव त्याग करने योग्य कर्मों से दूर रहता है, वह आर्य है।

प्रश्न यह हे कि त्याग करने योग्य काम क्या है?

गृहस्थो के लिए बारह व्रत वतलाये गये हैं। इन व्रतो को दूपित करने वाले जितने भी कार्य हैं, उनसे दूर रहने वाला गृहस्थ–आर्य है। यह बात गृहस्थ–आर्य के सम्बन्ध मे हुई। परन्तु यहा मुनि को आर्य कहा है। अत मुनि को केसे कामो का त्याग करना चाहिए, यह यहा देखना है।

साधु को किन–किन कर्मो से दूर रहना चाहिये, यह विपय बहुत लम्बा है। यहा सक्षेप मे ही कहता हू। साधु के लिए सर्वप्रथम कनक–कामिनी का वर्जन वतलाया गया है। कनक और कामिनी को अपनाना साधु के लिए त्याज्य और अयोग्य है। इस प्रकार जो साधु कनक और कामिनी से दूर रहता हे, वह साधु–आर्य है।

कनक और कामिनी के लिए ससार मे अनेक प्रकार के झगडे होते हैं। इस युग मे मुद्रादेवी ने – सोने, चादी और तावे के सिक्को ने कितनी अधिक अशाति फैला दी है। यह बात आप से छिपी नही है।

आप लोग दिन–रात पैसे के लिए दौडधूप कर रहे हैं और पैसा सग्रह करके भी सुख का अनुभव नहीं कर रहे हैं। पैसे के लिए परस्पर युद्ध भी होता हे और हजारो मनुष्यो के रुधिर की नदिया बह जाती हैं। इसका वाह्य कारण कुछ भी क्यो न वतलाया जाय, परन्तु हृदय मे रही हुई द्रव्य–सग्रह की भावना ही मुख्य और असली कारण है। ससार मे जव से पैसे का आदर वढा है, तभी से ससार की दुर्दशा भी बढी हे। इतिहास को देखने से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता हे।

मैं अपने वचपन की वात कहता हू। उस समय देहाती लोग अन्न आदि देकर शाक, भाजी या मसाला ले जाते थे और वस्तु के वदले मे वस्तु लेने की प्रथा प्रचलित थी। उस समय भी सिक्के का प्रचलन तो था, परन्तु आजकल की तरह अधिक नहीं और प्राचीन काल म तो वस्तुआ का ही परस्पर विनिमय होता था। उस समय आज जेसी अशान्ति नही थी। परन्तु जव से सिक्के का चलन वढा हे तव से झगडे भी वढ गये हें ओर परिणामस्वरूप अशाति भी वढ गई है। सिक्के को सग्रह करन की वृत्ति न अशान्ति का पोषण किया ह। अव तो नोट चल पडे हैं। इन नोटो के कारण सग्रह करने की वृति को ओर भी अधिक वेग मिला हे और अशान्ति को भी इतना ही वेग मिला है।

कहने का आशय यह है कि ससार मे झगडे बढने के कारणो मे कचन भी एक पधान कारण है। साधु कचन से दूर रहते हैं। सिक्के को अपने पास भी नही रखते। इसी कारण वे आर्य कहे गये हैं।

आप लोग सिक्का या कचन का सगह करते हैं, परन्तु क्या उसे अन्न या शाक की तरह काम मे ले सकते है? पैसा खाने के काम मे नही आता, फिर भी उस पर लोगो का कितना ममत्वभाव है?

साधुओ के लिए जैसे कचन से दूर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार कामिनी से भी दूर रहना अनिवार्य है। कामिनी के कारण भी ससार मे कम झगडे नही हुए या वर्तमान मे नही हो रहे है। कामिनी के महत्त्व के कारण अशाति रहती है, परन्तु आज तो पुरुषो के कारण भी अशाति हो रही है। पहले कन्या–विक्रय के सम्बन्ध मे बहुत सुना जाता था, अब वर–विक्रय भी होने लगा है। लडका थोडा पढ–लिख गया कि उसकी कीमत बढ जाती है।

परन्तु साधु न अपने पास कचन–कामिनी रखते हैं और न रखवाते ही है, क्यो कि रखना और रखवाना एक ही बात है। ऐसे महापुरुष ही साधु–आर्य कहलाते है।

आज के अनेक कथित साधु भी ज्ञानप्रचार के नाम पर श्रावको के पास पैसा रखवाते है और कहते है कि ज्ञानप्रचार की दलाली करने मे हर्ज ही क्या है? किन्तु किसी बहाने से जो पैसा रखता है या दूसरो के पास रखवाता है, वह साधु नही कहलाता। उसे धर्मार्य भी नही कह सकते।

अभिप्राय यह है कि साधुओ के लिए कनक और कामिनी का स्वय रखना और दूसरो के पास रखवाना -- दोनो सर्वथा त्याज्य और अयोग्य है। राजा श्रेणिक ने जिन मुनि को देखा, वे इन दोनो से दूर थे, अतएव उन्हे आर्य कहा गया है।

अब सौम्यता के अर्थ पर विचार कीजिए। चन्द्रमा की ओर चाहे जितनी देर तक टकटकी लगा कर देखा जाय, मगर गर्मी नहीं लगेगी। चन्द्रमा मे गर्मी के पुद्गल ही नही है। वह तो रससागर कहलाता है। कहा जाता है कि समस्त फलो मे रस उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही है। सूर्य के प्रकाश को आतप और चन्द्र के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

जैसे चन्द्रमा की ओर लगातार देखने पर भी आखो मे गर्मी का अनुभव नही होता क्योकि चन्द्रमा सौम्य है, उसी प्रकार वे मुनि भी सौम्य थे। उनके मुख से ऐसी सौम्यता टपकती थी कि उन्हे देखते रहने की इच्छा बनी ही रहती।

आधुनिक वैज्ञानिको और खगोलशास्त्रियो का कथन है कि चन्द्र स्वत प्रकाशमान नही है, किन्तु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान है, किन्तु शास्त्र मे कहा है कि वह स्वत प्रकाशमान है और वह सूर्य से भिन्न है। चन्द्रमा मे शीतलता का गुण है और सूर्य मे उष्णता का गुण है। अतएव चन्द्र और सूर्य मे कोई सम्बन्ध नही है, वरन् दोनो अलग–अलग स्वय प्रकाशमान हैं।

चन्द्रमा मे गर्मी न होने के कारण के सम्बन्ध मे खगोलवेत्ताओ का मत है कि जिस प्रकार काच पर सूर्य का प्रतिबम्ब पडता है, फिर भी उसमे गर्मी नही जान पडती, उसी प्रकार चन्द्रमा पर भी सूर्य का प्रतिबिम्ब पडता है, फिर भी उसमे गर्मी नहीं होती। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होगा कि खगोलवेत्ताओ का यह मत भ्रमपूर्ण है। सूर्य की किरणो को किसी काच पर केन्द्रित किया जाय और उस काच के नीचे रूई रखी जाय तो रूई जलने लगेगी। अगर काच मे सूर्य का प्रतिबिम्ब पडने से गर्मी नही होती तो रूई कैसे जलने लगती है? इसी प्रकार अगर चन्द्र पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पडने से ही चन्द्र प्रकाशित है तो चन्द्र मे भी काच की तरह गर्मी उत्पन्न होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर चन्द्र काच की तरह पारदर्शक है और सूर्य की किरणो से ही प्रकाशित है तो फिर दिन मे चन्द्रमा कलाविहीन क्यो दिखाई देता है?

एकादशी या द्वादशी के दिन, दिवस के समय चन्द्र और सूर्य दोनो साथ–साथ दिखाई पडते हैं परन्तु चन्द्र निस्तेज दिखाई देता है। यदि सूर्य की किरणो के प्रतिविम्ब से ही चन्द्र प्रकाशित होता है तो उस समय वह फीका क्यो दिखाई देता हे? उस समय तो वह अधिक प्रकाशमान दिखाई देना चाहिए, क्योकि नजदीक होने से उसके ऊपर सूर्य की किरणे अधिक पडती हैं।

खगोलविज्ञ कहते हैं कि दिन के समय चन्द्र की किरणे सूर्य के प्रकाश से दब जाती हैं, इस कारण वह फीका दीख पडता है, अगर यही बात है तो फिर चन्द्र सूर्य के अधीन – आश्रित कैसे रहा?

अगर चन्द्र मे सूर्य के द्वारा ही प्रकाश आता हो जैसे हीरे पर सूर्य की किरणे पडने से वह अधिक प्रकाश देता है, उसी प्रकार चन्द्र मे भी दिन के समय प्रकाश होना चाहिए क्योकि उस समय चन्द्र सूर्य से अधिक निकट होता है अतएव सूर्य की किरण या सूर्य का प्रतिविम्ब अधिक पडता है। मगर हम देखते हैं कि चन्द्रमा दिन के समय अधिक प्रकाशित नही होता।

इन बातो से स्पष्ट है कि चन्द मे सूर्य का प्रकाश नहीं आता किन्तु चन्द स्वत प्रकाशमान है।

हा, तो जैसे सौम्यता चन्द्रमा मे होती है उसी प्रकार का सौम्यभाव उन मुनि मे था। आर्य और सोम्य के बीच आपस मे सम्बन्ध है। जो आर्य होता है, वही सौम्य होता है और जो आर्य नही होता वह सौम्य नही होता। जो अनार्य कार्यो से विलग रहता है उसी मे सौम्यता का वास हो सकता है अन्य मे नही। वे मुनि आर्य थे, अतएव सौम्य भी थे।

वृक्ष के फल–फूल तथा पत्ते आदि देख कर अनुमान किया जा सकता है इस वृक्ष का मूल उत्तम है, यहा की भूमि अच्छी है आदि। उसी प्रकार श्रेणिक राजा उन मुनि की सौम्यता देखकर समझ गया कि ये महात्मा क्षमाशील, निर्लोभ, शान्त तथा इन्द्रियो का दमन करने वाले हैं।

आज विज्ञान बहुत आगे बढ गया है। पहले न जानी हुई बहुत–सी बाते भी आज लोग जानते हैं। पहले के अनेक गुण भी आज विकसित हुए हैं। अतएव इसकी सहायता से शास्त्र मे भी विकास करो और शास्त्रो की बातो को भी समझो तो आपको तथा दूसरो को बहुत लाभ हो सकता है। ऐसा करने से आपको शास्त्र पर विश्वास भी होगा और इस बात की प्रतीति भी होगी कि शास्त्र मे कैसे–कैसे गूढ तत्त्वो को समावेश है? आप अधिक न समझ सके तो अनुमान प्रमाण को ही समझ ले। इससे भी बहुत लाभ होगा। अगर आप–अनुमान प्रमाण को समझ लेगे तो आपके अनेक सशयो का समाधान अपने–आप ही हो जायेगा।

आज बहुत–से लोग कहते हैं कि हम पुनर्जन्म को कैसे माने? इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा कहना है कि अनुमान प्रमाण से मानो। विचार करो कि आप हजारो स्त्री–पुरुषो को देखते हैं, फिर भी आपका मन किसी एक की तरफ ही क्यो आकर्षित होता है अथवा किसी को देखते ही मन मे वैरभाव क्यो जाग उठता है? किसी पर नजर पडते ही स्नेह की जागृति क्यो होती है? इस पर अगर आप अनुमान करेगे तो प्रतीत होगा कि इसका कारण पूर्वभव के सस्कार ही हैं। भगवान् नेमिनाथ और राजीमती का नौ भवो का पूर्व सम्बन्ध देखते ही जाग्रत हो गया था। कहा जाता है कि लैला और मजनू का प्रेम पवित्र था। लैला सुन्दरी नही थी, फिर भी मजनू ने उस पर प्राण निछावर कर दिये। इसका कारण पूर्वभव का सम्बन्ध ही था।

इस प्रकार अनुमान द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। श्री सूर्यकृताग सूत्र मे पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। उसमे कहा गया

है कि बालक जन्म लेते ही स्तनपान करने लगता है। यह स्तनपान करना उसने कहा और किससे सीखा? जन्मते ही वह स्तन चूसने लगता है, इससे यही अनुमान होता है कि उसने पहले ऐसा अभ्यास किया है।

आघात का प्रत्याघात होना ससार का नियम है। आपको कोई शब्द सुनाई दे और बोलने वाला दृष्टिगोचर न हो तो आप यही मानेगे कि यह शब्द आगे से आया है। इसी प्रकार आज का जन्मा बालक भी जब स्तनपान करता है, निद्रा लेता है और हसता है तो यही मानना पडता है कि उसका पहले का अभ्यास होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म मानने से हमे लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि पूर्वजन्म मानने से अपने कर्तव्य का भान होता है। 'मैं जल के बुलबुले की तरह अभी उत्पन्न होकर अभी नष्ट हो जाने वाला नही हू, किन्तु पहले भी था, न जाने कब से ससार मे भटक रहा हू? अतएव मुझे क्या करना चाहिए, जिससे दुर्गति से बच सकू?' इस प्रकार आप अपने कर्तव्य को समझने मे समर्थ होगे।

अनुमान प्रमाण द्वारा आप यह भी जान सकेगे कि 'आत्मा है और वह अमर है।' इस प्रकार आत्मा की शाश्वतता पर विश्वास होने से आत्मसुधार की चाबी मिल जाती है। आत्मा का सुधार ही सब सुधारो का मूल है। आज के लोग आत्मा को भूल रहे हैं और यही सब बुराइयो का कारण है।

मदिरापान, मासभक्षण, वर–कन्या–विक्रय आदि दूषित प्रवृत्तिया आत्मा को भूल जाने के कारण ही बढ गई हैं। आत्मा को जाग्रत रखा जाय तो ऐसी प्रवृत्तिया नहीं बढ सकती। अतएव आत्मा को जाग्रत रख कर उसका सुधार करो। कहावत हे – जिसका इहलोक सुधरा, उसका परलोक सुधरा। इस सम्बन्ध मे पूज्यश्री श्रीलाल जी महाराज एक बात कहा करते थे –

एक वृद्ध स्त्री का मकान श्मशान के मार्ग मे था। मुर्दे उसी मार्ग से श्मशान मे ले जाये जाते थे। वह वृद्धा धर्मपरायणा थी और प्राय धर्म की बाते किया करती थी। कोई–न–कोई बात करने के लिए उसके पास बैठा ही रहता। जब उसके मकान के सामने से कोई मुर्दा निकलता तो वह कहती – यह जीव स्वर्ग मे गया हे।

सुनने वाले पूछते – तुमने कैसे देख लिया कि वह स्वर्ग मे गया है?

वृद्धा कहती – मैंने देखा नही, किन्तु उसकी श्मशानयात्रा मे सम्मिलित लोग जो बाते करते जाते थे, वे मैंने सुनी हैं। उनसे मैंने अनुमान किया कि वह स्वर्ग मे गया है। वे लोग उसकी प्रशसा करते हुए कहते थे –

बडा परोपकारी था, बडा ही भला–मानस था। तो [illegible] मे नही जाएगा तो क्या पापी जाएगे?

इस पकार जो ससार को भी अपने सत्कार्यो [illegible] है और जिसकी लोग पशसा करते है उसी को [illegible] कहा है –

जनी निन्दति सर्व सोडून दया वा जनी वन्दति सर्व भावे करावा।

अर्थात् लोग जिस कार्य की निन्दा करते है [illegible] चाहिए और जिस कार्य की पशसा करते है वह करना चाहिए। [illegible] मार्ग है।

इस पकार जिनका यह लोक सुधरा है, उनका परलोक [illegible] है। अतएव अगर आप परलोक का सुधार करना चाहते है तो इस लोक [illegible] चिन्ता करो, इसे प्रशस्त बनाओ। निन्दनीय कामो का त्याग करो।

प्रश्न होता है – निन्दनीय काम किसे माना जाय? बहुत बार लोग अच्छे कामो की निन्दा करने लगते है, तो क्या निन्दा के भय से अच्छे कामो का त्याग कर देना उचित है?

इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानी कहते हैं – श्रेष्ठ जन जिन कामो की निन्दा करते हैं, वे त्याज्य हैं। किन्तु श्रेष्ठ जन जिन कार्यों की प्रशसा करते हैं उनकी अगर लोग निन्दा करे तो भी उस निन्दा से डर कर उनका त्याग नही करना चाहिए।

आत्मा को पहचान लेने से भले–बुरे कामो का विवेक उत्पन्न होगा। अतएव आत्मा को पहचान कर वैर भावना का परित्याग करो और प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव का सम्बन्ध स्थापित करो। अत करण मे सौम्य भाव को जागृत करो।

राजा मुनि की सौम्यता के विषय मे जो कुछ कह रहा है, वह वास्तविकता को देख कर कह रहा है। चन्द्रमा की किरणो से और उसकी सौम्यता से कुमुदिनी विकसित हो सकती है और दूसरी वनस्पतियो को भी रस मिल सकता है किन्तु वह आत्मा के विकास मे समर्थ नहीं है। वह आत्मा मे रस को भी उत्पन्न नही कर सकती। परन्तु उन आर्य मुनि की सौम्यता आत्मा का विकास करने वाली थी। आत्मा कैसे ही क्रोध, मान, माया या लोभ से युक्त हो, किन्तु आर्य मुनि का मुख देखते ही वह शात हो जाता था। राजा सोचता हे – 'मेरे हृदय का त्रिविध ताप पाप–ताप सताप इन आर्य मुनि की सौम्यता देखते ही शात हो गया है। इसी कारण मैं उनकी सौम्यता की प्रशसा

करता हू और मानता हू कि ससार के समस्त शीतलता देने वाले पदार्थ भी इन मुनि की सौम्यता के सामने तुच्छ हैं।'

राजा श्रेणिक मुनि की सौम्यता की प्रशसा करने के पश्चात् उनकी क्षमा की प्रशसा करता है – अहा, इन मुनि मे कैसी क्षमा है?

कहा जा सकता है कि राजा ने मुनि की क्षमाशीलता को कैसे जान लिया? परन्तु वृक्ष के मूल को न देखने पर भी वृक्ष को देखने से मूल का अनुमान हो सकता है, उसी प्रकार मुनि के मुखमडल पर झलकने वाली सौम्यता को देख कर राजा ने अनुमान से जान लिया कि मुनि मे आश्चर्यजनक क्षमाभाव है। विचक्षण राजा के लिए यह समझना कठिन नही था।

क्षमा किसे कहते हैं? इस प्रश्न पर विचार करना भी यहा प्रासगिक है। आज कई लोग कायरता को क्षमा समझ बैठे हैं, परन्तु यह उनकी भूल है, क्षमा का वास्तविक स्वरूप कुछ दूसरा ही है। एक उदाहरण लीजिए –

कल्पना कीजिए, तीन मित्र घूमने जा रहे हैं। रास्ते मे किसी चौथे आदमी ने उन्हे गालिया दीं। उन तीन मित्रो मे से एक विचार करने लगा – 'मैंने इसका कुछ बिगाडा नहीं है, फिर क्यो गालिया दे रहा है ? क्या करू, अगर मुझमे शक्ति होती तो इसकी अक्ल दुरुस्त कर देता। मगर यह मुझसे अधिक बलवान् है। कुछ कहूगा तो उल्टी मार खानी पडेगी।' इस प्रकार विचार कर वह चुप रहा। पर उसके हृदय मे गाली देने वाले को दण्ड देने की भावना है और वह मन ही मन उसे कोस रहा है। उस पर क्रोध कर रहा है।

दूसरे मित्र ने गाली देने वाले का सामना किया। 'क्यो निष्कारण गालिया दे रहा है?' कह कर उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया और उसे दबाया।

तीसरा मित्र विचार करता है – यह मुझे दुष्ट, बेवकूफ नालायक कह कर गालिया देता है, तो मुझमे कोई दुष्टता या नालायकी तो नही आ गई है? अगर वास्तव मे मुझमे दुष्टता एव नालायकी आ गई है तो मुझे इस पर क्रोध क्यो करना चाहिए? प्रत्युत इसका आभार मानकर मुझे अपनी दुष्टता को दूर करना चाहिए। और यदि मुझमे वास्तव मे दुष्टता या नालायकी नहीं है तो मैं क्यो मानू कि यह मुझे गालिया दे रहा है? मुझे नाराज होने की भी क्या आवश्यकता है? मुझे विश्वास है कि मैं दुष्ट नही हू, नालायक भी नहीं हू, तो फिर दूसरे किसी के कहने मे मैं क्रोध क्यो करू?

इस पकार एक आदमी ने अपनी असमर्थता जानकर गालियाँ सहन की और वैर का वदला लेने की वृत्ति होने पर भी चुप्पी धारण की। दूसरे ने अपनी शक्ति का परिचय देकर उसे दवाया और तीसरे ने यह माना ही नहीं कि यह मुझे गालिया दे रहा है।

यो तो पहले आदमी ने भी गाली देने वाले से कुछ नहीं कहा। फिर उसे क्षमाशील क्यो न मान लिया जाय? परन्तु उसे क्षमाशील इस कारण नहीं कहा जा सकता, क्योकि उसके हृदय मे वेर लेने की वृत्ति है। अपनी अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है, क्षमाभावना के कारण नहीं।

आज के कई लोग इस प्रकार कायरता – अशक्ति को ही क्षमा मान बैठे है, पर शास्त्रकार कहते है – इस पकार की क्षमा तो तीसरे मित्र मे ही जिसने शक्ति होने पर विचारपूर्वक क्षमा धारण की हे।

राजा ने मुनि को देखते ही समझ लिया कि ये मुनि क्षमाशील है। शाक–भाजी बेचने वाला कूजडा हीरा–माणिक का मूल्याकन नही कर सकता, उसी प्रकार जो गुणो का परीक्षक नही होता, वह मुखाकृति को देखकर नही जान सकता कि इन मुनि मे क्षमाभाव है। परन्तु राजा तो गुणो का परीक्षक था। वह मुनि को देखते ही उनके क्षमाभाव को ताड गया। कई लोग रुपये को पत्थर पर बजाकर उसकी परीक्षा करते हैं ओर कई ऐसे कुशल होते हैं कि हाथ मे लेते ही जान जाते हैं कि रुपया खोटा है अथवा खरा है?

राजा यह भी समझ गया कि ये मुनि निर्लोभ और कामभोगो से विरक्त हैं। मुनि की कामभोगो से विरक्ति को भी राजा ने आश्चर्यजनक समझा। इसका कारण यह है कि वह भोगो का त्याग करना बहुत कठिन मानता था। जेसे धन आपको वहुत प्रिय है, अतएव उसका त्याग करना आपको अत्यन्त कठिन जान पडता हे, ऐसी स्थिति मे आप किसी को लाखो का त्याग करते देखे तो आपको आश्चर्य होता है। यही वात राजा के विषय मे भी समझनी चाहिए।

राजा मे भी, कम से कम स्वार्थ के लिए ही सही, थोडे–बहुत अश मे क्षमा और निर्लोभता के गुण विद्यमान होगे, परन्तु जब मुनि मे नि स्वार्थ क्षमा और निर्लोभता के गुण देखे तो वह अपने गुणो को भूल गया और कहने लगा– 'अहा, ये मुनि तो साक्षात् क्षमा और निर्लोभता की मूर्ति है। और मुझ मे तो कुछ भी नही है।'

जेसे राजा ने मुनि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, वैसे ही आप भी गुणीजनो के साथ सम्बन्ध जोडो। कदाचित् आप गुणो को न अपना सके तो

जिन्होने अपनाया है, उनकी प्रशसा करो। यह भी कल्याण का मार्ग है। गाडी को खींच ले जाने की शक्ति तो केवल इजिन मे ही होती है, दूसरे डिब्बो मे नहीं, फिर भी जो डिब्बे इजिन के साथ जुडे रहते हैं वे भी उसके साथ अग्रसर होते जाते हैं। आप महात्माओ के साथ सम्बन्ध जोड लेगे तो उनके साथ आपका भी कल्याण हो जाएगा।

राजा क्षत्रिय था। वह वणिको की तरह केवल मौखिक प्रशसा करके ही रह जाने वाला नहीं था। अतएव उसने विचार किया – मैंने इन आर्य मुनि मे गुण देखे हैं तो नमस्कार आदि करके विवेक–प्रदर्शन भी करना चाहिए।

वास्तव मे नमस्कार वही सच्चा है, जो गुण जानने के पश्चात् किया जाता है। केवल बाहर का रूप–रग ही नही देखना चाहिए, वरन् गुण देखना चाहिए। राजा ने पहले मुनि के गुणो पर ही विचार किया, क्योकि गुणो को जाने बिना नमस्कार करना भी उचित नहीं। राजा ने पहले मुनि के गुण देखे, फिर गुणो की प्रशसा की और फिर उन्हे नमस्कार करने का विचार किया। इस प्रकार वह प्रशसा करके ही नहीं रह गया, उसने नमस्कार भी किया। आप भी कोरी बाते करके ही न रह जाए, परन्तु कार्य करके बताए। काम न करना और भाषण किये जाना भी एक प्रकार का बकवास है।

राजा ने मुनि को देखा और उनके गुणो का परिचय पाया तो सोचने लगा – इन मुनि के सामने मैं किसी बिसात मे नही। वह अपने अहकार को भूल गया। अहकार को छोडकर प्रकट रूप से वह मुनि को वदना–नमस्कार करने के लिए उद्यत हुआ। शास्त्रकार आगे कहते हैं –

तस्स पाए उ वन्दित्ता, काऊण य पयाहिण।
नाइदूर मणासन्ने, पंजली पडिपुच्छई।।7।।

अर्थ – राजा श्रेणिक मुनि के चरणो को वदन करके उनकी प्रदक्षिणा करके, न बहुत दूर और न बहुत पास बैठ कर दोनो हाथ जोड कर मुनि से पूछने लगा।

गणधर देव ने अभी तक राजा के मानसिक भावो का वर्णन किया। अब वह राजा के प्रकट भावो का वर्णन करते हैं।

श्रेणिक क्षत्रिय था। क्षत्रियो का हृदय वास्तविकता को जान लेन क अनन्तर विनम्र बन जाता ह साधारणतया क्षत्रिय, सिर पर सकट आ जाने पर भी मस्तक नही झुकाते ह किन्तु गुणो का परिचय पा लेन क पश्चात मस्तक झुकाने म संकोच भी नहीं करन। राणा प्रताप ने अकबर के सामने सिर नहीं झुकाया तो अन्त तक नहीं झुकाया। सुना जाता ह कि अकबर न यहा तक

कहलाया कि अगर आप मुझे मस्तक झुका दे तो मै अपने राज्य का छठा भाग आपको दे दू, किन्तु स्वाभिमान की रक्षा के लिए राणा प्रताप ने अकबर के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वे जगलो मे अपने दिन काटने लगे, भाति–भाति के कष्ट सहन करने लगे, परन्तु अन्त तक उन्होने सिर नही झुकाया। इस प्रकार क्षत्रिय कष्ट सहन कर लेते हैं, पर मस्तक नही नवाते। हा, किसी मे गुण देखते हैं तो मस्तक झुकाने मे सकोच भी नही करते।

राजा श्रेणिक मुनि के गुणो को देखकर सवारी से नीचे उतरा, उनके पास गया और उनके चरणो मे अपना मस्तक नमाया। यही नही, उसने मुनि की प्रदक्षिणा भी की।

प्रदक्षिणा का अर्थ आजकल दूसरा किया जाता है, परन्तु मैं उससे भिन्न अर्थ करता हू। कोई मेरी भूल बतलादे तो उसे मानने मे सकोच नही होगा। प्रणाली के अनुसार प्रदक्षिणा का अर्थ अलग है और शास्त्र की बात अलग है। शास्त्र मे जहा कही वर्णन आता है, पहले चरण–वन्दन करने का वर्णन आता है। यथा –

आलोय पणाम करइ

– भगवती सूत्र

अर्थात् जहा से दृष्टि पडी, वही से वदना की, और फिर पास मे आकर प्रदक्षिणा की। ऐसा शास्त्रो मे वर्णन आता है। वास्तव मे प्रदक्षिणा का अर्थ वन्दनीय के आजूबाजू चारो ओर आवर्तन करना है। जिस स्थान से घूमना आरम्भ किया, चारो ओर घूम कर उसी जगह आ जाना एक प्रदक्षिणा है। इस प्रकार आवर्तन और प्रदक्षिणा मे अन्तर है। हाथ जोड कर एक कान से दूसरे कान तक फिर आना आवर्तन कहलाता है और प्रदक्षिणा वन्दनीय के चारो ओर घूम कर उनके गुणो का वरण करना है। आवर्तन का वर्णन समवायाग सूत्र मे किया गया है। मुनि को वन्दन करते समय 'आयाहिण पयाहिण' का पाठ पढा जाता है, उसमे पयाहिण का अर्थ प्रदक्षिणा करना है।

विवाह के समय वर–वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् सच्ची आर्य बाला प्राण समर्पित कर सकती है, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा से तनिक भी विमुख नही होती। प्रदक्षिणा तो आपने भी की होगी और प्रतिज्ञा भी की होगी, तो फिर जो कर्तव्य स्त्रियो का माना जाता है, वह क्या पुरुषो का नही है? सदाचारिणी महिला प्रदक्षिणा करने के पश्चात् अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषो को भाई या पिता के समान

मानती है। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियो को अपनी माता या बहिन के समान मानता है।

यह लौकिक व्यवहार की बात हुई। यहा श्रेणिक राजा ने मुनि की प्रदक्षिणा की है। इसका अभिप्राय क्या है, यह सोचना है। मुनि की प्रदक्षिणा करने का अर्थ मुनि के गुणो को अपनाना है।

राजा ने मुनि के गुणो की प्रशसा तो पहले ही की थी, परन्तु व्यवहार मे मुनि की प्रदक्षिणा करके उनके गुणो को स्वीकार किया और उन्हे अपना गुरु अगीकार किया। इस प्रकार उनके गुणो को अपना कर, हाथ जोड कर बहुत दूर भी नही और बहुत पास भी नही – समुचित दूरी पर मुनि के समक्ष बैठ गया। बहुत सन्निकट बैठने से मुनि की आसातना हो सकती है और बहुत दूर बैठने से बात बराबर सुनाई नही पडती। राजा ने इस प्रकार बैठकर मुनि से प्रश्न किया।

तरुणोऽसि अज्जो! पव्वइओ, भोग कालम्मि सजया।
उवट्ठिओऽसि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता।।8।।

अर्थ – हे आर्य! मैं यह सुनने का इच्छुक हू कि आप भोग के योग्य तरुणावस्था मे ही सयम मे क्यो तत्पर हुए है?

राजा अनेक कला–कौशल, विज्ञान–दर्शन के तत्त्वो का जानकार था। वह चाहता तो इन विषयो से सम्बन्ध रखने वाला प्रश्न पूछ सकता था। परन्तु उसने ऐसा कोई प्रश्न न पूछ कर एक सीधासादा प्रश्न किया। प्रश्न पूछने से पहले राजा ने कहा– आपकी स्वीकृति हो तो मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हू। जब मुनि ने कह दिया कि जो चाहो, पूछ सकते हो, तब राजा ने मुनि से प्रश्न किया – आपने भरी जवानी मे दीक्षा क्यो धारण की? इस तरुणावस्था मे तो भोग भोगना प्रिय लगता है। फिर आप विरक्त होकर सयम का पालन करने के हेतु कैसे निकल पडे? आप वृद्ध होते तो सयम धारण करना उचित कहलाता। अगर आपकी तरह सभी तरुण साधु बन जाए तो गजब हो जाय। मैं सबसे यह प्रश्न नही पूछ सकता, किन्तु जो मेरे सामने युवावस्था मे सयम लिए बैठे है, उनसे उनका कारण जानना मेरा कर्तव्य है। मैं सब चोरियो को तो रोक नही सकता किन्तु आखो के सामने होने वाली चोरी को रोकना मेरा कर्तव्य है। अपने कर्तव्य का पालन न करू तो मैं राजा कैसा? अनुचित और अशोभास्पद कार्य को रोकना मेरा कर्तव्य है। तरुणावस्था मे सयम लेना अशोभास्पद है। इसी कारण मै आपसे इसका कारण जानना चाहता हू। किसी दु ख से उद्विग्न होकर आप साधु बने हो तो नि सकोच कह दीजिए जिससे मै आपका दु ख दूर करने मे सहायक हो सकू।

श्रेणिक की तरह आज का युवक [illegible]
इस प्रकार शका का निरसन करने के लिए [illegible]
गई है। मन मे किसी प्रकार की शका हो तो [illegible]
करने पर उसका समाधान भी हो सकता है [illegible]
जाय और यह समझ बैठे कि मैं सब-कुछ [illegible]
समाधान कैसे हो सकता है?

आज के युवको की जो मनोदशा है [illegible]
कर रहा है। शास्त्र त्रिकालदर्शी है और इसी कारण [illegible]
का समाधान इस अध्ययन मे किया गया है।

आज अनेक लोगो का खयाल है कि [illegible]
है, भोग भोगने के लिए ही है, किन्तु धर्म ने भोग [illegible]
शास्त्र मे ऐसे कथन का उत्तर दिया गया है। [illegible]
है, अतएव शास्त्र के ज्ञाताओ को सतर्क होकर [illegible]
चाहिए। मुझमे तो इतनी शक्ति नही है कि मैं ज्ञानियो [illegible]
का निरूपण कर सकू, परन्तु यह ससार भोगोपभोग के लिए [illegible]
बात मैं अपनी बद्धि के अनुसार कहता हू।

ससार मे दो प्रकार के लोग हैं – वस्तु का सदुपयोग [illegible]
दुरुपयोग करने वाले। आपको यह मनुष्य-शरीर मिला है। [illegible]
लोग मानव-शरीर प्राप्त करके सोचते हैं – अन्य योनियो मे [illegible]
नही मिल सकती, वह मनुष्य-योनि मे मिली है। अतएव मानव-योनि [illegible]
अधिक से अधिक भोग भोग लेना चाहिये। परन्तु ज्ञानियो का मन्तव्य है कि
भोग भोगने मे मनुष्य-योनि पाने की सार्थकता नही है। भोग भोगने से
पाशविक जीवन वृद्धिगत होता है, किन्तु मानवीय जीवन या मनुष्य-तन का
सदुपयोग नही होता। पशुओ की अपेक्षा अधिक और विशिष्ट भोग भोगने के
कारण ही किसी को मनुष्य मान लेना ठीक नही है। भोगो का उपभोग कर
लेना मनुष्य की कोई विशेषता नही है। भोग तो पशु भी भोगते ही है। कहा
भी है –

आहार निद्रा भय मैथुनच,
सामान्य मेतत्पशुभि र्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीना पशुभि समाना ।।

–हितोपदेश

ज्ञानी जन कहते हैं कि तुम भोग भोग कर मनुष्य जन्म को सार्थक हुआ समझते हो, परन्तु पशु क्या भोग नही भोग सकते? तुम भले उत्तम खान–पान खाते–पीते हो, परन्तु उसे अगर पशुओ के सामने रखो तो क्या वे नही खाएगे–पीएगे? यह बात जुदा है कि पशुओ को ऐसा खाना–पीना नही मिलता है न मिलने के कारण वे नहीं खाते–पीते हैं, किन्तु यदि उन्हे मिल जाय तो क्या वे खाएगे–पीएगे नहीं? अच्छा भोजन न मिलने के कारण अनेक मनुष्य ऐसा खाना खाते हैं, जैसा पशु भी नही खाते।

आप रेशम या जरी के कपडे पहनते हैं और आभूषण धारण करते हैं, किन्तु पशुओ को अगर वे वस्त्राभूषण पहनाये जाए तो क्या वे नही पहन सकते? तुम महल मे रहते हो और सवारी पर चलते हो, किन्तु पशुओ को यदि महल मे रखा जाय तो क्या वे नही रह सकते, सवारी मे नही बैठ सकते ? सुना था – किसी लॉर्ड ने अपने कुत्ते–कुतिया का विवाह किया था और उसमे लाखो रुपये खर्च किये थे। परन्तु इससे क्या कुत्ता मनुष्य हो गया? नही, तो आप भोग भोगने मे मनुष्य जन्म को सार्थक कैसे मान सकते हो?

जब पशु भी आपकी तरह खा–पी सकते है और भोगोपभोग कर सकते हैं तो फिर उनमे और आप मे क्या अन्तर रहा? अभिप्राय यह है कि भोग भोगने के कारण मनुष्य–जन्म को सार्थक नही कह सकते। हा, धर्म ही मनुष्य की विशेषता है ओर धर्म की आराधना करने मे ही मनुष्य–जन्म की सार्थकता है। इसी से कहा है –

धर्मो हि तेषामधिको विशेष, धर्मेण हीना पशुभि समाना ।।

– हितोपदेश

पशुओ को अगर धर्म का आचरण करने के लिए कहा जाय तो वे धर्म का आचरण नही कर सकते। अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरह गुणो का पालन करने से ही मनुष्य–जन्म सार्थक हो सकता है। इसलिए भोगोपभाग मे मनुष्य–जीवन की सार्थकता न मानो, वरन् अहिसा, सत्य आदि सद्‌गुणा के पालन मे सार्थकता मानो।

राजा श्रेणिक के प्रश्न से ऐसा झलकता हे कि वह सयम को ठीक नही समझता। आज भी अनेक लोग सयम को अच्छा नही मानते। वे साधुओ की निन्दा करते है ओर कहते है कि साधु समाज के ऊपर भार है।

इसका एक कारण तो यह हे कि कई लोग सयम धारण करके ओर साधु–वेश मे रहकर भी अनुचित कार्य करते हैं। ऐसे भ्रष्ट लोगो की बदौलत सयम का सम्यक् प्रकार से पालन करने वालो की भी निन्दा होती

है। फिर भी साधु मात्र की निन्दा करना योग्य नही है। जो साधु होकर भी खराब काम करते है वे वास्तव मे साधु ही नही है। शास्त्रीय शब्द मे उन्हे 'पापश्रमण' कहते है। ऐसे पापश्रमणो के कारण सच्चे साधुओ की निन्दा क्यो होनी चाहिए?

कहा जा सकता है कि हमे कैसे पता चले कि कौन सच्चा साधु है और कौन पाप श्रमण है? इसका उत्तर यह हे कि आपके भीतर जो विवेक–बुद्धि है, उसका उपयोग करोगे तो भले–बुरे साधु का भेद समझ लेना कठिन नही है।

दूध और पानी की तरह जो सत्य और असत्य का निर्णय करता है, वह विवेक है। विवेक का उपयोग करने से खरे–खोटे साधु की परीक्षा हो जायेगी। परीक्षा किये बिना यह कह देना कि सभी साधु खोटे होते हैं और साधुओ की अपेक्षा गृहस्थ अच्छे होते हैं, अनुचित है। सच्चे साधु की निन्दा करना सद्गुणो की निन्दा करने के समान है। जो साधु की निन्दा करता है, वह क्या अहिसा की निन्दा नही करता है? जो हिसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन–सेवन करता है और दव्य–सग्रह करता है, वह साधु है अथवा जो अहिसा का पालन करता है, सत्य बोलता है, चोरी नही करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और जो अपने पास फूटी कौडी भी नही रखता, वह साधु है? सच्चा साधु तो पचमहाव्रतधारी होता है। ऐसी स्थिति मे जो साधु की निन्दा करता है वह क्या अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की निन्दा नही करता?

कोई कह सकता है कि कितने ही साधु हिसा आदि पापो का सेवन करते हैं, किन्तु जो साधु के अयोग्य असदाचरण करते हैं वे क्या साधु हैं? अगर नही तो ऐसे असाधुओ के कारण साधुओ की निन्दा क्यो करते हो? आप कह सकते हैं कि असाधु खराब होते हैं, पर साधुओ की निन्दा क्यो की जाय? आजकल कलचर – बनावटी रत्न भी निकले हैं। क्या उनके कारण समस्त रत्नो को खोटा कह देना योग्य कहा जा सकता है?

मैं साधुओ से भी कहता हू कि – 'महात्माओ! जाग्रत हो जाओ। आजकल धर्म की निन्दा हो रही है और इस निन्दा का भार आपके ऊपर आ पडा है। अत सावधान हो जाओ और विचार करो कि आप क्या कर रहे हैं?' इस प्रकार मैं साधुओ से कहता हू, परन्तु साथ ही आपसे भी कहना चाहता हू कि आप असाधुओ के कारण साधुओ की जो निन्दा करते हैं, इस विषय मे विचार करो तथा साधु एव असाधु को पहचानने का विवेक प्राप्त करो।

राजा श्रेणिक तो मुनि को साधु ही समझता था। उनके गुणो की प्रशसा करके, उन्हे नमस्कार करके उसने प्रश्न किया कि आपने इस यौवन–अवस्था मे सयम क्यो धारण किया?

कोई और होता तो राजा का यह प्रश्न सुनकर कह देता – चलो, जाओ, साधुओ के काम मे पडने की तुझे आवश्यकता क्या है? तेरा काम राज्य चलाना है। तू साधुओ की बातो को क्या समझे? मगर अनाथी मुनि ने राजा का प्रश्न सुनकर उसका तिरस्कार नही किया। उन्होने शाति के साथ उत्तर दिया। मुनिराज बोले –

अणाहोमि महाराय! णाहो मज्झ ण विज्जई।
अणुकंपगं सुहि वावि, कंचि नाहितुमेमहं।।9।।

अर्थ – महाराज ! मैं अनाथ था। मेरी रक्षा करने वाला कोई नही था – पालन करने वाला भी नहीं था। इस कारण मैंने सयम धारण कर लिया।

व्याख्यान–पहले यह देख लेना चाहिए कि नाथ किसे कहते हैं। योग और क्षेम करने वाले को नाथ कहते हैं। अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। इस प्रकार जो प्राप्त न हुई वस्तु को प्राप्त करावे और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करे, उसे नाथ समझना चाहिये।

अनाथी मुनि कहते हैं– मेरा कोई नाथ नही था। कोई मेरी रक्षा करने वाला नही था। धर्म समझकर भी कोई मेरी रक्षा करने वाला नही था। मेरा कोई मित्र भी ऐसा नही था जो सकट के समय काम आता। इसलिए मैं साधु बन गया।

मुनि के इस उत्तर से साधारणतया ऐसा खयाल होता है कि कोई भटकने वाला आदमी रहा होगा। उसे खाने–पीने और सोने–बैठने की सुविधा न होगी। कोई पूछताछ करने वाला भी न होगा। इस कारण साधु बन गया –

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी, मूड मुडाय भये सयासी।

इस कथन के अनुसार ओरत मर गई होगी और सम्पति नष्ट हो गई होगी, इसी से सिर मुडा कर साधु बन गये होगे।

राजा को भी मुनि का उत्तर सुन कर आश्चर्य हुआ होगा और उसके मन मे आया होगा – अभी ऐसा कलियुग का समय नही आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे। आज आप को कोई ऐसा अनाथ दिखाई देता है तो आप उसे अनाथालय मे भेज देते हैं। ऐसे कलियुग के समय मे भी जब

अनाथो को सुविधा, सहायता मिल जाती है, तो उस समय तो चोथा आरा था। उस समय अनाथो की ऐसी दुर्दशा कैसे हो सकती है? इस कारण राजा को मुनि का उत्तर सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

इस गाथा के चौथे चरण मे पाठान्तर है। कहीं–'किचि नाइ सुमेमह' ऐसा पाठ है। इस पाठ मे आये 'नाइ' शब्द का अर्थ राजा के साथ सम्बन्ध रखता है। उसका अर्थ होता है – हे राजन्! तू ऐसा समझ। 'नाभि' ऐसा पाठ हो तो उसका सम्बन्ध मुनि के साथ है, जिसका अभिप्राय होता है कि मुझ पर कोई जरा भी अनुकम्पा करने वाला नही था।

हा, तो मुनि का उत्तर सुन कर राजा आश्चर्य मे पड गया। वह सोचने लगा – ये उत्तम ऋद्धि से सम्पन्न है, फिर भी कहते हैं कि मैं अनाथ हू। इनका यह कथन ऐसा ही जान पडता है जैसे चिन्तामणि कहे कि मुझे कोई रखता नहीं, कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता और कामधेनु कहे कि मुझे कोई खडा भी नहीं रहने देता। जैसे यह सम्भव है, उसी प्रकार मुनि का यह कथन भी जान पडता है। जिनके शरीर मे शख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, कोई रक्षक न हो, कोई मित्र न हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

कवि कहते हैं। – कदाचित् विधाता हस से नाराज हो जाय तो उसके रहने का कमलवन उजाड सकता है, या उसके मानसरोवर मे रहने पर प्रतिबन्ध लगा सकता है, परन्तु उसकी चोच मे दूध और पानी को जुदा करने का गुण है उसे तो कदापि नहीं छीन सकता।

राजा मुनि से कहता है – 'ऐसे ऋद्धिमान् होने पर भी आप अनाथ थे, यह कैसे माना जा सकता है? परन्तु इस सम्बन्ध मे अधिक प्रश्नोत्तरो मे न पड कर इतना ही कहना चाहता हू कि आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हू। मेरे राज्य मे कोई कमी नही है।'

यही अभिप्राय आगे की गाथा मे प्रकाशित किया गया है–

तओ सो पहसियो राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढि मन्तस्स, कहं णाहो न विज्जई।।10।।

अर्थ – मुनि का उत्तर सुनकर राजा हस पडा और मुनि से कहने लगा – जो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न है, उसका कोई नाथ न हो, यह कैसे हो सकता है?

व्याख्यान – मुनि ने जो उत्तर दिया था, वह राजा को ठीक नही लगा, अत वह हस पडा।

राजा श्रेणिक का प्रकरण चल रहा है और उसका परिचय पहले दिया जा चुका है, तो फिर यहा राजा को श्रेणिक और मगधाधिप कहने की क्या आवश्यकता थी? साधारण लोग पुनरुक्ति दोष से बचने का प्रयास करते हैं, मगर गणधर तत्त्व को समझाने का उसी प्रकार प्रयत्न करते हैं, जैसे माता अपने पुत्र को एक ही बात बार–बार समझाने का प्रयत्न करती है। मेरी समझ के अनुसार गणधरो ने 'मगधाधिप' शब्द का पुन प्रयोग यह बताने के लिए किया है कि हसने वाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं था, किन्तु मगध का सम्राट् था। साधारण व्यक्ति के हसने मे और बडे राजा के हसने मे बडा अन्तर होता है। यही प्रकट करने के लिए गणधरो ने राजा के रूप मे परिचय देने पर भी फिर उसे 'मगधाधिप' कहकर परिचय दिया है।

राजा श्रेणिक हसकर कहने लगा – आप जैसे ऋद्धिशाली का कोई नाथ न हो, यह बात कैसे बन सकती है?

देखना चाहिए कि ऋद्धि का अर्थ क्या है? मुनि के पास ऐसी कौनसी ऋद्धि थी कि जिसके कारण उन्हे ऋद्धिमान् कहा गया है?

ऋद्धि दो प्रकार की होती है – बाह्य ऋद्धि और आतरिक ऋद्धि। बाह्य ऋद्धि मे धनधान्य आदि का समावेश होता है और आन्तरिक ऋद्धि मे शरीर की स्वस्थता और इन्द्रियो के पूर्ण विकास आदि का अन्तर्भाव होता है। मुनि के पास बाह्य ऋद्धि तो नहीं थी, पर आन्तरिक ऋद्धि थी। उनकी भव्य आकृति उनकी सम्पन्नता एव सुन्दर प्रकृति का परिचय देती थी।

कहावत है – 'यथाऽऽकृतिस्तथा प्रकृति', अर्थात् जिसकी आकृति सुन्दर होती है, उसमे गुणो का वास भी होता हे। आज भी देखो तो प्रतीत होगा कि जिसकी ऑख मोटी होती है, कान लम्बे होते हैं, वक्षस्थल प्रशस्त और विस्तीर्ण होता है, कपाल चौडा होता हे शरीर के अगोपाग पूर्ण विकसित होते हैं, वे भाग्यवान् ओर गुणवान् गिने जाते हैं। अनाथी मुनि की आकृति सुन्दर थी और उनकी ऋद्धि भी स्पष्ट झलकती थी।

टीकाकार कहते हैं कि जहा आकृति उत्तम होती हे वहा गुणो का वास होता है और जहा गुणो का वास होता हे वहा लक्ष्मी का वास होता है, क्योकि लक्ष्मी गुणवान् को ही वरण करती हे, गुणहीन का नही।

कहा जा सकता हे कि लक्ष्मी तो गुणहीन के पास भी देखी जाती है, पर इसका उत्तर यह हे कि चाहे आपको उसके गुण दिखाई न देते हो मगर उसमे व्यावहारिक गुण अवश्य होते हैं।

होमि नाहो भयताण, भोगे भुजाहि संजया।
मित्त नाइ परिवुडडो, माणुस्स खु सुदुल्लह ।।11।।

अर्थ – हे सयत मैं आपका नाथ बनता हू। मनुष्य-भव [illegible] दुर्लभ है, अत मित्रजनो और ज्ञातिजनो के साथ मिल कर [illegible]

राजा श्रेणिक कहते है – हे पूज्य ! आपने [illegible] सक्षेप मे इतना ही कहता हू कि अगर आपने अनाथता के [illegible] धारण किया है तो इस दु ख को दूर करने के लिए मै आपका नाथ बनता हू। जब मैं आपका नाथ बना जाऊगा तो किस चीज की कमी [illegible] अतएव हे सयत, सयम को छोडो और भोगो को भोगो।

राजा मुनि को भोग भोगने के लिए कह रहा है तो क्या [illegible] ओछी बुद्धि वाला था? नही, राजा इतनी ओछी बुद्धि वाला नही था। [illegible] कथन मे विशेष रहस्य छिपा है। मुनि ने सयम ग्रहण करने का जो कारण बतलाया, उस पर उसे विश्वास नही हुआ। वह मुनि के कथन के मर्म को नही समझ पाया। वह यह तो जानता था कि मुनि मिथ्या भाषण नही कर सकते परन्तु उनका अभिप्राय क्या है, यह भी उसकी समझ मे नही आया था। अतएव राजा ने सोचा – मैं प्रत्युत्तर मे ऐसी बात क्यो न कहू, जिससे मुनि द्वारा दिये गये उत्तर का रहस्य खुल जाय? इस प्रकार मुनि के उत्तर की वास्तविकता को समझने के लिए ही राजा ने स्वय नाथ बनने और भोग भोगने की बात कही है। राजा सोचता था कि मेरे कहने पर यदि यह सयम त्याग कर मेरे साथ आ गये तो मुझे एक अद्वितीय ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति की प्राप्ति होगी। यदि ऐसा न हुआ तो मुनि के कथन का असली रहस्य प्रकाश मे आ जाएगा। इस विचार से प्रेरित होकर राजा श्रेणिक ने मुनि को भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया है।

दूसरी बात यह है कि जो भोगो का त्यागी नही है, उसे भोग भोगने के लिए कोई आग्रह नही करता, किन्तु जो भोग का त्यागी हे उसे आग्रह

करने वाले बहुत मिल जाते हैं। बहुत–से लोग रहने के लिए इधर–उधर भटकते हैं, किन्तु उन्हे कोई अपने यहा रहने को स्थान नहीं देता। मगर जो दीक्षा लेने को तैयार होता है, उसे कई कहते हैं कि क्यो दीक्षा लेते हो ? चलो, हमारे यहा रहो। यह सब भोगो के त्याग का ही प्रताप है।

राजा ने मुनि से कहा – आप मेरे यहा चलिये। मैं आपका नाथ बनता हू। मेरे यहा आपको सब प्रकार की सुविधाए प्राप्त होगी। आप यह विचार मत करना कि मैं दीक्षित हो चुका हू, अतएव अब ज्ञातिजन या मित्र आपको नही अपनाएगे। सयम ग्रहण करके आपने कोई खराब काम नही किया था। ज्ञातिजन और मित्रजन तो उलटा आपका आदर–सत्कार ही करेगे। मैं सयम त्यागने का आग्रह इसलिए करता हू कि यह मनुष्य–जन्म बहुत दुर्लभ है। इस दुर्लभ जीवन को व्यर्थ बर्बाद कर देना उचित नहीं है।

जो लोग भोग भोगने मे मनुष्य–जीवन की सफलता मानते हैं, वे भी यही कहते हैं कि मनुष्य–जन्म मिलना कठिन है और जो भोगो के त्याग का उपदेश करते हैं, वे भी यही कहते हैं कि बार–बार मनुष्य–भव पा लेना कठिन है। अतएव भोग–उपभोग मे इस जीवन का अपव्यय न करो। इस प्रकार भोगी और त्यागी, दोनो अपनी–अपनी दृष्टि के अनुसार कहते हैं। इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि वास्तव मे मानव–भव दुर्लभ है, मगर असली प्रश्न तो यह है कि इसकी सार्थकता किसमे है?

जो लोग भोग भोगने मे जीवन की सफलता समझते हैं, उनका कहना है – उत्तम खाना–पीना, सुन्दर वस्त्र पहनना और बढिया मकान मे रहना, आमोद–प्रमोद मे दिन व्यतीत करना मनुष्य का कर्तव्य है। मनुष्य–भव मे यह सब न किया, भोग न भोगे तो क्या पशु–जीवन मे भोगेगे? पशु–जीवन मे यह सब सामग्री कैसे भोगी जा सकती है? स्टीमर, रेलगाडी और वायुयान आदि मे बैठकर मनुष्य ने मजा न लूटा तो क्या पशु बनकर लूटा जा सकता है? अतएव मनुष्य–जीवन की सार्थकता भोग भोगने मे ही है। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष भोगों का त्याग करने मे ही मानव–जीवन की साफलता समझता है। इस मान्यता की पुष्टि मे ज्ञानी कहते हैं – अगर आपने दुर्लभ मनुष्य–जन्म और विशिष्ट बुद्धि–वैभव पा करके भी इतना ही विकास किया अर्थात् भोग भोगने मे ही समय व्यतीत कर दिया तो आपकी क्या विशेषता हुई? इतना विकास तो पशुओ और पक्षियो में भी होता है। इसमे मनुष्यत्व की विशेषता ही क्या कहलाई। तुम वायुयान पर आरूढ होकर गगनविहार करने

अर्थात् अनन्त जन्मो तक पुण्यराशि सचित करने पर भी मनुष्य–जन्म मिलता है या नही, यह शकास्पद है, फिर पुण्य के बल से मनुष्य–जन्म मिल गया है, उसे अभागे लोग मिट्टी की तरह गवा देते हैं।

यह जीव सूक्ष्म निगोद मे, बादर निगोद मे, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय मे आया। फिर पुण्य के योग से द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और फिर बडी कठिनाई से पचेन्द्रिय हुआ। पचेन्द्रिय होकर भी प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य हुआ। मनुष्य–जन्म के साथ आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम धर्म की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जन्म–जन्मान्तर की तपश्चर्या सचित करने से मनुष्य–जन्म मिला है। इस कठोर तपश्चर्या के परिणामस्वरूप मिले मनुष्य–जन्म को भोगपभोगो की गदगी मे पड कर गवा देना उचित नही।

राजा श्रेणिक ने मुनि से कहा – यह मनुष्यजन्म् दुर्लभ है, अतएव भोगपभोग कर इसे सार्थक बनाओ। मैं आपका नाथ बनता हू। चलिए सुखपूर्वक रहिये।

राजा का कथन सुन कर मुनि को आश्चर्य हुआ, ठीक वैसा ही जैसा कि मुनि का उत्तर सुनकर राजा को हुआ था। अपना–अपना पक्ष लेकर दोनो हस रहे थे। मुनि सोच रहे थे – राजा स्वय तो अनाथ है और मेरा नाथ बनना चाहता है! ओर राजा यह सोच कर हस रहा था कि ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होकर भी ये अपने–आप को अनाथ कहते है?

किसी मुनि को भोग भोगने के लिए आमत्रित करना उसकी अवज्ञा करना है। राजा श्रेणिक ने इस दृष्टि से मुनि की अवज्ञा की। किन्तु मुनि राजा पर रुष्ट नहीं हुए। उन्होने राजा की बात से कुछ दु ख नही माना। वे जानते थे कि मैंने जिस अभिप्राय से अपने को अनाथ बतलाया है, राजा उसे समझ नही पाया। इसी कारण यह मेरा नाथ बनने के लिए तेयार हुआ हे और मुझे भोगो का प्रलोभन दे रहा हे। आखिर मुनि ने उत्तर दिया –

अप्पणा वि अणाहोऽसि, सेणिया! मगहाहिवा।
अप्पणा अणाहो सतो, कस्स नाहो भविस्ससि।।12।।

अर्थ – हे श्रेणिक, हे मगध के अधीश्वर! आप स्वय अनाथ हो और जो स्वय ही अनाथ है, वह किसी का नाथ केसे हो सकता हे?

व्याख्यान – मुनिराज श्रेणिक की बात के उत्तर मे कहते हैं। – राजन्! तू स्वय ही अनाथ है तो दूसरो का नाथ किस प्रकार बन सकता है?

यह शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम और अनाथ बन जाता है।

तुम समझते हो कि अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। परन्तु ज्ञानी कहते है कि – तुम्हारे पास जो वस्तु है, उसी की बदौलत तुम अनाथ बने हो, जैसे, कोई मनुष्य सोने की कठी पहन कर अभिमान करता है, किन्तु ज्ञानी उससे कहते हैं – तू सोने का गुलाम बन गया है।

कल्पना करो, एक महापुरुष जगल मे जा रहे हैं। वे शरीर को केवल साधन रूप ही मानते हैं, शरीर पर उन्हे लेशमात्र भी ममत्व नही है। दूसरा मनुष्य हीरक जडित स्वर्ण का हार पहन कर वन मे जा रहा है। मार्ग मे उन्हे एक चोर मिला। चोर को देख कर भी महापुरुष तो अपने ध्यान मे चले जा रहे थे, उन्हे किसी प्रकार का भय या उद्वेग नही उत्पन्न हुआ। मगर हार पहनने वाला मनुष्य चोर को देखते ही भागा, चोर ने उसका पीछा किया। उसे पकडा और लूट लिया। वह रोने लगा। वह सोने का गुलाम था, इसी कारण से रोना पडा। इस प्रकार किसी भी पर–पदार्थ को अपना समझने और उस पर निर्भर होने से उसके गुलाम बनने और दु खी होने का प्रसग आता है।

अभिप्राय यह है कि पर–पदार्थ के आलम्बन से मनुष्य पराधीन बन कर अपनी स्वतत्रता खो बैठता है और पराधीन हो जाना ही अनाथता का लक्षण है। फिर भी अज्ञान के कारण ही लोग मनुष्य–जन्म को भोगो का उपभोग करने मे सार्थक समझते हैं। राजा श्रेणिक भी अज्ञान के अधकार मे भटक रहा था। इस कारण वह मुनि से कहता है – मैं आपका नाथ बनता हू। आप मेरे साथ चलिए और सुखपूर्वक रह कर भोग भोगिये।

राजा के इस कथन के उत्तर मे मुनि ने कहा – राजन्। तू तो स्वय ही अनाथ है, फिर मेरा नाथ किस प्रकार बन सकता है?

मुनि ने राजा को अनाथ कहा तो क्या राजा के पास कुछ नही था? अगर राज्य का अधिपति होने पर भी राजा मुनि के कथनानुसार अनाथ था, तो चारित्र के इस महान् आदर्श को समझो और इसका अनुसरण करो। राजा भ्रम के वशीभूत होकर स्वय अनाथ होता हुआ भी अपने को नाथ समझता था, उसी प्रकार तुम भी काम–भोगो के गुलाम बन कर, अनाथता को सनाथता समझ बैठे हो।

इस भ्रम को दूर करो। इसी मे तुम्हारा कल्याण हैं। जब मगध देश का सम्राट् भी अनाथ था तो तुम कैसे सनाथ कहे जा सकते हो और ससार के पदार्थ तुम्हे किस प्रकार नाथ बना सकते हैं?

मुनि ने राजा को अनाथ बतलाया। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जिन पदार्थों के कारण अपने–आप को नाथ या सनाथ मानता है, वस्तुत उन्हीं के कारण वह अनाथ है और जो स्वय अनाथ है, वह दूसरो का नाथ कैसे बन सकता है? जिस वस्तु पर तुम्हारा अधिकार नही है, वह वस्तु दूसरो को दे दो, वह चोरी गिनी जायेगी और तुम्हे दड का पात्र बनना पडेगा। इसी प्रकार तुम स्वय सनाथ नहीं हो, फिर भी अगर दूसरो के नाथ बनने का प्रयत्न करते हो अथवा अपने को दूसरो का नाथ मानते हो तो क्या यह अनुचित नही है?

एक बार मीरा से उसकी सखी ने कहा – सुखी, तुम्हारा सद्भाग्य है कि तुम्हे राणा जैसे पति की प्राप्ति हुई है, रहने को सुन्दर महल मिला है सुखोपभोग के लिए विपुल वैभव प्राप्त हुआ है। फिर भी तुम राणा के प्रति इतनी उदास क्यो रहती हो? भोगो के प्रति इतनी अरुचि क्यो है? इस सब सुख–सामग्री को तुम दु ख–रूप क्यो मानती हो?

सखी का यह कथन सुनकर मीरा हसने लगी। तब सखी ने कहा – स्त्रियो का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने मुख से प्रणय सम्बन्धी बाते नहीं करती, परन्तु प्रणय सम्बन्धी बाते सुनकर प्रसन्न होती हैं। तुम्हारी हसी से जान पडता है कि मेरी बात तुम्हे प्रिय लग रही है। तो मैं राणाजी के साथ तुम्हारा नूतन रूप मे प्रणय सम्बन्ध जोड दू? मेरी बात स्वीकार है?

मीरा ने सोचा – मेरे हसने का यह सखी दूसरा ही अभिप्राय समझ रही है, अतएव इसे सारी बाते साफ–साफ बता देना ही योग्य है।

इस प्रकार विचार कर मीरा ने अपनी सखी से कहा –

संसारीनुं सुख काचुं, परणी रडावु पाछु,
तेरे घेर केम जइए रे, मोहन प्यारा।।
मुखडानी प्रीति लागी रे।

सखी! राणा के विषय मे तू जो कहती है, सो सत्य हो सकता है। अतएव मुझे उनके विषय मे कुछ भी नही कहना है। परन्तु मैं इतना ही पूछती हू कि मेरे पिता ने मुझे राणा को सौंप दिया है, और मैं राणा के पास जाकर उनकी दासी बनकर भी रह सकती हू, परन्तु इस बात की क्या खातिरी है कि वे मुझे विधवा नही बनाएगे? अगर राणा मुझे अखण्ड सौभाग्यवती बनाए रखे और कभी विधवा न होने दे तो मुझे उनके पास रहने मे कोई उज्र नहीं है। हा, अगर ऐसी खातिरी न दे सके और कहे कि यह मेरे हाथ की बात नहीं है तो क्या किया जाय? मैं उन्हे पति बनाऊ और फिर वे मुझे विधवा बना

साथ सम्बन्ध कैसे जोड सकते हो? भक्तजन इस तथ्य को भलीभाति समझते हैं कि ससार की कोई भी वस्तु अन्त समय तक साथ नही देती, बीच ही मे दगा दे जाती है। इस कारण वे उनके साथ सम्बन्ध स्थापित न करके परमात्मा के साथ ही सम्बन्ध जोडते है। ससार की वस्तुए मेरे लिए सहायक होती हो तो भले, हो किन्तु मे उनके साथ सम्बन्ध नही जोड सकता, यही भक्तो का कथन है।

तुमने गले मे सोने की जो माला पहन रखी है, वह तुम्हे छोडकर चली जाने वाली है, फिर क्यो उसके लिए कुत्तो की तरह लडते हो?

कदाचित् तुम कहोगे – तब हमे क्या करना चाहिए? इसके उत्तर मे ज्ञानियो का कहना है कि अपने तन–मन को परम पुरुष के साथ जोड दो। इसका अर्थ यह नही कि शरीर का नाश कर देना चाहिए या आत्महत्या कर

लेना चाहिए। परमात्मा के साथ ऐसा प्रगाढ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करो कि उस परमात्मा प्रेम मे भले तुम्हारा शरीर चला जाय, परन्तु प्रेम न टूटने पावे। तुम अनन्त–अनन्त शरीर छोड चुके हो तो इस शरीर को परमात्मा के साथ जोड दो, भगवान को अर्पित कर दो और भगवान के साथ ही लग्न सम्बन्ध कर लो।

राजा श्रेणिक और मुनि, दोनो आमने–सामने बैठे हैं। दोनो महाराज है, पर जुदा–जुदा प्रकार के। श्रेणिक तो सोपाधिक प्रीति को ही मानता है, परन्तु मुनि निरुपाधिक प्रीति को प्रीति मानते हैं। राजा समझता है, जिनके द्वारा सुखोपभोग की सामग्री मिले उनके साथ प्रीति करना ही सच्ची प्रीति है। अपनी इस मान्यता के कारण ही वह मुनि से कहता है – आप सयम का परित्याग करके मेरे साथ चलिए और भोग भोगिये। मै आपका नाथ बनता हू। परन्तु मुनि उत्तर देते हैं – राजन्! तुम भूल रहे हो। तुम स्वय ही अनाथ हो। तुम अपना स्वय का योग–क्षेम नही कर सकते तो मेरे नाथ कैसे बन सकते हो?

मुनि का यह कथन सुनकर राजा को अत्यन्त विस्मय हुआ। वह सोचने लगा – मैं इनका नाथ बनना चाहता था, पर यह तो मुझको ही अनाथ मानते हैं। यह ऋद्धिमान मुनि अनाथता के कारण दीक्षा लेने की बात कहते हैं और मुझ जेसे मगधाधिपति को भी अनाथ कहते हैं! यह सब आश्चर्यजनक है। ऐसा सोच कर राजा किस प्रकार चकित और विस्मित हुआ, इस विषय मे शास्त्र मे कहा हे–

एवं वुत्तो नरिदो सो, सुसभतो सुविम्हिओ।
वयण अस्सुयपुव्व, साहुणा विह्मायान्निओ।।13।।
अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, परं अन्तेउर च मे।
भुजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरिय च मे।।14।।
एरिसे सम्पयग्गम्मि, सव्वकाममप्पिए।
कह अणाहो भवइ, मा हू भते! मुस वए।।15।।

अर्थ– जो बात पहले कभी नही सुनी थी वह इस समय मुनि के मुख से सुनकर राजा श्रेणिक चकित रह गया घवरा–सा गया।

राजा ने मुनि से कहा – मेरे यहा घोड हें, हाथी हें, प्याद हें, में ग्रामा एव नगरा का स्वामी हू। मेरे यहा रानिया हैं। में सव प्रकार क मनुष्योचित भोग–भोग रहा हू। मेरी आज्ञा का कोई उल्लघन नही कर सकता। मेरे पास विपुल ऐश्वर्य हे।

इस प्रकार सब कामनाओ को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी अनाथ कैसे हू? भगवन्! आप मिथ्याभाषण मत कीजिए।

व्याख्यान – 'राजा, तू स्वय अनाथ है' मुनि का यह कथन सुनकर श्रेणिक अत्यन्त सम्भ्रान्त हुआ। वह श्रेष्ठ क्षत्रिय था। क्षत्रिय अपना अपमान सहन नही कर सकते।

आज कई लोग मुझसे कहते है – 'आप जो चाहे कहे, हमे कुछ बुरा नही लगता।' परन्तु मैं सोचता हू, तुम्हे बुरा नही लगता, यही बुरी बात है। इसी को बनियाशाही कहते है। कहावत है, सिह को बोल लगता है। अर्थात् सिह के सामने गर्जना की जाय तो वह सामना करता है। इसी प्रकार तुम्हे भी बोल लगना चाहिए। परन्तु तुम बनियाशाही चलाते हो और इस कारण बोल नही झेल सकते।

राजा क्षत्रिय था। उसे बात चुभ गई। किसी गरीब या दरिद्री को अनाथ कहा होता तो बात न्यारी थी, परन्तु मेरे जैसे सम्राट् को अनाथ कैसे कह दिया? इस प्रकार राजा सम्भ्रान्त हुआ। उसके मन मे कुछ रजोगुण भी आया। वह मन ही मन विचार करने लगा – मै राजा हू, यह बात मुनि को मालूम न होती और अनाथ कह दिया होता तो बात दूसरी थी, परन्तु ये तो जान–बूझ कर मुझे अनाथ कह रहे है।

शास्त्र मे राजा के मनोगत भावो का सही चित्रण किया गया है। इस विषय मे शास्त्र मे जो वर्णन किया गया है, उसका पूरा–पूरा विवरण तो कोई महावक्ता ही कर सकता है, मैं इस रहस्य को ठीक–ठीक प्रकट नही कर सकता। फिर भी अपनी समझ के अनुसार कहता हू।

उक्त कथन से जान पडता है कि राजा शूरवीर था, पर क्रूर नही था। सिह शूर होता है, परन्तु साथ ही क्रूर भी होता है। वह साधु और असाधु को नही पहचान सकता। उसमे विवेक नही होता। जो सामने आया, उसी पर वह हमला बोल देता है। राजा ऐसा नही था। वह विवेकशील था। इस बात को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते है कि मुनि का कथन सुनकर राजा सम्भ्रान्त हुआ, परन्तु उसने मुनि से कोई अनुचित बात नही कही। हा, सभ्यतापूर्वक अपने मनोभावो को अवश्य प्रकट किया, यह बात मै अपनी बुद्धि के अनुसार कह रहा हू।

राजा सोचता है– मुनि ने मुझे अनाथ कहा है। यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज तक किसी ने मुझे अनाथ नही कहा। मैंने कभी अनाथता का अनुभव भी नही किया। मैं घर–द्वार छोड कर बाहर चला गया था। कष्ट मे रहा था।

उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ कहने का साहस नही किया था। स्वय मुझे अनाथता का अनुभव नही हुआ था। मै अपने पुरुषार्थ के बल पर काम चलाता रहा था। ऐसा तो नही कि मुनि को मेरे वैभव का पता न हो? इनकी आकृति देखने से ये महाऋद्धिशाली प्रतीत होते हैं। यह भी हो सकता है कि इनकी दृष्टि मे मेरा वैभव नगण्य हो और इस कारण मुझे अनाथ कहते हो।

मनुष्य अपनी चीज से हल्की चीज किसी दूसरे के पास देखता है तो उसे तुच्छ समझता है। जिसके पास हीरे का आभूषण है, उसे सोने के आभूषण भी तुच्छ प्रतीत होते हैं और जिसके पास सोने के गहने हैं वह चादी के गहनो को नगण्य मानता है। इसी प्रकार चादी के गहनो वाला रागे या पीतल के गहनो को साधारण समझता है। अत सभव है, इन मुनि के पास विपुलतर ऋद्धि रही हो और इसी कारण मैं इनकी दृष्टि मे अनाथ जान पडता होऊ। फिर भी जैसा मुनि समझते है, मै वैसा अनाथ नही हू। अतएव मुझे अपनी ऋद्धि का वर्णन करके स्पष्ट बतला देना चाहिए जिससे ये जान ले कि मै कोई ऋद्धिहीन नही हू।

राजा साहसी और वीर था। अतएव उसने मुनि से कहा– महाराज, में मगध का अधिपति हू। मैं मगध का नाम मात्र का ही राजा नही, सारे मगध राज्य का पालनकर्ता हू। मेरे राज्य मे अनेक घोडे, हाथी आदि रत्न हैं। बडे–बडे राजा अपनी कन्याए मुझे देकर अपने को भाग्यवान् मानते हैं। कितने ही लोग ऋद्धि पाकर भी शरीर की अस्वस्थता के कारण उसका उपभोग नही कर सकते, परन्तु मेरे पास ऋद्धि के साथ शारीरिक सम्पत्ति भी अच्छी है। अतएव मैं मनुष्य सम्बन्धी भोगो का भोग कर सकता हू। अनेक राजा नाम मात्र के राजा होते हैं, परन्तु मे ऐसा नही हू। सभी मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। किसमे ऐसा हिम्मत हे जो मेरी आज्ञा का अनादर कर सके? महाराज, फिर भी आप मुझे अनाथ कहते ह! आप मुनि होकर मुझ जेसे राजा को अनाथ कह कर मृषाभाषण करे, यह वस्तुत आश्चर्यजनक हे। जैसे पृथ्वी का आधार न देना और सूर्य का प्रकाश न देना विस्मयजनक हे उसी प्रकार मुनि होकर आपका असत्य भाषण करना भी विस्मयजनक हे। हे पूज्य! आपका असत्य नही वोलना चाहिए।

यहा एक बात ध्यान देने योग्य हे। राजा ने मुनि से यह तो कहा कि– 'आपको असत्य नही वोलना चाहिए' परन्तु कोई कटुक वाक्य नहीं कहा। उसने विवेकपूर्वक शब्दो का उच्चारण किया।

वाणी का प्रयोग करते समय विवेक रखने की आवश्यकता है। मनुष्य के स्वभाव का परिचय वाणी द्वारा मिल जाता है। कहावत है--

वचने का दरिद्रता

अर्थात् मधुर वचन बोलने मे दरिद्रता क्यो रखनी चाहिए?

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजे चहु ओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर।।

और भी कहा है--

बस अजीज रहना प्यारी जबान जहा मे

प्यारी जीभ, और कुछ मिले या न मिले, किन्तु यदि तू मेरे साथ मित्रता कर ले तो सभी जीव मेरे मित्र हो जाए।

तुम लोग दूसरो को मित्र बनाते हो, पर अपनी जीभ के साथ भी क्या कभी मित्रता जोडने का प्रयत्न करते हो? तुम्हारी जीभ से कटुक वाणी क्यो निकलती है, अमृतवाणी क्यो नही बरसती?

कल्पना करो, तुम्हारे किसी पूर्वज ने तुम्हे बतलाया कि घर मे इस ओर सोना गडा है और उस ओर कोयले गडे है। तुम्हारे हाथ मे कुदाली भी दे दी जाय और खोदने के लिए कहा जाय तो तुम सोना खोदना चाहोगे या कोयला? अगर कोयला खोदोगे तो हाथ काले होगे। कह सकते हो कि ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सोना छोड कर कोयला खोदना चाहेगा? सोने को छोड कर कोई कोयला नही खोदना चाहता। इसी प्रकार तुम अपनी जीभ कुदाली से सोना भी निकाल सकते हो और कोयला भी निकाल सकते हो। अपशब्द बोलना कोयला निकालने के समान है और मधुर शब्द बोलना सोना निकालने के समान है।

मै बहिनो से मीठे शब्द बोलने का खासतौर से आग्रह करता हू। अडौसी-पडौसी और बाल-बच्चो के साथ विवेकपूर्वक वचन बोलने चाहिए। मधुर भाषण करने से तुम दूसरो को प्रिय लगोगे और यदि कटुक वाणी का प्रयोग करोगे तो अप्रिय लगोगे।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है--

जा पै जैसी वस्तु है, वैसी दे दिखलाय।
वाकौ बुरा न मानिये, लेन कहा पै जाय।।

जिसके पास गालिया है वह गालिया देता है। जिसके पास जो वस्तु है, वही वह दूसरो को दे सकता है। अतएव इसमे बुरा मानने की आवश्यकता नही है।

कहने का आशय यह है कि जिसमे गालिया देने के सस्कार होगे वह दूसरो को गालिया ही देगा। अतएव पहले से अच्छे सस्कार डालो। भूल–चूक कर भी कटुक वाणी का उच्चारण न करो। अच्छे सस्कारो को जीवन मे उतारने के लिए सदैव सत्सगति करनी चाहिए।

मीठी बोली बोलने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे पूज्य श्रीलालजी महाराज ने एक दृटान्त दिया था–

एक चूडीवाला लाख की चूडिया गधी पर लादकर बाजार मे बेचने को जाया करता था। आजकल तो अनेक प्रकार की रग–बिरगी चूडिया निकल पडी हैं और इस प्रकार विदेशी चूडियो ने बहिनो का हाथ पकड रखा है, परन्तु पहले लाख की चूडियो का विशेष प्रचार था।

हा, वह चूडीवाला गधी पर चूडिया लादकर बाजार जाता था। गधी जब भी धीमी–धीमी चलती तो वह 'चल मेरी माता', 'चल मेरी बहिन' कहकर उसे हाकता था। लोग उससे पूछते– तू गधी को मा और बहिन क्यो कहता है? तब वह उत्तर देता– अगर मैं गधी को गालिया दू तो मुझे गालिया देने की आदत पड जाएगी। मेरा धधा चूडियो का है। अच्छे–अच्छे घरानो की महिलाए मेरे यहा चूडिया खरीदने आती हैं। अगर मेरे मुह से गालिया निकलने लगे तो कौन मेरे यहा आवे? फिर तो मेरा धधा ही चौपट हो जाय।

आपको भी सोचना चाहिए कि आप श्रावक हैं और व्यापारी हैं। आपके मुख से अपशब्द केसे निकले?

राजा श्रेणिक ने मुनि को असत्य बोलने के लिए उपालम्भ तो दे दिया, किन्तु अत्यन्त मर्यादापूर्वक। इस प्रकार जो मर्यादापूर्वक व्यवहार करते हैं, वही विवेकवान् हें और जो प्रत्येक व्यवहार मे विवेक प्रदर्शित करते हैं, उनका कल्याण होता हे।

न तुम जाणसि अणाहस्स, अत्थ पुत्थ च पत्थिवा।
जहा अणाहो भवइ, सणाहो वा नराहिव! ।।13।।
सुणेह मे महाराय! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवइ, जहा मेय पवत्तिय ।।17।।

अर्थ– हे पृथ्वीपति हे नराधिप! तुम नाथ शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति नही जानते हो और कोई अनाथ तथा सनाथ किस तरह होता है यह भी नहीं जानते हो। अतएव महाराज अनाथ किसे कहते हैं और मैंने किस आशय से आपको अनाथ कहा है यह एकाग्रचित से सुनो।

व्याख्यान– मुनि ने राजा श्रेणिक को पार्थिव (पृथ्वीपति), नराधिप और महाराजा कह कर सम्बोधित किया है। एक साथ तीन–तीन सम्बोधनो का प्रयोग करके मुनि ने यह प्रकट कर दिया है कि वह श्रेणिक को न पहचानते हो, यह बात नही है। वे उसके विपुल वैभव और प्रभूत ऐश्वर्य से अनभिज्ञ नही है। उन्हे ज्ञात है कि जिसे अनाथ कहा है, वह पृथ्वी का स्वामी है, प्रजा का स्वामी है और ऐश्वर्य का अधिपति है। यह बात मुनि को भली–भाति मालूम है। फिर भी उसे अनाथ कहने का अभिप्राय क्या है, यह बात वे स्वय समझाते है।

मुनि कहते है– महाराज, मैंने तुम्हे अनाथ कहा है, किन्तु किस अभिप्राय से कहा है, यह नही बतलाया। इस कारण तुम भ्रम मे पड गये हो। अब मैं बतलाता हू कि अनाथ किसे कहते है और सनाथ किसे कहते है? तुम अविक्षिप्त चित्त, शान्तचित्त होकर सुनो। मन मे जो तेजी आ गई है, उसे दूर कर दो।

जब तक चित्त को एकाग्र न किया जाय, कोई बात सुनना भी लाभदायक नही होता। मन मे किसी प्रकार का विग्रह रहा तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। यह बात सर्वत्र लागू पडती है। जिस कार्य को करने बैठे हैं, उसके अतिरिक्त दूसरी जगह मन को दौडाना, मन को एकाग्र न करना 'विग्रह' कहलाता है, फिर भले ही वह कार्य चाहे व्यावहारिक हो, चाहे आध्यात्मिक हो।

आप सामायिक मे बैठे हैं, पर आपका चित्त कहा भटक रहा है, यह कौन जानता है? सामायिक व्रत लेकर एक स्थान पर बैठने पर भी चित्त को दूसरी जगह दौडाना ऐसा ही है कि–

न खुदा ही मिला, न विसाले सनम,
न इधर के रहे, न उधर के रहे।

अतएव आप विचार करे कि हम सामायिक मे तो बैठे हैं, परन्तु हमारा मन कहा भटक रहा है? अगर मन इधर–उधर भटक रहा है तो वह सामायिक व्यावहारिक सामायिक ही कहलाएगी। निश्चय सामायिक तो तभी होगी जब मन एकाग्र रहे और समभाव की रक्षा हो।

कहा जा सकता है कि हमारा मन काबू मे नही रहता तो क्या हमे सामायिक नही करनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि मन यदि काबू मे नही रहता और इधर–उधर दौड जाता है तो भी उसे खराब कामो की तरफ नही जाने देना चाहिए। कदाचित् चला ही जाय तो पश्चात्ताप करके उसे ठिकाने

लाना चाहिए और पुन न जाने देने का दृढ निश्चय करना चाहिए और साथ ही उसे शुभ सकल्प मे उलझा देना चाहिए।

बालक चलना सीखता है तो जिधर चाहता है, उधर ही चल पडता है। किन्तु जिस ओर जाने से गिर जाने का भय होता है उस ओर माता–पिता नही जाने देते या उसके साथ जाते हैं, जहा गिर जाने का भय होता है वहा न जाने देने की शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार मन काबू मे न रहता हो तो उसे अप्रशस्त कामो की तरफ न जाने देना चाहिए, किन्तु सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। यह ठीक नही कि मन काबू मे नही रहता तो सामायिक करना छोड दिया जाय। जो पढता है, वही भूलता है। जो पढता ही नही, वह क्या भूलेगा? इसी प्रकार सामायिक करने वालो से भूल भी होती है, किन्तु उस भूल को सुधार कर इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि वह दोबारा न हो। किन्तु भूल होती है, यह सोचकर सामायिक करना ही छोड बैठना तो बहुत बडी भूल है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्य मे मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता है। मानसिक एकाग्रता से ही कार्य की सिद्धि होती है। इसी कारण मुनि ने राजा से कहा है– हे राजन्! मैं जो कहता हू उसे एकाग्रमना होकर सुनो। अनाथ किसे कहते है ओर सनाथ किसे कहते है, यह दूसरो के अनुभव से नहीं, परन्तु अपने निज के अनुभव के आधार पर ही बतलाता हू। दूसरो की कही बात कदाचित् मिथ्या भी हो सकती है। अतएव मैं अपने ही अनुभव की बात कहता हू कि पहले किस प्रकार अनाथ था ओर अब किस प्रकार सनाथ हो गया हू।

तुम सनाथ हो या अनाथ? जब तुम अपनी अनाथता को पहचान लोगे तो सनाथता को भी समझ सकोगे। परन्तु आत्मा स्वय अनाथ होते हुए भी अपनी अनाथता को स्वीकार नही करता, यही भूल होती है। परन्तु जो भक्त–जन हैं, वे परमात्मा के आगे अपनी अनाथता को स्वीकार कर लेते हैं। तुलसीदास की कविता के द्वारा यही बात प्रकट करता हू। यद्यपि यहा भाव मे कुछ अन्तर ऊपर–ऊपर से जान पडेगा, किन्तु गहरा विचार करने पर कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। वे कहते हैं–

तू दयालु, दीन हौ, तू दानी, हौं भिखारी,
हौ प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुजहारी।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो,
मो समान आरत नाहि आरतहार तो सो।।

इस पद मे आत्मसमर्पण का भाव है। परमात्मा के प्रति आत्मा को किस प्रकार समर्पित कर देना चाहिए, यह बात इस कविता मे बतलाई गई है। अनाथी मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात थोडे से फेर–फार के साथ कवि ने अपनी भाषा मे कही है।

परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण किस प्रकार करना चाहिए, यह बात तुलसीदासजी की कविता से समझो। परमात्मा दीन–दयालु कहलाता है। आप अपने विषय मे विचार करो कि तुम स्वय 'दीन' नही बने तो 'दीन–दयालु' के साथ तुम्हारा सम्बन्ध किस प्रकार जुड सकता है?

दीन किस प्रकार बना जा सकता है? जब तक अहकार है तब तक दीन नही बना जा सकता। दीन बनने के लिए अहकार का त्याग करना आवश्यक है। अतएव अभिमान को छोडकर दीन बनो। व्यवहार मे तो न जाने किस–किस के सामने, कितनी बार दीन बनना पडता है, परन्तु परमात्मा के आगे दीन बनने मे सकुचाते हो। विवाह होने पर घर मे दीन बनते हो या नही? जैसे कुत्ता रोटी के लिए पूछ हिलाता है और पेट दिखलाता है, उसी प्रकार तुम भी स्त्री के आगे दीन बन जाते हो या नहीं? विषय–वासना होने के कारण आत्मा मे दीनता आ ही जाती है। बडे–बडे महाराजा भी वेश्या के वश मे होकर उसके सामने दीन बन जाते है– उसके गुलाम हो जाते है।

कहने का आशय यह है कि आत्मा मे दीन होने का स्वभाव तो है, परन्तु परमात्मा के सामने दीन बनने मे कठिनाई आती है। किन्तु जब अहकार का परिहार करके परमप्रभु के समक्ष दीनता धारण करोगे, तभी इष्टसिद्धि हो सकेगी। कवि आनन्दघनजी ने कहा है–

प्रीति सगाई रे जग मे सो करे,
प्रीति सगाई न कोय।
प्रीति सगाई निरुपाधिक कही,
सोपाधिक धन खोय।।

प्रीति सगाई, दीनता सब करते हे। और ऐसा करते–करते अनन्त काल व्यतीत हो गया हे, परन्तु इस प्रकार की दीनता सोपाधिक दीनता है, निरुपाधिक दीनता नही। सोपाधिक दीनता से दीनता बढती है, घटती नही है। इस तरह की दीनता से आत्मा भिखारी ही रहता है।

कहा जा सकता है ऐसी स्थिति मे हमे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह हे कि अपनी समस्त भावनाए परमात्मा को अर्पित कर दो और अभिमान का त्याग करके दीन वन जाओ। गरीब से गरीब और बडा साहूकार

भी ऐसा कर सकता है। अधा, बहरा, लूला या चाहे जैसा अपग हो, वह भी परमात्मा के सामने भावो का समर्पण करके दीन बन सकता है। ऐसा करने मे किसी भी प्रकार की बाधा आडे नही आती।

कदाचित् कहा जाय कि राजा आदि से प्रार्थना करके दीनता दूर की जा सकती है। किन्तु 'मैं दीन था और राजा से प्रार्थना की तो मेरी दीनता दूर हो गई'– ऐसा मानना भूल है। राजा तो दीनता दूर करने के बदले उसे बढाता है। दीनता किस प्रकार बढती है, यह बात बतलाने के लिए शास्त्र मे कपिल का उदाहरण प्रसिद्ध है।

कपिल दो माशा सोने के लिए घर से निकला था। परन्तु राजा ने यथेष्ट मागने की अनुमति दे दी तो उसका लोभ बढ गया। यहा तक कि वह राजा का सम्पूर्ण राज्य माग लेने का विचार करने लगा और निष्कटक बनने के इरादे से राजा को कैद करने का मनोरथ करने लगा। किन्तु अचानक ही उसकी विचारधारा पलट गई और वह साधु बन गया। राजा ने पूछा– बोलो क्या मागते हो?

कपिल– मुझे जो चाहिये था, सो मिल गया।

राजा– क्या हुआ? साधु कैसे बन गये?

कपिल– मागने का विचार करते–करते मैंने सोचा कि आपका समस्त राज्य ले लू और आपको कारागार मे डाल दू। मगर इतने पर भी तृष्णा उपशान्त न हुई। तब मैंने यह स्थिति अगीकार की। अब मुझे शान्ति मिली है। मैं राज्य आदि की खटपट मे नही पडना चाहता।

राजा– मैं अपने वचन पर अब भी दृढ हू। मैं आजीवन तुम्हारा सेवक बन कर रहूगा, तुम्हारी रक्षा करूगा। तुम चाहो तो आनन्द से राज्य का उपभोग करो।

कपिल– अब मुझे राज्य का मोह नही रहा। मैं राज्य से भी बडी वस्तु पा चुका हू। पर एक बात तो बतलाइए कि मैंने सचमुच ही सारा राज्य माग लिया होता तो आप मेरे वैरी बन जाते या नही?

राजा– हा उस अवस्था मे तो वैर बध ही जाता।

कपिल– लेकिन अभी तो आप स्वय राज्य देने को तैयार हैं। यह मेरे त्याग का ही प्रताप है। जिस त्याग को अपनाते ही राज्य मिल रहा है उसका इतना बडा महत्त्व है तो फिर राज्य के लिए त्याग का त्याग करना कहा तक उचित है?

राजा– महाराज, आपका मोह दूर हो गया है, अत आपसे कुछ भी कहना वृथा है। आप मुझे उपदेश दीजिए, जिससे मैं भी आत्मा का कल्याण कर सकू।

कपिल राजा को उपदेश देकर जगल मे चले गये। वहा जाकर पाच सौ भयानक चोरो को उपदेश देकर सुधारा।

मतलब यह है कि दीनता दिखलाने का स्वभाव तो प्रत्येक मे होता है, किन्तु प्राय ऐसे लोगो के सामने दीनता दिखलाई जाती है, जिनके सामने दीनता दिखलाने से दीनता बढती है, घटती नही। जिन्हे अपना नाथ बनाया जाता है वही अनाथ बना देते हैं। ऐसे लोगो के पास जाने से दीनता दूर नही हो सकती। वे स्वय दीन और अनाथ है तो दूसरे की दीनता एव अनाथता किस पकार दूर कर सकते है?

इसी कारण मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं– राजन्! तुम्हे सनाथ और अनाथ का स्वरूप विदित नही है। 'मै स्वय अनाथता की स्थिति मे रह चुका हू। अतएव उसी स्थिति का वर्णन करके तुम्हे अनाथता का स्वरूप समझाता हू। चित्त को एकाग्र करके मेरा वृत्तान्त सुनो।

देखा जाता है कि जब काम निकल जाता है तो दु ख भुला दिया जाता है। जब तक मस्तक पर दु ख का भार बना रहता है तब तक ही मनुष्य दु ख का रोना रोता रहता है। दु ख दूर होते ही उसे ऐसा भुला दिया जाता है, मानो दु ख कभी हुआ ही नही था। किन्तु लोग अगर अपने भूतकाल को न भूल जाए तो वे किसी के प्रति घृणा न करे। ऐसे मनुष्य को कोई दुखी जीव दृष्टिगोचर होगा तो वह सोचेगा कि ऐसी दु खमय स्थिति तो मेरी आत्मा भी भोग चुकी है। तुम किसी कसाई को देखोगे तो तिरस्कार की दृष्टि से देखोगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष उसकी ओर भी मध्यस्थ दृष्टि ही रखेगा। वह जानता है कि मै इससे कैसे घृणा करू। मेरी आत्मा भी इस स्थिति मे रह चुकी है। यह तो अपने–अपने कर्म का फल है।

मुनि कहते हैं– राजन्! जिन वस्तुओ के कारण अपने को सनाथ समझते हो, वे वास्तव मे सनाथ बनाने वाली हैं या अनाथ, यह बात मेरे वृत्तान्त से जान लो। मेरे पास भी ये सब वस्तुए थी। फिर भी मै अनाथ था। क्यो अनाथ था? सुनिये–

कोशाम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झ, पभूयधणसचओ।।17।।

अर्थ– कोशाम्बी नाम की नगरी अत्यन्त प्राचीन थी– प्राचीन कहलाने वाले नगरो मे भी प्राचीन थी। उसमे मेरे पिताजी रहते थे, जिनके पास प्रचुर धन सचित था।

व्याख्यान– मुनि अपनाजन्मस्थान बतलाकर आत्माकथा आरम्भ कर रहे हैं। वे कहते हैं– भारतवर्ष मे कौशाम्बी नाम की प्रसिद्ध नगरी थी। वह बहुत प्राचीन नगरी थी। प्राचीन और नवीन नगर मे क्या भेद होता है, यह तो तुम्हे ज्ञात ही है।

साधारणतया ऐसा कोई नियम नही है कि नई वस्तु खराब ही होती है और न सब प्राचीन वस्तुए अच्छी ही होती है, तथापि पूर्वापर का विचार करने पर ज्ञान होगा कि नवीन की अपेक्षा पुरातन का मूल्य अधिक होता है। वैज्ञानिको का कथन है कि कोयले और हीरे के परमाणु एक ही होते हैं परन्तु जो कोयला जल्दी खोद लिया जाता है वह कोयला ही रह जाता है, किन्तु जो जल्दी नहीं खोदा जाता और लम्बे समय तक जमीन मे दबा रहता है, उसका मूल्य बढ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य मे जो अधिक अनुभवी होता हे उसकी कीमत अधिक आकी जाती है। और भी दूसरी वस्तुए है जो सिर्फ पुरानी होने के कारण ही कीमती गिनी जाती हैं। पर्वत, वृक्ष और नगर आदि, जो प्राचीन होते हैं, उनकी कीमत ज्यादा आकी जाती है।

हा, तो मुनि ने कहा– कोशाम्बी नगरी प्राचीन थी। इस कथन का अभिप्राय यह हे कि उस नगरी की स्थिति ऐसी थी, वहा के सस्कार इतने सुन्दर थे कि प्राचीन होने पर भी वह टिकी हुई थी। अनेक आघात–प्रत्याघात सहन करके भी जो नगर टिका रहता हे, नष्ट नही होता, उस नगर म कोई विशेपता अवश्य होती हे। आज भी प्राचीन नगरो की खोज–बीन की जाती है और उससे पता चल जाता हे कि वह नगर कैसा था, उसकी रचना कैसी थी, वह कैसा समृद्ध था ओर किस स्थिति मे था।

प्रश्न होता हे– मुनि अनाथता का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो नगरी का वर्णन करने का उद्देश्य क्या हे? मेरे खयाल से नगर के लोग समझते हैं कि हमे नगर मे जो सुविधाए मिलती हैं वे ग्राम्य लोगा को नहीं मिल सकतीं। इस विचार से नागरिको को अभिमान होता हे।

नगर–निवास को भी वे अपनी विशिप्टता समझते हैं। मुनि न कौशाम्बी को सब नगरो मे अत्यन्त प्राचीन बतला कर सूचित कर दिया है कि वह नगरी साहित्य और सुविधाओ से परिपूर्ण होने पर भी मै वहा अनाथ था। मेरी अनाथता का निवारण वहा भी नहीं हो सका।

अब अनाथ मुनि अर्थापत्ति अलकार द्वारा अपने जन्मस्थान का परिचय देते है और अपनी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं। कहते है– राजन् उस कौशाम्बी नगरी मे मेरे पिता रहते थे।

मुनि यह नही कहते कि मै वहा रहता था या मेरा जन्म वहा हुआ था। वे यही प्रकट करते है कि मेरे पिता वहा रहते थे। इस प्रकार अर्थापत्ति अलकार द्वारा उन्होने अपने जन्मस्थान का परिचय दिया है।

अर्थापत्ति अलकार न्याय का एक सिद्धान्त है। मान लीजिए, किसी ने किसी को स्वस्थ और बलवान् देखकर कहा है– "जान पडता है तू खूब खाता है।" तब उसने उत्तर दिया– 'नही, मै कभी दिन मे नही खाता।' इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि वह भोजन नही करता। वह भोजन तो करता है, परन्तु दिन मे नही करता, अर्थात् रात्रि मे करता है। इसी को अर्थापत्ति अलकार कहते हैं।

इसी प्रकार मुनि ने राजा से कहा– कौशाम्बी मे मेरे पिता रहते थे। यहा पिता का निवास–स्थान बतला कर उन्होने अपना जन्मस्थान प्रकट किया है। महापुरुष अपनी महत्ता का बखान नही करते। वे अपने गुरुजनो को महत्ता प्रदान करते है। जैसे सुधर्मा स्वामी ने शास्त्रो का वर्णन करते हुए जगह–जगह कहा है कि मैंने भगवान् महावीर स्वामी से ऐसा सुना है। वे चार ज्ञान चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होने यह कही नही कहा कि मै ऐसा कहता हू। इस प्रकार प्राचीन काल के लोग अपनी नही, अपने बडो की, पूर्वजो की महत्ता बढाते थे। आप भी अपने पूर्वजो का स्मरण करते हैं या नही?

आजकल के कोई–कोई पढे–लिखे कहलाने वाले लोग तो यहा तक कह बैठते है कि पहले के लोग तो पागल और मूर्ख थे। यही नही, कितनेक को अपने पिता को भी भूल जाते हैं। किन्तु विवेकशील पुरुष अपने पिता को आगे रखते हैं और उनकी प्रतिष्ठा बढाते है। वे अपने पिता की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

सुना था, चीन मे कोई मनुष्य उत्तम कार्य करता है तो उसके पिता को पदवी प्रदान की जाती है और इसी रूप मे उसकी कद्र की जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता कि पिता ने जब पुत्र के जीवन को श्रेष्ठ सस्कारो से सुसस्कृत बनाया, तभी वह इतना सुयोग्य बन सका। अतएव अपने पुत्र के उत्तम कार्य के लिए उसका पिता ही प्रतिष्ठा का पात्र हैं। आशय

यह है कि बुद्धिमान लोग अपने पूर्वजो को सदैव आगे रखते है और अपने पूर्वजो की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

इसी कारण अथवा किसी अन्य कारण से मुनि ने राजा से कहा– मेरे पिता कौशाम्बी नगर मे रहते थे और वहा प्रचुर धनसचयी थे। यह कहकर मुनि ने यह सूचित कर दिया है कि वे प्रभूत धन, सम्पत्ति और ऋद्धि–समृद्धि से सम्पन्न पिता के पुत्र हैं। लक्ष्मीवान् पिता का पुत्र भी लक्ष्मीवान् होता है। इस प्रकार मुनि के कथन का आशय यह निकलता है कि इतनी विपुल विभूति होने पर भी मैं अनाथ था।

मुनि का यह कथन सुनकर राजा सोचने लगा– यह मुनि इतने अधिक सम्पत्तिशाली थे तो फिर अपने को अनाथ क्यो कहते है?

मुनि अपनी अनाथता को किस प्रकार प्रकट करते हैं, इसका विचार आगे किया जाएगा। अभी सिर्फ यही कहना है कि भले कोई करोडपति का लडका क्यो न हो, मुनि के कथन के आधार पर यहा समझना चाहिए कि जब तक आत्मा अनाथ है, तब तक धन व्यर्थ है। किसी के पास कितनी ही सम्पत्ति और सुविधाए क्यो न हो, इतने मात्र से वह सनाथ नही बन सकता। शास्त्र के इस कथन पर श्रद्धा रखकर तुम्हे यह बात भलीभाति समझ लेनी चाहिए कि सासारिक वस्तुओ की बदौलत तुम चाहे कितना ही ऊचा पद क्यो न प्राप्त कर लो, पर उनसे आत्मा सनाथ नही बन सकता। धन से आत्मा की अनाथता दूर करके सनाथ नहीं बना जाता।

वास्तव मे धर्म का धन के साथ कोई सम्बन्ध नही है। धन से धर्म की प्राप्ति हो भी नही सकती। चाहे कोई निर्धन हो अथवा सघन वह भावना जाग्रत होने पर धर्म को अगीकार कर सकता है। धन की बदौलत बहुत बार भीषण अनर्थ होते हैं। जैसे दामोदरलाल (नाथद्वारा के महन्त) धन के कारण ही वेश्या के फदे और अन्त मे हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए। धनमद मे उन्मत्त होकर उन्होने लाखो की सम्पत्ति नष्ट कर डाली। अपनी साम्प्रदायिक परम्परा को भी भग किया और प्राणो से भी हाथ धो बैठे। कौन जाने परलोक मे उनकी क्या दशा होगी? इस प्रकार बहुतेरे मनुष्य ऋद्धि पाकर कुमार्ग मे चले जाते हैं। ऋद्धिमान होकर सन्मार्ग पर चलने वाले और मर्यादा का पालन करने वाले विरले ही होते हैं। जो धन मनुष्य को कुपथगामी बनाता है, उसे पा लेने मात्र से कोई मनुष्य सनाथ कैसे हो सकता है? यही कारण है कि प्रचुर धनसचयी पिता के पुत्र होकर भी मुनि अपने को अनाथ मानते हैं।

जिसकी अधीनता मे रहने वाले दूसरे लोग भी धनवान् बन जाए, उसे प्रचुर धनसचयी कहते हैं। जैसे पण्डित के पास रहने वाला मूर्ख भी पण्डित बन जाता है और डाक्टर के पास रहने वाला रोगी भी अच्छा हो जाता है, उसी प्रकार जिसके आश्रय मे रहने वाला निर्धन भी धनवान् बन जाय, वह प्रचुर धनसचयी कहलाता है।

मुनि ने अपने पिता को प्रचुर धनसचयी कहा है। इसका अर्थ यही है कि उनके पिता के आश्रय मे रहकर अनेक निर्धन भी सधन बन गये थे।

मुनि के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही था। राजा जानता था कि कौशाम्बी पुरानी नगरी है और वहा बडे–बडे धनाढ्य रहते हैं। मगर उसके हृदय मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि फिर मुनि अनाथ क्यो थे? राजा ने अपने मनोभाव मुनि के सामने प्रकट कर दिये। तब मुनि बोले–

पढमे वये महाराय, अतुला में अच्छि वेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगेसु पत्थिवा।।19।।
सत्थ जहा परमतिक्ख, सरीरविवरंतरे।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा।।20।।
तिय मे अन्तरिच्छ च, उत्तमग च पीडइ।
इन्दासणि समा घोरा, वेयणा परमादारुणा।।21।।
उवट्टिया मे आयारिया, विज्ज–मंत–चिगिच्छया।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया।।22।।
ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पाय जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अवणाहया।।23।।

अर्थ– हे महाराज, हे पृथ्वीपति, युवावस्था के प्रारम्भ मे, मेरी आखो मे अनुपम वेदना उत्पन्न हो गई और सम्पूर्ण शरीर मे प्रचण्ड दाह भी उत्पन्न हो गया।

जैसे कुपित हुआ बैरी शरीर के छिद्रो मे तीक्ष्ण शस्त्र घुसेडे तो उस समय जैसी वेदना हो, वैसी ही वेदना मेरी आखो मे हो रही थी।

हृदय, कमर तथा मस्तक मे भी ऐसी असह्य और दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्राघात से घोर वेदना हो रही हो।

विद्या, मत्र एव औषध से रोग निवारण करने मे कुशल, असाधारण चिकित्साशास्त्र मे पारगत आचार्य चिकित्सक मेरी चिकित्सा करने के लिये आये।

वे चिकित्साचार्य चार प्रकार से— रोग का निदान करना, औषध, पथ्य सेवन करना और परिचर्या करना, अथवा वमन, विरेचन, मर्दन और स्वेदन अथवा अजन, वधन, लेपन और मर्दन से मेरी चिकित्सा करने लगे, किन्तु मुझे दु ख से मुक्त न कर सके। यही मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान— मुनिराज कहते हैं— राजन्! मैं अपनी अनाथता की व्याख्या करता हू। मैं प्रचुर धनसचयी का पुत्र था। मेरा लालन—पालन अत्यन्त दक्षता और सावधानी से हुआ था। मेरे यहा किसी भी साधन की कमी नहीं थी। मेरी बाल्यावस्था बडे ही आनन्द के साथ व्यतीत हुई थी। उस समय भी किसी चीज की कमी नहीं थी

मैं जब युवक हुआ तब योग्य तरुण कन्या के साथ मेरा विवाह हुआ। तुम जिस उम्र को भोग के योग्य बतलाते हो और जिन्हे भोग का साधन कहते हो, वे सब साधन मेरे पास विद्यमान थे, फिर भी मेरी क्या दशा हुई, यह ध्यानपूर्वक सुनो। युवावस्था मे मेरे शरीर मे रोग उत्पन्न हो गया। घोर वेदना होने लगी। पहले—पहल वेदना ने मेरी आखो मे खटका उत्पन्न किया।

आख सारे शरीर मे सारभूत मानी जाती है। आखो से देखने मात्र से सबको पहचाना जा सकता है। आखो के अभाव मे सारा ससार अन्धकारमय प्रतीत होता है। भले करोड सूर्य उदित हो जाए, अगर आख नही तो उन सबका प्रकाश निरर्थक है।

इस शरीर मे आखो का इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु आखे होने से आत्मा मे सनाथता आती है या अनाथता, यह बात अनाथ मुनि के कथन एव वृत्तान्त से समझो। मुनि ने आखो से सुन्दर दृश्य देखे होंगे और उत्तम पदार्थ भी देखे होगे और आखो को ठीक रखने के लिए अजन या सुरमे का भी प्रयोग किया होगा, आखो को ठडक पहुचाने के लिए शीतल पदार्थों का सेवन भी किया होगा। इतनी सार—सभाल करने पर भी मुनि की आखो मे वेदना क्यो उत्पन्न हुई?

इस अध्ययन मे अब तक जो कहा गया है और आगे जो कहा जायगा, उसका आशय प्रकट करते हुए मुनि कहते हैं— मेरे पास सभी साधन विद्यमान थे। मैं स्वय आखो को ठीक रखना चाहता था, उनकी सार—सभाल भी करता था। फिर भी न जाने क्या आखो मे दुस्सह वेदना उत्पन्न हो गई। उस भयकर वेदना के कारण मन मे विचार आता कि आख ही न होती तो कितना अच्छा होता! इतनी दुस्सह वेदना तो न सहनी पडती राजन्! इतनी सार—सभाल और सावधानी रखने पर भी जब आखो मे असह्य वेदना उत्पन्न हुई तो मुझे लगा

कि मैं अपनी आखो का नाथ नही हू। नाथ होता तो इतनी सुरक्षा करने पर भी वेदना उत्पन्न क्यो होती?

जो कहते या समझते हैं कि ये आखे मेरी है, वे भूल करते हैं। वे आखो मे अपना आरोपण कर लेते हैं। किन्तु जो अपनी आज्ञा नही मानता– अपनी इच्छा पर नही चलता, उसे अपना कैसे माना जा सकता है? तुम अपने को किसी मनुष्य का मालिक मानते हो, परन्तु वह तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल व्यवहार करता है, तो वास्तव मे तुम अपने को उसका मालिक किस प्रकार कह सकते हो?

मुनि ने कहा– मुझे पहले इस बात का भान नही था किन्तु जब नेत्रो मे पीडा उत्पन्न हुई, तब भान हुआ कि मै आखो का नाथ बन कर क्या अभिमान करता हू? ससार के पदार्थों को देख–देख कर धोखा खा रहा हू।

मुनि आगे कहते हैं– आखो मे वेदना होने के साथ ही मेरे शरीर मे खूब दाह उत्पन्न हो गया। शरीर के किसी अग विशेष मे ही दाह उत्पन्न नही हुआ, मगर सम्पूर्ण शरीर मे इस प्रकार की जलन पैदा हो गई मानो शरीर को आग मे झौंक दिया हो।

कोई मनुष्य तुम्हारे शरीर पर दहकता हुआ अगार फैक दे अथवा आख मे सुई चुभा दे तो उसे तुम अपना शत्रु या अपराधी मानोगे या नही? इस प्रकार बाहर से सुई चुभाने वाले या आग से जलाने वाले को तो अपराधी या शत्रु मान सकते हो, किन्तु बाहर कोई शत्रु या अपराधी दिखाई न देता हो तब क्या समझा जाय? मुनि की आखो मे कौन सुई–सी चुभा रहा था? कौन उन्हे जला रहा था? वह वैरी कौन था? तुम बाहर के मनुष्य को तो वैरी या अपराधी समझ लेते हो, परन्तु यह नही देखते कि तुम स्वय ही अपने वैरी और अपराधी बन रहे हो।

मुनि कहते हैं– राजन्! तुम राज्य का सचालन करते हो। तुम्हारे सामने कोई किसी की आखो मे भाला भोके या शरीर को जलावे तो तुम खडे–खडे चुपचाप देखते रहोगे?

राजा– मुझे स्मरण नही आता कि किसी ने अपराध किया हो और मैंने उसे दण्ड न दिया हो।

मुनि– राजन्! बाहर का अपराधी होता तो कदाचित् मै अपनी रक्षा कर सकता, किन्तु मुझ पर जिस क्रूर रोग ने आक्रमण किया उससे मुझे बचाने वाला कौन था?

राजन्! मैं तुमसे एक प्रश्न करता हू। तुम्हारे राज्य मे कोई किसी पर हमला करे तो तुम रोकते होगे और उसे दड भी देते होगे। परन्तु क्या तुम्हारे राज्य मे कभी रोग का आक्रमण नही होता? उस रोग को दूर करने के लिए और प्रजा को रोग से बचाने के लिए किसी दिन दौडे और रोग से प्रजा की रक्षा की है? अगर तुम रोग से प्रजा की रक्षा नही कर सके तो प्रजा के नाथ कैसे कहे जा सकते हो? अरे, प्रजा का नाथ होना तो दूर की बात है, तुम अपने भी नाथ नही बन सकते। अतएव विचार करो कि मैं कैसा अनाथ हू?

कदाचित् कहोगे कि रोग से कैसे रक्षा की जा सकती है? परन्तु मैं पूछता हू कि आखिर रोग क्या चीज है? रोग और कुछ नहीं, यह आत्मा ही रोग है। तुम बाहर के शत्रुओ को तो देख सकते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे है, उन्हे क्यो नही देखते? अगर तुम अपने भीतर विद्यमान शत्रुओ को नही जीत सकते तो फिर नाथ कैसे? ऐसी स्थिति मे तो तुम स्वय ही अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा ने कहा— आपको ऐसी असह्य वेदना हुई थी? तब मुनि बोले— क्या कहू राजन्! आखो मे ऐसी दुस्सह वेदना होती थी, जैसे कोई महान तीक्ष्ण भाला लेकर आखो मे भोक रहा हो। राजन्, अब तुम्ही विचार कर देखो कि उस समय जो शत्रु मुझे कष्ट दे रहा था, उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ? एक ओर नेत्रो मे पीडा हो रही थी और दूसरी ओर मेरी कमर मे भी वेदना हो रही थी। साथ ही जो उत्तमाग कहलाता है और जो ज्ञान का केन्द्रभूत है, उस मस्तक मे भी ऐसी घोर पीडा हो रही थी, मानो इन्द्र वज्र मार रहा हो या बिजली पड रही हो। इस प्रकार मेरा समस्त शरीर दारुण वेदना से पीडित था।

कहोगे कि उस पीडा को दूर करने के लिए वैद्यो की सहायता लेनी थी। परन्तु राजन्, मैंने बडे—बडे वैद्यो की सहायता ली। औषध सेवन करने मे किसी प्रकार की कमी नही रहने दी। मै किसी छोटे—मोटे गावडे मे तो रहता नही था, कौशाम्बी जैसी प्राचीन नगरी मे रहता था। वहा के पुराने, प्रसिद्ध और अनुभवी आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए पैरो पर खडे रहते थे। वे साधारण वैद्य नही थे, वरन् वैद्यक—शास्त्र मे पारगत एव शल्य क्रिया मे भी कुशल थे। ऑपरेशन करने मे ऐसे दक्ष कि बीमार को पता भी न चले। वे वैद्य मत्र—विद्या मे विशारद थे। ऐसे अनुभवी और कुशल वैद्य भी मेरी चिकित्सा करते—करते थक गये, परन्तु मेरी वेदना को दूर न कर सके। मैं ऐसा अनाथ था।

महाराज, तुमने जिस शरीर की प्रशसा की और जिसे भोग के योग्य बतलाया है, उसी शरीर मे ऐसी दारुण वेदना उपजी थी। अब तुम्ही कहो कि उस समय मैं सनाथ था या अनाथ?

उस समय मेरे मन मे विचार आया— 'मैं इस शरीर के कारण ही कष्ट भुगत रहा हू। विष मिल जाय तो उसका पान करके मर जाऊ और किसी प्रकार इस असह्य यातना से छुटकारा पाऊ। फिर मुझे खयाल आया कि जिस शरीर की बदौलत मुझे इतने कष्ट झेलने पड रहे है, उस शरीर को अपने-आप का नाथ समझना धिक्कार की बात है। राजन्, मुझे जैसा रोग हुआ था, वैसा तुम्हे भी तो हो सकता है?'

श्रेणिक आज यहा नही है, पर आप लोग तो हैं। जैसे अनाथ मुनि ने श्रेणिक से प्रश्न किया था, उसी प्रकार मैं आपसे पूछता हू- रोग तुम्हे भी हुआ होगा? उस समय यह शरीर कष्टदायक प्रतीत होता था? किन्तु वास्तव मे ही अगर शरीर कष्टदायक लगा होता तो आप ऐसे प्रयत्न करते कि इस शरीर मे रहना ही न पडे। सदा के लिए अशरीर-अवस्था प्राप्त हो जाय। परन्तु कष्ट से मुक्त होने के बाद कष्ट का स्मरण ही नही रहता।

जीव विचार करता है कि मैं इस देह का स्वामी हू। यह देह मेरी है, मेरे अधीन है। इस प्रकार शरीर के प्रति ममत्व धारण करके वह देह का स्वामी बनता है, किन्तु सच्चाई यह है कि जीव का शरीर पर जितना ही अधिक ममत्व होता है, जितना ही वह इसका स्वामी बनना चाहता है, उतना ही अधिक अनाथ बनता है।

व्यवहार मे किसी को वीर और किसी को कायर कहा जाता है। पर वीर और कायर की व्याख्या क्या है? किस कारण एक को वीर और दूसरे को कायर कहा जाता है? इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कोई भी मनुष्य कायरो की श्रेणी मे अपना नाम नही लिखाना चाहता। सभी अपने को वीर कहलवाना चाहते हैं। परन्तु वीर बनने के लिए वीरता धारण करनी पडती है। युद्ध की भेरी बजती है तो वीर पुरुष अपनी वीरता दिखलाने के लिए बाहर आता है और अपनी पत्नी तथा पुत्र को भी भूल जाता है। यही नही, अपने शरीर की भी परवाह न करता हुआ, प्राणो को हथेली पर रखकर सग्राम करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार की वीरता का प्रदर्शन करने से कही कोई वीर कहला सकता है। परन्तु जो वीरवृत्ति नही धारण करता, वह व्यवहार मे भी वीर नही कहलाता।

जब लौकिक वीर को भी इतनी वीरता दिखलानी पडती है तो लोकोत्तर वीर को कितनी वीरता न दिखलानी पडती होगी? लोक–व्यवहार मे भी जो मनुष्य शरीर के प्रति ममत्व रखता है, वह कायर कहलाता है और जो शरीर का ममत्व त्याग देता है, वह वीर माना जाता है। इस प्रकार जो लोग शरीर के ममत्व का त्याग करके कर्मों के साथ युद्ध करने के लिए अग्रसर होते हैं, वे क्या वीर नही हैं? निस्सदेह वे वीर हैं। इस प्रकार जो वीर है वही नाथ बन सकता है, और जो शरीर पर ममत्व रखता है वह कायर, नाथ नही बन सकता। वह तो अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं– राजन्! तुम अपने को इस शरीर का नाथ समझते हो, शरीर को अपना मानते हो, परन्तु जरा विचार कर देखो कि इस पर तुम्हारा आधिपत्य भी है या नही? जो बात सिन्धु मे होती है, वही बिन्दु मे होती है। इस कथन के अनुसार मैं मानता हू कि जो बात मुझ पर बीती, वही दूसरो पर भी बीतती होगी। मैं भी अपने–आप को शरीर का स्वामी समझता था। मगर इस मान्यता के कारण मुझ पर जो बीती, वह सुनिए –

मेरी युवावस्था थी। युवावस्था मे विरला ही कोई होगा जो दीवाना न बन जाता हो। इस अवस्था मे रक्त मे उष्णता होती है, अतएव प्राय लोग दीवाने हो जाते हैं। अच्छे–अच्छे घरानो की सुन्दर स्त्रियो के साथ मेरा विवाह सम्बन्ध हुआ था। वह समय मेरे लिए रमणियो को और उनके शृगार को देखकर खुशी मनाने का था, किन्तु उन्हे देखने का साधन– मेरे नेत्र ही बिगड गये। आखो की असह्य वेदना के कारण मैं कुछ भी आनन्द नही लूट सकता था।

आखे खराब हो जाने पर आनन्दप्रद वस्तुए भी किस प्रकार खराब दिखाई देने लगती हैं, यह बात एक उदाहरणण से समझिए।

कल्पना करो, किसी मनुष्य ने चित्रशाला बनवानी आरभ की। चित्रशाला बनवाने मे उसने पूर्ण उदारता दिखलाई। मुक्त हस्त हो खर्च किया। किन्तु जब चित्रशाला बनकर तैयार हुई, तब भाग्य से वह अधा हो गया। इस कारण चित्रशाला उसके लिए आनन्दप्रद होने के बदले दु खदायक हो गई। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पर–पदार्थ को सुख का साधन मानना विवशता और दु ख का ही आह्वान करना है।

यह आत्मा यही भूल कर रहा है। वास्तव मे जिसे देखता है, उसे भूल जाता हे और पर के अधीन हो जाता है। जिसे देखना चाहिए, उसे देखता नही और भिन्न पदार्थों को देखने मे ही जुट जाता है। इस प्रकार वह आखो

के अधीन हो जाता है। वह सोचता है– आखे तो पदार्थों को देखने के लिए ही है। परन्तु उसे यह खयाल नहीं आता कि आखो को अपनी मानकर उनके अधीन हो जाना अनाथता को अपनाना है। अज्ञानी जन इस सम्बन्ध मे गभीर विचार न करके आखो मे और आखो द्वारा दृश्य पदार्थों मे लिप्त हो जाते हैं, किन्तु ज्ञानी जन लिप्त नही होते।

आखो का उपयोग कहा और किस प्रकार करना चाहिए यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू। मान लो आपके किसी मित्र ने आपको एक सूक्ष्मदर्शक यत्र दिया। इस यत्र से जो सूक्ष्म वस्तु आखो द्वारा नहीं देखी जा सकती थी वह देखी जा सकती है। आपके मित्र ने इसी उद्देश्य से आपको यत्र दिया भी था। पर उस यत्र से आप सूक्ष्म वस्तु न देखकर गाय–भैस देखने लगे। आपने नही सोचा कि गाय–भैस तो हमेशा यो ही देखते रहते हैं। उनके देखने मे यत्र की क्या उपयोगिता है? उसकी सच्ची उपयोगिता तो उन सूक्ष्म वस्तुओ को देखने मे है जो यत्र के बिना आखो से नहीं दिखाई देती।

सुना जाता है, आजकल तो ऐसे–ऐसे यत्रो का आविष्कार हो गया है कि जिनकी सहायता से पेटी के अन्दर बद की हुई वस्तु भी देखी जा सकती है और यह भी जाना जा सकता है कि पहाड के पीछे क्या है? यह बात कहा तक सत्य है, यह मुझे नही मालूम।

अच्छा, मूल बात पर आइए। आप गाय–भैस को देखने मे सूक्ष्मदर्शक यत्र का उपयोग करे तो यह देखकर आपका मित्र नाराज होगा या नही? और सूक्ष्मदर्शक यत्र का इस प्रकार दुरुपयोग करने वाला बुद्धिमान कहलाएगा या मूर्ख? आप कहेगे– वह मूर्ख है। यह ठीक भी है। परन्तु जरा आप अपने सम्बन्ध मे विचार करो। आपसे भी ऐसी ही भूल तो नही हो रही है?

आपको सूक्ष्मदर्शक यत्र मिल जाय, किन्तु आखे न हो तो यत्र का क्या उपयोग करेगे? आखो के अभाव मे यत्र से देख सकेगे? इस दृष्टि से सूक्ष्मदर्शक यत्र की अपेक्षा आखे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। तो आपको इतनी महत्त्वपूर्ण आखे जो मिली हैं, उनका आप क्या उपयोग कर रहे है? अगर यत्र का दुरुपयोग करना मूर्खता है तो आखो का दुरुपयोग करना क्या मूर्खता नही है?

आखो का क्या मूल्य हे और उनका किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे विचार करो। आखो को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करके, जब तक पलक न गिराये जाए तब तक मन भी एकाग्र रहेगा। यह

जब लौकिक वीर को भी इतनी वीरता दिखलानी पडती है तो लोकोत्तर वीर को कितनी वीरता न दिखलानी पडती होगी? लोक–व्यवहार मे भी जो मनुष्य शरीर के प्रति ममत्व रखता है, वह कायर कहलाता है और जो शरीर का ममत्व त्याग देता है, वह वीर माना जाता है। इस प्रकार जो लोग शरीर के ममत्व का त्याग करके कर्मों के साथ युद्ध करने के लिए अग्रसर होते हैं, वे क्या वीर नही हैं? निस्सदेह वे वीर हैं। इस प्रकार जो वीर है वही नाथ बन सकता है, और जो शरीर पर ममत्व रखता है वह कायर, नाथ नही बन सकता। वह तो अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं– राजन्! तुम अपने को इस शरीर का नाथ समझते हो, शरीर को अपना मानते हो, परन्तु जरा विचार कर देखो कि इस पर तुम्हारा आधिपत्य भी है या नही? जो बात सिन्धु मे होती है, वही बिन्दु मे होती है। इस कथन के अनुसार मैं मानता हू कि जो बात मुझ पर बीती, वही दूसरो पर भी बीतती होगी। मैं भी अपने–आप को शरीर का स्वामी समझता था। मगर इस मान्यता के कारण मुझ पर जो बीती, वह सुनिए –

मेरी युवावस्था थी। युवावस्था मे विरला ही कोई होगा जो दीवाना न बन जाता हो। इस अवस्था मे रक्त मे उष्णता होती है, अतएव प्राय लोग दीवाने हो जाते हैं। अच्छे–अच्छे घरानो की सुन्दर स्त्रियो के साथ मेरा विवाह सम्बन्ध हुआ था। वह समय मेरे लिए रमणियो को और उनके शृगार को देखकर खुशी मनाने का था, किन्तु उन्हे देखने का साधन– मेरे नेत्र ही बिगड गये। आखो की असह्य वेदना के कारण मैं कुछ भी आनन्द नही लूट सकता था।

आखे खराब हो जाने पर आनन्दप्रद वस्तुए भी किस प्रकार खराब दिखाई देने लगती हैं, यह बात एक उदाहरणण से समझिए।

कल्पना करो, किसी मनुष्य ने चित्रशाला बनवानी आरभ की। चित्रशाला बनवाने मे उसने पूर्ण उदारता दिखलाई। मुक्त हस्त हो खर्च किया। किन्तु जब चित्रशाला बनकर तैयार हुई, तब भाग्य से वह अधा हो गया। इस कारण चित्रशाला उसके लिए आनन्दप्रद होने के बदले दु खदायक हो गई। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती हे कि पर–पदार्थ को सुख का साधन मानना विवशता और दु ख का ही आह्वान करना है।

यह आत्मा यही भूल कर रहा है। वास्तव मे जिसे देखता है, उसे भूल जाता है और पर के अधीन हो जाता है। जिसे देखना चाहिए, उसे देखता नहीं और भिन्न पदार्थों को देखने मे ही जुट जाता है। इस प्रकार वह आखो

के अधीन हो जाता है। वह सोचता है– आखे तो पदार्थों को देखने के लिए ही है। परन्तु उसे यह खयाल नही आता कि आखो को अपनी मानकर उनके अधीन हो जाना अनाथता को अपनाना है। अज्ञानी जन इस सम्बन्ध मे गभीर विचार न करके आखो मे ओर आखो द्वारा दृश्य पदार्थों मे लिप्त हो जाते हैं, किन्तु ज्ञानी जन लिप्त नही होते।

आखो का उपयोग कहा ओर किस प्रकार करना चाहिए, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू। मान लो, आपके किसी मित्र ने आपको एक सूक्ष्मदर्शक यत्र दिया। इस यत्र से, जो सूक्ष्म वस्तु आखो द्वारा नही देखी जा सकती थी, वह देखी जा सकती है। आपके मित्र ने इसी उद्देश्य से आपको यत्र दिया भी था। पर उस यत्र से आप सूक्ष्म वस्तु न देखकर गाय–भैंस देखने लगे। आपने नही सोचा कि गाय–भैंस तो हमेशा यो ही देखते रहते हैं। उनके देखने मे यत्र की क्या उपयोगिता है? उसकी सच्ची उपयोगिता तो उन सूक्ष्म वस्तुओ का देखने मे है जो यत्र के विना आखो से नही दिखाई देती।

सुना जाता है, आजकल तो ऐसे–ऐसे यत्रो का आविष्कार हो गया है कि जिनकी सहायता से पेटी के अन्दर वद की हुई वस्तु भी देखी जा सकती है और यह भी जाना जा सकता है कि पहाड के पीछे क्या है? यह बात कहा तक सत्य है, यह मुझे नही मालूम।

अच्छा, मूल बात पर आइए। आप गाय–भैस को देखने मे सूक्ष्मदर्शक यत्र का उपयोग करे तो यह देखकर आपका मित्र नाराज होगा या नही? और सूक्ष्मदर्शक यत्र का इस प्रकार दुरुपयोग करने वाला बुद्धिमान कहलाएगा या मूर्ख? आप कहेगे– वह मूर्ख है। यह ठीक भी है। परन्तु जरा आप अपने सम्बन्ध मे विचार करो। आपसे भी ऐसी ही भूल तो नही हो रही है?

आपको सूक्ष्मदर्शक यत्र मिल जाय, किन्तु आखे न हो तो यत्र का क्या उपयोग करेगे? आखो के अभाव मे यत्र से देख सकेगे? इस दृष्टि से सूक्ष्मदर्शक यत्र की अपेक्षा आखे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। तो आपको इतनी महत्त्वपूर्ण आखे जो मिली है, उनका आप क्या उपयोग कर रहे है? अगर यत्र का दुरुपयोग करना मूर्खता है तो आखो का दुरुपयोग करना क्या मूर्खता नही है?

आखो का क्या मूल्य है और उनका किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे विचार करो। आखो को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करके, जब तक पलक न गिराये जाए तब तक मन भी एकाग्र रहेगा। यह

तो द्रव्य–एकाग्रता है। अगर आखो की ज्योति को अन्तर्मुखी बनाओ तो आत्मोन्नति भी होगी।

मत समझना कि किसी वस्तु को देख लिया तो बात वहीं की वही समाप्त हो गई। जिस वस्तु पर द्रष्टा की नजर पडती है उसका स्थानाग सूत्र मे *'दिट्टिया क्रिया'* अर्थात् देखने मात्र से भी क्रिया लगती है, ऐसा कहा गया है। कार्मण शरीर पर देखने का सस्कार किस प्रकार पडता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए–

वट वृक्ष कितना विशाल होता है। वह भारत मे ही उत्पन्न होता है, अन्य देशो मे नही। अब कोई यहा से ले गया हो तो बात अलग है।

अगर आप वट वृक्ष से शिक्षा ग्रहण करे तो अपनी बहुत उन्नति कर सकते हैं। विष्णु को वटशायी कहा जाता है। इस कथन का वास्तविक आशय क्या है, यह बतलाने का अभी समय नहीं है। अभी आप यही विचार कीजिए कि वट का वृक्ष कितना विशाल होता है और उसका फल कितना छोटा होता है। वृक्ष को देखते उसका फल बहुत छोटा जान पडता है। परन्तु फल मे रहा हुआ बीज तो और भी सूक्ष्म होता है। उस बीज को हाथ मे लेकर कोई कहे कि इसमे विशाल वट वृक्ष है, तो आप कहेगे– कहा है, बताओ तो सही। किन्तु बुद्धिमान पुरुष यही कहेगा कि बीज मे वृक्ष तो अवश्य है, किन्तु वह यो नही देखा जा सकता। पानी और मिट्टी के सयोग से बीज मे वृक्ष देखा जा सकता है।

भगवान् का कथन है– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस और कार्मण–शरीर के पाच भेद होते हैं। तुम जो–कुछ भी देखते हो, सुनते हो या स्पर्श करते हो, उस सब का सस्कार कार्मण शरीर मे रहता है। अर्थात् आस्रव सम्बन्धी समस्त क्रियाओ के सस्कार कार्मण शरीर मे विद्यमान रहते हैं।

कहा जा सकता है कि कार्मण शरीर कैसा होता है और उसमे सस्कार किस प्रकार रहते हैं, यह हमे बतलाइए? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जैसे बीज मे वृक्ष रहता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर मे सस्कार रहते हैं, जैसे बीज मे वृक्ष दृष्टिगोचर नही होता, किन्तु अनुकूल सयोग पाकर वह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर मे विद्यमान सस्कार भी अनुकूल सयोग पाकर दिखाई देने लगते हैं। मृत्यु होने पर ओदारिक शरीर छूट जाता है, किन्तु कार्मण शरीर जीव के साथ ही जाता है, कार्मण शरीर को लिग शरीर या सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। जैसे प्रतिकूल सयोगो मे वट का बीज वृक्ष को उत्पन्न नहीं करता, अर्थात् वृक्ष के रूप मे फल–फूल नहीं सकता, उसी प्रकार

कार्मण शरीरगत सस्कार भी दूसरे सस्कारो से नष्ट हो जाते है। अतएव कई वार वे सस्कार पकट नही होते परन्तु तुम जो भी पुण्य या पाप करते हो, उस सब के सस्कार कार्मण शरीर मे अवश्य विद्यमान रहते हैं।

इस पकार आप जो–कुछ देखते है, वह आपका देखना उसी समय नष्ट नही हो जाता, किन्तु उसका सस्कार रह जाता है। अतएव आखो का किस पकार सदुपयोग करना चाहिए इस सम्बन्ध मे गहरा चिन्तन करने की आवश्यकता है।

मुनि ने कहा– राजन्! मै उस समय कैसा अनाथ था! उस समय अनाथता के दु ख से दु खित होकर मर जाता तो मेरे और तुम्हारे बीच मे यह वार्तालाप भी न हो सकता। परन्तु मैने विचार किया कि किसी भी उपाय से इस अनाथता को दूर करना चाहिए। यह सोचकर मैने अनाथता से पिण्ड छुडाया तभी तुम्हारे साथ वार्तालाप करने का पसग मिल सका है।

मान लीजिए, एक आखो वाला मेला–ठेला आदि देखता फिरता है। दूसरा आदमी अधा है। वह कहता है– क्या करू? देखने की लालसा तो बहुत है, किन्तु दुर्भाग्य से आखे ही नही हैं। इस प्रकार वह देख न सकने के कारण दु खी हो रहा है। तीसरे आदमी की आखो मे वेदना हो रही है, किन्तु वह कहता है– यह वेदना मेरी सहायक है। यह रोग मेरा परम मित्र है। मै बाहर क्यो देखू, भीतर ही क्यो न देखू?

इन तीन मे से आप किसे अच्छा कहेगे? आप तीसरे को अच्छा कहेगे। ज्ञानी भी ऐसे ही होते है। वे सिर पर दु ख आ पडने पर भी घबराते नही। दु ख को अपना मित्र मानते है। जैसे चाबुक लगने पर उत्तम जाति का घोडा दौडने लगता है, उसी प्रकार दु ख आ पडने पर वे धर्म मे अधिक लग जाते है। जबकि अज्ञानी लोग थोडा दु ख आते ही रोने लगते है।

इस प्रकार ज्ञानी जन जिसे दिन मानते है, अज्ञानी उसे रात्रि मानते है और अज्ञानी जिसे दिन मानते है ज्ञानी उसे रात्रि मानते है। ससार मे यह क्रम चलता ही रहता है। अतएव दु ख पडने पर आपको रोना नही चाहिए, किन्तु धर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए। ज्ञानी जैसा ऊचा विचार करते है, वैसा ही उच्च विचार तुम्हे भी करना चाहिये। तुम ऐसा विचार रखोगे तो शरीर मे रहते हुए भी अनन्त वली बन जाओगे। अत ससार की वस्तुओ के नाथ बनने का प्रयत्न न करते हुए अपनी आत्मा के नाथ बनो। तुम्हे सहज ही सब साधन प्राप्त है। इन साधनो द्वारा आत्मा का कल्याण कर लो। तुम दूसरो की दवा लेते हो, परन्तु हमारी भी दवा ले देखो। तुम श्रावक हो और शास्त्र मे श्रावक

को साधु का माता–पिता कहा है। तुम किसी भी स्थिति मे पहुच गये होओ, पर जैसे वृद्ध और रुग्ण पिता को पिता ही माना जाता है, उसी प्रकार हमे भी श्रावको को माता–पिता मानना चाहिए। हम इससे इनकार नही कर सकते। परन्तु तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि हमारी बात पर पूरा–पूरा ध्यान दो। अगर तुम अपनी आत्मा को खराव कामो से दूर रखोगे तो तुम्हारा श्रावक पद शोभायमान होगा और आत्मा का कल्याण भी होगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं– 'मे शरीर ही हू' ऐसा मानना भूल है। इस शरीर मे विद्यमान आत्मा अपने–आप को भूल रहा है और 'शरीर ही मैं हू' इस प्रकार मानकर भ्रम मे पड रहा है। ज्ञानीजन कहते हैं– देहाध्यास से छूटना जितना कठिन है, उतना मगलकर भी है। जैसे जमीन को बहुत गहरा खोदने पर ही हीरा हाथ लगता है और एक ही हीरा हाथ लगने से सारी दरिद्रता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शरीर का अध्यास छूटना कठिन तो है, किन्तु यह अध्यास छूटने पर किसी भी प्रकार कष्ट या अज्ञान शेष नही रह जाता। अतएव शरीर को छोडने का अभ्यास करना चाहिए।

शरीराध्यास का त्याग करने के लिए मैं गणधरो की वाणी ही तुम्हारे समक्ष उपस्थित कर सकता हू। कहा है– सन्ताचे उच्छिष्ट साग तो मी बोल कायमी पामर जाणवे।

मेरे पास क्या रखा है? मैं तो गणधरो की ही वाणी तुम्हे सुनाता हू। हा, उसे सरल करके अवश्य समझाता हू, जिससे तुम्हारी समझ मे आ जाय।

गणधरो ने लोक के हित के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया है, इस बात पर जरा विचार करो। अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से जो कुछ–कहा, उसे शास्त्र मे गूथ कर गणधर हमारे लिए कितनी बडी विरासत छोड कर गये हैं। जैसे पिता धन सचित करके पुत्र को विरासत मे दे जाता हे, उसी प्रकार गणधर श्रम करके यह विरासत के रूप मे ये आगम दे गये हैं। उन्हे ध्यान मे रखो और यदि वृद्धि नही कर सकते तो कम से कम उन्हे सुरक्षित तो रखो।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्। मेरी ऐसी अनाथता थी। मैं सब तरह अनाथ था। तुम जिस शरीर को देखकर चकित हो रहे हो, उसका सार रूप ये नेत्र हैं। इन नेत्रो मे ऐसी दारुण वेदना होती थी कि न पूछो बात।

प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है– सारभूत पुदगल आखो को मिलते हे। आखे ससार का रूप देखती हें। इन आखो ने न जाने ससार का कितना रूप देखा होगा। में इन अनमोल आखो का दुरुपयोग कर रहा था, मानो अमृत से पेर धो रहा था।

सारभूत आखो का खेल–तमाशा वगैरह देखने मे दुरुपयोग करना अमृत से पाव धोने के समान ही है। परन्तु राजन्! यह बात पहले मेरी समझ मे नही आई थी। इसलिए मै आखो का दुरुपयोग करता था। जब आखो मे घोर वेदना उत्पन्न हुई, तभी मुझे भान हुआ कि मैं आखो का दुरुपयोग कर रहा हू। अब मैं उस वेदना को महाशक्तिस्वरूप मानता हू। उस वेदना से मुझे दु ख तो अवश्य हुआ, किन्तु उस दु ख ने आत्मज्ञान उत्पन्न कर दिया। राजन्, तुम जानते हो कि युवावस्था मे सुख–सम्पत्ति का त्याग करना कितना कठिन है, किन्तु उस वेदना रूप महाशक्ति की कृपा से मै उनका त्याग करने मे समर्थ हो सका। अतएव वेदना को भले कोई दु खरूप माने, परन्तु मेरे लिए तो वह वेदना कल्याणकारिणी ही सिद्ध हुई।

राजन्! वेदना को दु खरूप मानना या सुखस्वरूप, इस सम्बन्ध मे लोग गडबड मे पड जाते हैं, यह स्वाभाविक सुखरूप प्रतीत हुए बिना नही रहेगी।

मान लो, किसी मनुष्य के हाथ मे जहरीला फोडा हुआ है। अगर उस फोडे मे से जहर न निकाल दिया जाय तो मृत्यु होना सभव है? इस स्थिति मे डाक्टर अगर उस फोडे को चीर कर जहर निकाले तो बीमार को वेदना तो होगी ही, परन्तु उसका परिणाम तो सुखद ही होगा। इस दृष्टि से डाक्टर को मित्र माना जाय या शत्रु? मौत के मुह से उबारने वाले डाक्टर को मित्र ही मानना चाहिए। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नही करता। किन्तु आश्चर्य है कि आगे चल कर लोग इसी बात को भूल जाते है।

मुनि ने कहा– हे राजन्, आखो मे भयानक पीडा होने के साथ ही मेरे सारे शरीर मे उग्र दाह भी होने लगा, किन्तु उस समय मुझे यह भान हुआ कि अपने को जिस शरीर का स्वामी समझ रहा हू और जिस शरीर को सुन्दर मानकर अभिमान कर रहा हू, वास्तव मे उस शरीर का नाथ मैं नही हू। शरीर को व्याधिग्रस्त देखकर मैने विचार किया– क्या मै इस शरीर का नाथ हू? मैं अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहता हू, फिर भी यह मुझे पीडा दे रहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं शरीर का नाथ नही हू। शरीर न्यारा है और मैं न्यारा हू। यह सही है कि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भाति एकमेक हो रहे हैं, किन्तु वास्तव मे दूध और पानी भिन्न–भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी भिन्न–भिन्न है।

राजन्, आत्मा और शरीर का विवेक होने पर मुझे लगने लगा कि मेरी आखो मे भाला भोकने के समान जो वेदना दे रहा है और आग के समान

शरीर मे दाह उत्पन्न कर रहा है, वह दूसरा कोई नहीं, स्वय मैं ही हू। तुम सोचते होगे– कौन ऐसा होगा जो अपने–आप अपनी आखो मे और अपने शरीर मे वेदना उत्पन्न करे? परन्तु अगर तुम ऐसा सोचते हो तो मेरे कथन का तात्पर्य नही समझे। मेरे कथन पर गम्भीर विचार करोगे तो तुम्हे स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि यह आत्मा भ्रम के कारण पर–वस्तु को अपनी मान बैठता है और परिणामस्वरूप अपने हित के बदले अहित कर लेता है। वस्तुत आत्मा की अनाथता दूर किये बिना इस शारीरिक पीडा को दूर नही किया जा सकता है। इस तरह विचार करके मैंने आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। तब मुझे विदित हुआ कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा। गीता मे ही कहा है–

उद्धरेदात्मनात्मनं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।।

अर्थात् आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिये, आत्मा को अवसादमय नही बनाना चाहिये। आत्मा स्वय ही अपना बन्धु है और स्वय ही अपना शत्रु है।

हे राजन्! मैंने आत्मा के द्वारा ही आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। परन्तु इस शरीर को माता–पिता, भाई–बहिन, स्त्री–पुत्र आदि अपना–अपना मानते हैं। इस शरीर को कोई भाई तो कोई पुत्र और कोई पति कहते थे। मैंने विचार किया– जो लोग इस शरीर को अपना मानते हैं, वे भी अपनी शक्ति को आजमा ले और वे कुछ भी कहने मे समर्थ न हो, तभी मुझे कुछ करना उचित होगा। इस विचार से मै चुपचाप बना रहा। मेरी वेदना का निवारण करने के लिए वैद्यकशास्त्र मे पारगत विद्याचार्यों ने अनेक उपचार किये, मगर मेरा रोग शान्त नही हुआ। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि की आत्म–कथा सुनकर राजा कहने लगा– आज आप पूर्ण रूप से स्वस्थ दिखाई देते है, इससे तो यही जान पडता है कि आपका रोग असाध्य नही था। फिर किस त्रुटि के कारण रोग शात नही हुआ?

अनाथ मुनि ने उत्तर दिया– राजन्, वे वैद्य स्वय ही अनाथ थे और जो स्वय अनाथ हो, वह दूसरो को कैसे सनाथ बना सकता है? में भी अनाथ था और वे भी अनाथ थे। दोनो की अनाथावस्था मे रोग कैसे मिट सकता है?

राजन्, वेद्यो के उपचार से मेरा रोग शान्त न हुआ, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उनका उपचार सफल हो जाता और मे निरोग हो जाता तो

मै उन्ही को नाथ मान बैठता। यद्यपि वे स्वय ही अनाथ थे, फिर भी मै उन्हे भूल से सनाथ समझ लेता। अतएव उनके उपचार से मेरे रोग का शान्त न होना मेरे हक मे अच्छा ही रहा।

ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से मिटना ही रोग का वास्तव मे मिटना है। रोग का इस प्रकार मिटना कि फिर कभी उत्पन्न न हो, ऐकान्तिक मिटना है और रोग–मात्र का सदाकाल के लिए मिट जाना आत्यन्तिक मिटना कहलाता है। क्या कोई डाक्टर इस धरती पर ऐसा है जो सदैव के लिए रोग मिटा सके? अगर नही तो डाक्टर को सनाथ कैसे कहा जा सकता है?

कहा जा सकता है कि अगर डाक्टर रोगो को मिटाते नही तो लोग उनके पास क्यो जाते है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्तमान मे डाक्टर रोग को दबा देते है, अथवा साता वेदनीय कर्म के उदय से रोग स्वत दब जाता है। बस इसी कारण लोग समझने लगते है कि डाक्टर ने रोग मिटा दिया। इसी से लोग डाक्टर के गुलाम बन जाते है और उसे अपना नाथ मानने लगते है।

जो निर्बल होता है, वही बीमार पडता है। सबल मनुष्य बीमार नही होता। चाय, बिस्कुट आदि रोगोत्पादक वस्तुओ का सेवन करने से और खान–पान का ध्यान न रखने से रोग उत्पन्न होता है। खान–पान का ध्यान रखा जाये तो प्राय रोग उत्पन्न ही न हो। पहले आहार–विहार का ध्यान न रखना और जब बीमारी उत्पन्न हो जाय तो डाक्टर की शरण मे जाना ही तो अनाथता है। डाक्टर ने दवा देकर रोग को दबा दिया। इसी से तुम अभिमान करने लगे कि मैं डाक्टर की कृपा से स्वस्थ हो गया। परन्तु यह तो एक प्रकार की भ्रमणा है।

जो स्वतत्र होता है और पूर्ण बलवान् होता है, उसे रोग ही उत्पन्न नही होता। तीर्थंकर भगवान् को रोग नही होता, परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म के कारण कदाचित् रोग हो जाय तो अपना रोग आप ही मिटा लेते है, किसी वैद्य–डाक्टर की परतत्रता स्वीकार नही करते।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्! उन वैद्यो के उपचार से मेरा रोग दूर न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। मै उनके शरण मे पडा रहा होता तो मेरी अनाथता दूर ही न हुई होती। कहा जाता है कि वैद्य कुशल हो, दवा अच्छी हो, रोगी दवा लेने के लिए उत्कठित और ठीक तरह से परिचर्या होती हो– ये चार उपाय बराबर हो तो रोग दूर हो जाता है। मेरे रोग को दूर करने के लिए चारो उपाय काम मे लाये जाते थे, फिर भी मेरा रोग शात नही हुआ।

तभी मुझे प्रतीत हुआ कि ये सब अनाथ हैं और मैं भी अनाथ हू। वैद्य सनाथ होते तो मेरा रोग मिटा देते। परन्तु वे रोग को मिटा नही सके, अतएव वे अनाथ हैं और मै भी अनाथ हू।

लोग समझते है कि दवा से रोग मिट जाता है, परन्तु वास्तव मे यह सत्य नही है। दवा रोगो को सिर्फ दबा देती है। वैज्ञानिको का कथन है कि जितने डाक्टर बढे हैं उतने ही रोग भी बढे हैं और जितने वकील बढे हैं उतने ही झगडे बढे हैं। प्राचीन काल मे इतने डाक्टर नही थे तो इतने रोग भी नही थे। पचास वर्ष पहले भी यही बात थी। ऐसी स्थिति मे कैसे कहा जा सकता है कि डाक्टर रोग मिटाने वाले है।

लोग सच्ची दवा तो भूल गये हैं और व्यावहारिक भय के कारण खोटी दवा का उपयोग करना सीखे हैं, खान–पान पर अकुश रखना ही व्यावहारिक अच्छी दवा है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए यह जानना उपयोगी है कि किस समय क्या खाना–पीना चाहिये?

एक पुस्तक मे कब खाना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर मैंने पढा था– गरीबो को जब मिले तब खाना चाहिये और अमीरो को जब भूख लगे तब खाना चाहिये। बिना भूख लगे खाना रोग को आमत्रण देना है। फिर भी लोग तरह–तरह के आचार, मुरब्बे आदि किसलिए बनाते और खाते है? इसलिए तो कि भूख न लगी हो तो भी आचार आदि की सहायता से कुछ अधिक खाया जा सके। कडकडाती भूख मे तो रूखी–सूखी रोटी भी अच्छी लगती है। शायद तुम लोगो को इस बात का अनुभव न हो, परन्तु हम साधुओ को इसका अनुभव है।

एक जगह हम 22 मील का विहार करके पहुचे। कडकडाती भूख लगी थी। परन्तु वहा हमे डेढ रोटी और खट्टी छाछ ही मिली। मगर उस समय उसी रूखी रोटी और खट्टी छाछ मे इतनी मिठास मालूम हुई कि कुछ न पूछिये।

इस प्रकार जब कडकडाती भूख लगी होती है, तब रूखी–सूखी रोटी भी मीठी लगती है और भूख नही लगी होती है तो जबर्दस्ती खाने के लिए आचार, चटनी ओर मुरब्बा आदि की सहायता लेनी पडती हे। प्राय लोग सच्ची भूख न लगने पर भी खाते हें ओर फिर अजीर्ण होने की फरियाद करते हैं। कदाचित प्रकट रूप मे अजीर्णता से रोग की उत्पत्ति होती हे ओर फिर डाक्टर की शरण लेनी पडती हे।

भगवान् महावीर निरोग रहने के लिए महीने मे कम से कम छ उपवास करने की दवा बतलाते है। जो महीने मे छ उपवास करता रहेगा, उसे अजीर्ण नही होगा और बीमारी भी नही होगी। स्थानागसूत्र मे रोग उत्पन्न होने के नौ कारण बतलाये है, किन्तु लोग केवल वेदनीय कर्म का ही दोष निकालते है। वेदनीय कर्म का दोष निकालना और रोग के दूसरे कारणो पर विचार न करना उचित नही है। रोग की उत्पत्ति किन–किन कारणो से होती है, यह विषय बहुत लम्बा है। अतएव इस समय इस सम्बन्ध मे कुछ न कहकर सिर्फ यही कहना बस होगा कि डाक्टर की शरण मे जाना अपनी निज की दुर्बलता है।

अनाथ मुनि कहते है– राजन्, सब प्रकार के उपचार करने पर ही मेरा रोग शान्त नही हुआ, यह मेरी अनाथता थी। जब किसी भी उपाय से रोग न मिटा तो मैं इस निश्चय पर पहुचा कि मै वास्तव मे अनाथ हू। राजन्! मुझ पर जो बीती, उसे सुन कर तुम भी अपनी अनाथता को समझो और उसे दूर करने का प्रयत्न करो।

मुनि के समझाने पर सम्राट श्रेणिक ने अपने को अनाथ मान लिया था, परन्तु तुम अपने को अनाथ मानते हो या नही? जब तक अपनी अनाथता का भान नही हो जाता और उसे दूर करने का प्रयत्न नही किया जाता, तब तक आत्मकल्याण भी नही किया जा सकता, अतएव अपने को अनाथ मानो। तुम मेरे मित्र हो। यह बुद्धिवाद का युग है। इस युग मे प्रत्येक बात बुद्धि की कसौटी पर कसी जाती है और तर्क द्वारा निर्णीत की जाती है। मेरे प्यारे मित्रो! तुम भी अनाथ मुनि के कथन की तर्क और बुद्धि द्वारा जाच–पडताल करो और उनके अभिप्राय को समझ कर अपनी अनाथता दूर करो और सनाथ बनो।

मुनि कहते है– महाराज, मै शरीर का नाथ नही था। नाथ होता तो शरीर के द्वारा ही क्यो कष्ट पाता? यही नही, यह शरीर मेरा नही था। मेरा होता तो मेरी इच्छा के अनुसार चलता और मुझे पीडा क्यो पहुचाता? इस प्रकार विचार करने पर मै इस निश्चय पर आया कि इस शरीर के कारण ही मैं भूतकाल मे दु खो का पात्र बना हू, वर्तमान मे बन रहा हू और भविष्य मे बनूगा। ऐसा होने पर भी–

वहमी मय माने यथा रे, सूने घर बैताल।
त्यो मूरख आतम विषै रे, मान्या जग भ्रम जाल।।

इस कथन के अनुसार भ्रम के कारण मैंने अनेक दु ख बटोर लिए हैं।

वहम के कारण कैसे–कैसे भूत पैदा कर लिये जाते हैं, यह तो तुम्हे विदित ही है। शरीर को अपना मानना भी एक प्रकार का वहम ही है। दूसरे को सुख–दु ख का दाता समझना भी भ्रम ही है। परन्तु

सुखस्य दु खस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।।

सुख और दु ख देने वाला दूसरा कोई नही है। इस आत्मा द्वारा ही सुख–दु ख की उत्पत्ति होती है।

शरीर एक साधन या हथियार है। शरीर को कोई दु ख दे तो भी यह आत्मा दु खी नही हो सकती। इसके अतिरिक्त अगर शरीर से ही आत्मा को दु ख होता है तो ऐसा प्रयत्न क्यो नही करते कि आत्मा को शरीर मे आना ही न पडे। जब तक आत्मा शरीर के साथ है, तभी तक उसे दु ख होता है। शरीर का सम्बन्ध छूट जाने पर किसी प्रकार के दु ख की उत्पत्ति नही हो सकती। एक उदाहरण लीजिए–

अग्नि पर किसी पात्र मे पानी गर्म करने के लिए रखा जाता है, तो सन्–सन् की आवाज होती है। यह आवाज आपने सुनी होगी। सन्–सन् की आवाज करके पानी क्या कहता है? इस सम्बन्ध मे एक कल्पना की जाती है। पानी कहता है– आग की क्या ताकत है कि मुझे सताप पहुचा सके? मुझमे तो ऐसी शक्ति है कि अग्नि को बुझा दू, पर क्या करू? यह पात्र बीच मे आडे आ गया है। इसी कारण मुझे कष्ट भोगना पड रहा है। इस पात्र के बन्धन मे पड गया हू और इसी से सताप पा रहा हू।

ज्ञानीजन भी यही विचार करते हैं। जैसे पानी पात्र के सम्पर्क से सताप भोगता है, उसी प्रकार स्वभाव से दु खहीन होने पर मेरी आत्मा शरीर के सम्पर्क के कारण दु ख का अनुभव कर रही है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से ही आत्मा को कष्ट सहन करने पडते हैं। फिर भी कर्म को दोष देने की आवश्यकता नही है। आत्मा को स्वय सावधान होना चाहिये।

कल्पना करो, एक आदमी अधे की तरह, आखे बन्द करके जा रहा था। रास्ते मे एक खम्भे के साथ उसका सिर टकराया– सिर फूट गया। वह क्रूद्ध होकर खम्भे को मारने लगा। अगर आप उसे मारते देखे तो क्या कहेगे? यही न कि इसमे खभे का क्या अपराध है? वह तो जड है। तुम्हे स्वय सावधानी रखनी चाहिए थी।

इसी प्रकार कर्म भी जड है। अतएव कर्मों को दोष देने से क्या लाभ? कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को भिन्न मानकर आत्मा का विवेक करो तो दु:ख ही नही रह जायेगा।

मुनि कहते हैं– राजन्! मेरे शरीर मे असह्य वेदना होने लगी और मै तडपने लगा। मेरे पिताजी से मेरा दु:ख देखा न गया। वे कहने लगे– मेरा बेटा तो बहुत सहन नही कर सकता। इसी से यह तडप रहा है। बेटा, धीरज धर, अभी वेदना मिट जायेगी। पिताजी बार–बार यही कहते थे।

पिया मे सव्वसारं पि, दिज्जा हि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया।।24।।

अर्थ– मेरे पिता मेरे लिए– मुझे दु:ख से बचाने के लिए सर्वस्व देने को तैयार थे, फिर भी वे मुझे दु:ख से नही बचा सके। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान– आजकल पैसा बडा समझा जाता है। प्राय: सभी आज पैसे के साथ मित्रता जोडते है। कहावत चल पडी है–

मात कहे मेरा पूत सपूता, बहिन कहे मेरा भैया।
घर की जोरू यो कहे, सबसे बडा रुपैया।।

यहा तक सुना जाता है कि पैसे के लिए पिता ने पुत्र का या पुत्र ने पिता का खून कर डाला। कई लोग तो पुत्र का अर्थ ही यह करते है कि जो कमाई करके देवे वही पुत्र है। ऐसी दशा मे पुत्र बडा हुआ या पैसा?

अनाथ मुनि कहते हैं– मेरे पिता ऐसे नही थे। वे पुत्र के सामने पैसे को महत्त्व नही देते थे। वैद्य मेरे शरीर की जाच करने आए तो पिता ने कहा– मेरे पुत्र को स्वस्थ और तन्दुरुस्त कर दो तो मैं अपना सर्वस्व दे देने को भी तैयार हू। घर की सब सारभूत वस्तुए तुम्हे देने और खाली हाथ घर से बाहर निकल जाने को तैयार हू, मगर किसी भी उपाय से मेरे बेटे को ठीक कर दो।

वास्तव मे 'पाति–रक्षतीति पिता' अर्थात् जो रक्षण करे, पालन–पोषण करे वही पिता हैं। इसी प्रकार पुत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है– 'पुनानीति पुत्र:' अर्थात् जो पवित्र करे सो पुत्र। इस व्याख्या का अर्थ यह नही कि मरने के बाद पुत्र स्वर्ग मे पहुचा देगा। ऐसा अर्थ तो किसी स्वार्थी ने किया होगा।

मुनि का कथन है कि– मेरे पिता, पिता–पुत्र के सम्बन्ध को भली–भाति जानते थे। इसी कारण वे वैद्यो को बार–बार कहते थे कि मागो सो देने को तैयार हू, पर मेरे लाडले को स्वस्थ कर दो।

मुनि कहते हैं– राजन्! ऐसी निष्ठुर माताए भी होती हैं, किन्तु ऐसी माताए भी भूतकाल मे हुई है, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगी जो अपने प्राणो को अर्पण करके भी अपने प्यारे पुत्र की रक्षा करती हैं। मेरी माता भी इसी श्रेणी की थी। उसका मेरे प्रति अगाध स्नेह था। वह मेरे दु ख से अतिशय दु खी रहती थी, फिर भी मेरे दु ख को न मिटा सकी। मैं भी उसके दु ख को मिटाने मे समर्थ न हो सका। यह मेरी अनाथता थी।

अनाथ मुनि के कथन का कोई यह उलटा अर्थ न लगा ले कि माता दु ख से मुक्त नही कर सकती, अतएव उसे मानना ही नहीं चाहिए। आजकल ऐसा कहा भी जाता है कि सन्तान पर माता–पिता का उपकार ही क्या है? थली (मारवाड) का एक सम्प्रदाय तो यहा तक कहता है– 'माता–पिता के लिए सन्तान कुपात्र है और सन्तान के लिए माता–पिता कुपात्र हैं। उनके कथनानुसार माता–पिता की सेवा या दया करना एकान्त पाप है। माता–पिता या पुत्र कोई किसी की सहायता नही कर सकता, कोई किसी का दु ख–निवारण नही कर सकता'।

अपने कथन की पुष्टि के लिए वे लोग अनाथ मुनि का उदाहरण देते हैं। कहते हैं।– अनाथ मुनि को उनके माता–पिता भी दु खमुक्त न कर सके, अतएव उनकी सेवा करना एकान्त पापबन्ध का कारण है।

उनका यह कथन कितना भ्रामक, कितना अनुचित और कितना शास्त्र–विरुद्ध है, यह समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए–

एक माता ने अपने पुत्र से कहा– बेटा, तू अब पढ–लिखकर होशियार हो गया है। मै यह आशा लगाए बैठी थी कि तू मेरी सेवा करेगा, परन्तु तू तो उलटा दु ख दे रहा है। तुझे मालूम है कि मैंने तेरे लिए कितने दु ख सहन किए हैं और किस तरह पाल–पोस कर बडा किया है। तू तो इन उपकारो को भूल ही गया जान पडता है।

माता का कथन सुनकर पुत्र बोला– बस, बहुत हो चुका। ज्यादा बकवास न करो। तुमने मेरा क्या उपकार कर दिया है। मेरा जन्म नही हुआ था तो तुम कितनी उदास रहती थी। मेरे लिए तरसती थी। मैं पेट मे आया तो तुम्हे प्रसन्नता हुई। मेरे जन्म से तुम्हारा बन्ध्यापन दूर हो गया। इस प्रकार तुमने मेरा नही, मैने तुम्हारा उपकार किया है।

पुत्र की बात सुनकर माता कहने लगी– अरे बेटा, यह क्या कहता है। ऐसा कहना तुझे शोभा देता है? जरा विचार तो कर कि मैने दूध पिला कर तुझे बडा किया हे।

पुत्र– दूध पिलाने से क्या उपकार हो गया है। मेरा जन्म होने पर ही तो तेरे स्तनो मे दूध आया। मै न पीता तो तेरे स्तनो मे पीडा होती। यह तो मेरा उपकार मान कि मैने दूध पीकर तुम्हे पीडा से बचा लिया। फिर भी अगर दूध के लिए झगडती है तो दूध के पैसे ले लो।

माता– दूध के तो पैसे देने को तैयार है, मगर नौ महीना पेट मे रखा सो? यह उपकार भी तू भूल जायेगा?

पुत्र– तुमने मुझे पेट मे रखा, यह सोचना ही तुम्हारी भूल है, मैंने स्वय पेट मे जगह बना ली थी। इसमे तुम्हारा कोई उपकार नही, फिर भी एहसान जतलाती हो तो उसका भाडा ले लो और क्या करोगी?

मा सीधी–सादी थी। उसने सोचा– छोकरा बिगड गया है। यो माथा–पच्ची करने से कोई लाभ नही होगा। इसे गुरुजी के पास ले जाने से ही काम चलेगा।

यह सोचकर उसने लडके से कहा– चल, हम गुरु महाराज के पास चले और उन्ही से निर्णय करावे। वे कह देगे कि पुत्र का माता–पिता पर उपकार है तो तेरा जुल्म सहन कर ही रही हू और आगे भी सह लूगी। परन्तु यदि वे कहेगे कि पुत्र पर माता–पिता का उपकार है तो तुझे उनका कथन स्वीकार करना पडेगा।

पुत्र ने यह बात मान ली और गुरु के पास जाना स्वीकार कर लिया। उसे विश्वास था कि माता–पिता आदि कोई किसी को दु ख से मुक्त नही कर सकते। गुरुजी भी यही कहेगे। यही सोचकर वह गुरुजी के पास जाने को तैयार हो गया।

कदाचित् कोई खोटे गुरु मिल गए होते तो माता की कम्बख्ती हो जाती और लडका माता के सिर पर चढ बैठता, किन्तु वे गुरु भगवान् के, शास्त्रो के ज्ञाता थे।

माता ने गुरु को सब बाते समझा कर कहा– महाराज, माता–पिता का सन्तान पर अनन्त उपकार है, यह कौन नही जानता? फिर भी यह कहता है कि पुत्र का माता–पिता पर उपकार है। इस विषय मे शास्त्र क्या व्यवस्था देता है? कृपा कर बतलाइए।

पुत्र की युक्तिया सुनकर गुरुजी समझ गए कि लडका भ्रम मे पड गया है। अतएव उसका भ्रम निवारण करते हुए गुरुजी ने कहा – श्री भगवती सूत्र मे कहा है कि शरीर के तीन अग पिता और तीन माता के होते हैं और शेष अग माता–पिता दोनो के होते हैं मास रुधिर मस्तक माता के तथा हाड

मज्जा तथा रोम– ये तीन अग पिता के होते हैं। शेष अग माता–पिता दोनो के होते है।

शास्त्र का प्रमाण बतला कर गुरु बोले– इस प्रकार शास्त्र के विधान के अनुसार माता–पिता के अगो से पुत्र का शरीर बना हैं, अत माता–पिता का पुत्र पर उपकार है। क्या तुम बतला सकते हो कि पुत्र के किस अग से माता–पिता का कोई अग बना है? अगर नही तो माता–पिता पर पुत्र का क्या उपकार सिद्ध होता है?

गुरु का कथन सुनकर माता को हिम्मत बधी। उसने पुत्र से कहा– बोल, अब तुझे क्या कहना है? तू मेरे पेट मे रहने का भाडा और दूध की कीमत देने को तैयार था, मगर मेरे जो अग तेरे शरीर मे है, उनका क्या भाडा देता है? मुझे भाडा नही चाहिये, मेरे अग मुझे और पिता के अग पिता को सौंप दे।

पुत्र चुप्पी साधे खडा रहा। वह देता भी तो क्या उत्तर देता? गुरुजी के मुहतोड उत्तर से उसकी जीभ सिल गई थी।

माता ने गुरुजी से कहा– महाराज, शास्त्र मे इस सम्बन्ध मे और भी कुछ बतलाया है?

गुरुजी– श्री स्थानाग सूत्र मे भगवान् महावीर ने अपने श्रमण निर्ग्रन्थो को सम्बोधन करके कहा है– 'हे आयुष्मान् श्रमण निर्ग्रन्थो! तीन प्रकार के उपकार का ऋण उतारना अत्यन्त कठिन है– एक तो माता–पिता का दूसरे सहायकर्ता का और तीसरे धर्माचार्य का ऋण।' इस प्रकार भगवान् ने पुत्र पर माता–पिता का ऋण तो बतलाया है, परन्तु शास्त्र मे यह कही देखने मे नही आया कि माता–पिता पर पुत्र का ऋण होता है।'

गुरुजी ने आगे कहा– 'माता–पिता के उपकार के ऋण से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। श्री स्थानाग सूत्र मे भगवान से पूछा गया है– भगवान् कोई पुत्र अपने माता–पिता को नहलावे, खिलावे, वस्त्र पहनावे और कधे पर बिठा कर घुमावे, तो वह उनके उपकार के भार से मुक्त हो सकता है? भगवान् ने उत्तर दिया– नही, इतनी सेवा करने पर भी पुत्र माता–पिता के उपकार से उऋण नही हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पुत्र जिस शरीर द्वारा माता–पिता की सेवा करता है? वह शरीर उसे किसने दिया है? माता–पिता द्वारा प्रदत्त शरीर से ही अगर उसने माता–पिता की सेवा की तो क्या विशेष हुई? अलबत्ता, शरीर से सेवा करने वाला पुत्र सुपुत्र कहा जा सकता हे, उसमे कृतज्ञता का

गुण है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह माता–पिता के उपकार से मुक्त हो गया। माता–पिता के ऋण से मुक्त होने के लिए अनाथ मुनि का चरित्र देखना चाहिए।

माता–पिता बालक की बहुत सार–सभाल रखते है, फिर भी कितनेक बालक मर जाते है। माता–पिता नही चाहते कि हमारा बालक मर जाय, फिर भी मर जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि निमित्त कितना ही अच्छा क्यो न हो, जब तक उपादान अच्छा नही होता तब तक कुछ भी नही हो सकता।

निश्चय की बात न्यारी है। जब तक हम व्यवहार मे है तब तक व्यवहार की बात भूलना नही चाहिये। स्त्री और पुत्र का मोह छूटा नही है, सिर्फ माता–पिता के विषय मे कहना कि माता–पिता दु खमुक्त नही कर सकते, अतएव उनकी सेवा करना वृथा है, यह अत्यन्त अनुचित है। पर आजकल तो यह हालत हो रही है–

बेटा झगडता बाप सौ, कर तिरिया से नेहू।
बदाबदी से कहत है, मोहि जुदा कर देहू।।
मोहि जुदा कर देहू चीज सब घर की मेरी।
केती करु खराब अकल बिगरेगी तेरी।।
कह गिरधर कविराय सुनो हो सज्जन मित्ता।
समय पलटती जाय बाप सौ झगडत बेटा।।

इस प्रकार पुत्र माता–पिता के साथ झगडा कर रहे है, परन्तु यह अनुचित्त है।

अब यह प्रश्न है कि इतनी सेवा करने पर भी अगर पुत्र ऋणमुक्त नही हो सकता तो किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकता है। जिस धर्म के कारण तुम्हारे माता–पिता का तुम्हारे साथ पिता–पुत्र का सम्बन्ध हुआ और जिस धर्म के कारण उन्होने तुम्हारा पालन–पोषण किया है, उस धर्म को दृढ करना, उसका बराबर पालन करना, उस धर्म के द्वारा आत्मा का सुधार करना और इस प्रकार उपादान का सुधार करना। इस प्रकार उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकते हो।

साराश यह है कि निश्चयदृष्टि से तो माता–पिता पुत्र के और पुत्र माता–पिता के नाथ बनने मे समर्थ नही है, किन्तु यह तभी कहा जा सकता है और वही कह सकता है जो मुनि की तरह ससार का त्याग कर दे। पुत्री,

पुत्र का त्याग नही करना और सिर्फ माता–पिता का त्याग कर देना घोर अन्याय है।

यह तो पुत्र के कर्तव्य की बात हुई। माता–पिता का क्या कर्तव्य है, यह भी समझना चाहिये। माता–पिता को सोचना चाहिये कि पुत्र कैसा ही कपूत क्यो न हो, हमे तो अपने कर्तव्य का पालन करना ही चाहिए। क्योकि हमारा धर्म ही हमारे ही साथ रहेगा। ऐसा सोचकर माता–पिता अपने धर्म पर स्थिर रहेगे तो पुत्र भी आखिर सन्मार्ग पर आ जायेगा। जैसी बेल होती है वैसे ही फल लगते हैं। दरअसल पुत्र को बिगाडने वाले या सुधारने वाले मा–बाप ही हैं। सन्तति को सुधारने के लिए माता–पिता को पहले सुधरना चाहिए। माता–पिता सुधरेगे तो उनकी सन्तति भी सुधरेगी।

मायरो मे महाराय! सगा जिठ्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया।।

अर्थ–राजन्! मेरे छोटे और बडे सगे भाई भी थे, कितु वे भी मुझे दु:ख से बचाने मे समर्थ नही हो सके। मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान– मुनि ने माता–पिता की तरफ से अपनी अनाथता का वर्णन किया। अब वह भाइयो की विद्यमानता मे भी अपनी अनाथता प्रकट कर रहे है। मुनि कहते है– महाराज! ससार मे सच्चे भाइयो का मिलना अत्यन्त कठिन है। जो धन–वैभव को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उनकी दृष्टि मे तो भाई बैरी के समान दिखाई देते है। वे सोचते है– भाई जब माता के पेट मे आया तो मुझे माता के दूध से वचित किया, जन्मा तो माता–पिता के स्नेह मे हिस्सेदार बन गया।

इस विचारधारा के लोग भाई को भी बैरी समझते हैं, परन्तु राजन्! मेरे भाई ऐसे नही थे कि मुझे शत्रु समझे। वे अपने प्राण देकर भी मेरी रक्षा करने को तैयार थे। हम लोग राम और लक्ष्मण तथा भगवान् महावीर एव नन्दिवर्धन के समान सच्चे भाई थे।

कैकेयी के सन्तोष के लिए राम वन जाने को तैयार हुए और लक्ष्मण को उस काण्ड का समाचार मिला तो वे अत्यन्त कुपित हुए। लक्ष्मण के क्रोध को देखकर राम ने कहा– तू भाई का गौरव बढाना चाहता है अथवा घटाना चाहता है यह सुनकर लक्ष्मण शान्त हो गये और कहने लगे– आपकी जो आज्ञा होगी, वही करुगा, परन्तु मैं चाहता हू कि मुझे आपका विछोह न देखना पडे– मैं। आपकी सेवा मे ही रहू।

राम ने कहा– तू मेरे साथ चलेगा तो माता–पिता को कितना दु ख होगा? इसके अतिरिक्त मेरे साथ चलने का आग्रह क्यो करता है? क्या मै कायर हूँ? तू यही रहकर भाई भरत की सहायता कर। मेरे साथ–साथ चलने की आवश्यकता नही।

लक्ष्मण ने उत्तर दिया– माता–पिता की सेवा करने वाले यहा बहुत है। मै तो आपके साथ ही चलूगा। आप वन मे जाए और मै राजभवन मे मौज उडाऊ, यह नही होने का।

राम समझ गये कि लक्ष्मण साथ चले बिना नही मानेगा। तब उन्होने कहा– अच्छा, तू माता की अनुमति ले आ, फिर साथ चलना।

यह सुनकर लक्ष्मण प्रसन्न हुए। परन्तु साथ ही उन्हे विचार आया– पुत्र स्नेह के कारण कौन जाने माता अनुमति देगी या नही? माता ने अनुमति नही दी तो राम भी साथ नही ले जाएगे। यह विचार कर लक्ष्मण परमात्मा से प्रार्थना करने लगे– प्रभो! मेरी माता को ऐसी सद्‌बुद्धि दो कि वह मुझे राम के साथ वन मे जाने की स्वीकृति दे दे।

लक्ष्मण अपनी माता सुमित्रा के पास गये। सुमित्रा मे पुत्रस्नेह की विमल धारा प्रवाहित हो रही थी, फिर भी उन्होने लक्ष्मण से जो– कुछ कहा उसका जैन रामायण मे बडा ही सुन्दर वर्णन दिया गया है। कहा है–

वत्स सुवत्स बुद्धि तारी, भलो मतो तुझ माय।
तात राम करी लेखवो, कहे सुमित्रा माय।।

सुमित्रा कहती है– वत्स, तूने राम के साथ वन मे जाने का जो विचार किया है, वह अतीव उत्तम विचार है। राम को पिता और सीता को माता की तरह समझना। उन्हे किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस बात का पूरा–पूरा खयाल रखना और बराबर उनकी सेवा करना। तेरे भाग्य से ही राम वन जा रहे है। इसी से तुझे सेवा करने का ऐसा शुभ अवसर मिल रहा है।

लक्ष्मण जैसे भाई और सुमित्रा जैसी माता का मिलना कठिन है। सुमित्रा कहती है– हे पुत्र! तेरे भाग्य से ही राम वन मे जा रहे है। अतएव तू भी जा, विलम्ब मत कर। अन्यथा राम वन चल देगे और तू यही रह जायेगा।

माता का यह कथन सुनकर लक्ष्मण को कितनी प्रसन्नता हुई होगी? भूखे को भोजन और प्यासे को पानी मिलने से जो आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द लक्ष्मण को हुआ। वह राम के साथ वन मे गये और अनन्य भाव से राम एव सीता की सेवा करते रहे।

मुनि कहते है— मेरे भाई स्वार्थी नहीं थे, किन्तु मुझे रोगमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। वे सदैव मेरे विषय मे चिन्ता करते रहते थे कि मेरे भाई का दु ख कैसे दूर हो? यह रोगमुक्त किस प्रकार हो? हमे तभी आनन्द होगा, जब हमारे भाई का रोग दूर होगा। भले कोई यह सारी सम्पत्ति ले ले, किन्तु हमारे भाई को स्वस्थ कर दे। इस प्रकार मेरे भाई मुझे रोगमुक्त करने के लिए यत्नशील थे, फिर भी वह रोगमुक्त करने मे समर्थ न हो सके। यही मेरी अनाथता थी।

अनाथी मुनि जो—कुछ कह रहे हैं, उस पर आप लोग भी विचार करो। जब अनाथी मुनि के भाई उन्हे निरोग न कर सके तो क्या तुम अपने भाई का दु ख दूर कर सकते हो? नही, तो फिर जैसे श्रेणिक अपने—आप को अनाथ मानने लगा, उसी प्रकार तुम भी अपने को अनाथ क्यो नहीं मानते? माता—पिता, भाई आदि के तुम नाथ नही हो, उसी प्रकार वे भी तुम्हारे नाथ नहीं हैं। अतएव तुम स्वय अपने नाथ बनो। तुम अपनी आत्मा के नाथ आप बन जाओगे तो अखिल ससार तुम्हारे पैरो मे पडेगा। अनाथ मुनि अपने नाथ बने तो राजा श्रेणिक भी उनके चरणो मे गिरा। राजा श्रेणिक किसी के भय से पैरो मे गिरने वाला नही था, परन्तु जो अपनी आत्मा के नाथ बने थे, उन सनाथ बने हुए अनाथ मुनि के पैरो मे गिरते श्रेणिक को तनिक भी सकोच नही हुआ।

तुम अपनी आत्मा के नाथ बनो। मैं यह नही कहता कि आज ही घर—द्वार छोड दो, परन्तु मुझे अनाथता त्याग कर नाथ बनना है, ऐसी भावना तो आपके अन्त करण मे होनी चाहिए। इस प्रकार सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी दिन सनाथ भी बन जाओगे।

ससार मे जो लोग दुर्बल होते हैं, उन्ही के सिर दु ख पडते हैं। बलवानो से दु ख दूर रहते हैं। देखो, माताजी को बेचारे बकरे का ही बलिदान दिया जाता है, सिह की बलि कोई नही देता। कारण यही कि बकरी तो कान पकड कर बलिवेदी पर ले जाई जाती हे, पर सिह तो पकडने वाले को ही खा जाता है। अतएव अनाथ मुनि का कथन ध्यान मे रखो और अपने आप को सबल एव सनाथ बनाओ।

भइणिओ मे महाराय, सगा जिट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया।।27।।

अर्थ— महाराज! मेरी छोटी और बडी सगी बहिने भी थी, किन्तु वे भी मुझे दु ख से मुक्त करने मे समर्थ नही हो सकीं। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान– अनाथ मुनि आगे कहते है– राजन्! मेरी छोटी और बडी सहोदर भगिनिया भी थी। साधारणतया ससार की किसी भी स्त्री को बहिन कहा जा सकता है, परन्तु वे धर्म के सम्बन्ध से बहिन कहलाती हैं। उन्हे सगी बहिन नही कह सकते। मेरी सगी बहिन ने भी मेरे रोग को दूर करने के सभी शक्य प्रयत्न किए, किन्तु वे भी सफल न हो सकी।

यहा एक प्रश्न खडा हो सकता है कि जब माता, पिता और भाई भी दु ख से न बचा सके तो फिर बेचारी बहिनो की क्या चलाई? जहा सूर्य का प्रकाश भी काम न दे सकता हो, वहा दीपक का प्रकाश क्या काम देगा? फिर बहिनो का अलग उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार मे ऐसी विचित्रता देखी जाती है कि कभी–कभी जो काम बडो से नही होता, वह छोटो से हो जाता है। जहा सूर्य का प्रकाश काम नही देता, वहा दीपक का प्रकाश भी उपयोगी सिद्ध होता है। मेरे खयाल से ससार की यही विचित्रता बतलाने के लिए बहिनो का वर्णन किया गया है।

भाई का भाई के साथ जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही बहिन के साथ भी है। ऐसी स्थिति होने पर भी कुछ लोग पुत्र के जन्म से तो प्रसन्न होते है, किन्तु पुत्री के जन्म से दु ख अनुभव करते हैं। इससे भी अधिक दु ख की बात यह है कि कतिपय श्राविका कहलाने वाली बहिने पुत्र का जन्म होने पर जापे मे उसकी पूरी–पूरी सभाल करती है, किन्तु पुत्री का जन्म हो तो उपेक्षा का भाव धारण करती हैं। पुत्र और पुत्री मे इस प्रकार का भेद करना क्या उचित कहा जा सकता है? अनाथ कहलाने वाले यूरोपवासी भी इस प्रकार का भेदभाव नही रखते और तुम आर्य तथा श्रावक–श्राविका कहलाते हुए भी यह जघन्य भेदभाव रखते हो। यह उचित नही हैं। माता या पिता होने के नाते तुम्हे पुत्र और पुत्री पर समभाव रखना चाहिये। पुत्र और पुत्री, दोनो के सहकार से ही यह ससार चल रहा है। ससार रूपी गाडी के ये दोनो दो चक्र हैं। इन्ही दो चक्रो के आधार पर ससार की गाडी चल रही है।

ससार की इस विचित्रता को बतलाने के लिए ही शास्त्रकारो ने बहिनो का पक्ष लिया है। इसके अतिरिक्त बहिनो का उल्लेख करने का एक कारण यह दिखलाना भी हो सकता है कि उनका घर भरा–पूरा था। उसमे खटकने वाला किसी प्रकार का अभाव नही था।

अनाथ मुनि ने भाई–बहिनो के सम्बन्ध का परित्याग कर दिया था, फिर भी वे उस सम्बन्ध को पूर्वभाव से स्वीकार करके कहते है– जितना

प्रयत्न माता–पिता और भाइयो ने किया था, उतना ही प्रयत्न बहिनो ने भी किया था।

आजकल कई लोग कहने लगे हैं– हमे न पुत्र की आवश्यकता है और न पुत्री की ही। जनसख्या बहुत बढ गई है, अतएव हम तो सन्ततिनियमन का प्रयत्न करते हैं। किन्तु विचारणीय बात तो यह है कि सन्तान की वृद्धि हुई क्यो? तुम्हारी विषय–वासना की वृद्धि के कारण ही सतति की वृद्धि हुई है। अब अगर आपको सन्तान की आवश्यकता नही है तो विषय–वासना का त्याग क्यो नही करते? विषय–सेवन का त्याग न करना और कृत्रिम उपायो द्वारा सन्ततिनियमन करना अनुचित है। यह घोर दुष्कर्म है और इसके परिणाम का विचार करने से बडा दुख होता है। भारत की जनता मे कृत्रिम उपायो से सततिनिरोध का भूत कहा से घुस पडा? सयम का आदर्श कैसे भुला दिया गया? सततिनिरोध का सच्चा उपाय सयम ही है। इस आदर्श उपाय को छोडकर स्वच्छदता के मार्ग पर जाने से विषय–वासना घटने के बदले बढेगी। स्त्री–पुरुषो का मन काम–वासना से रग जाएगा और वीर्य का पानी की तरह दुरुपयोग होने के परिणामस्वरूप निर्बलता आ जाएगी।

वीर्य मनुष्य का जीवनसत्व है। वीर्य का ह्रास होने से मनुष्य–जीवन का ह्रास होता है। जो वीर्य मानव–जीवन का सत्त्व गिना जाता है, उसका पानी की नाईं दुरुपयोग करने से बढ कर दुख की बात और क्या हो सकती है? अतएव सन्तान की वृद्धि विषय–भोग की वृद्धि का परिणाम है। यह स्वीकार करो और उसका नियत्रण करने के लिए सयम के मार्ग को ग्रहण करो। सयम के मार्ग को ग्रहण करने से सन्तति का निरोध भी होगा और मनुष्य सबल हो कर अपना कल्याण भी कर सकेगा। तीर्थंकर देव स्वय कह गये हैं कि यद्यपि हमारा जन्म माता–पिता के रज–वीर्य से हुआ है, फिर भी आत्मा का कल्याण तो ब्रह्मचर्य से ही होता है।

तीर्थंकर देव के इस कथन पर गम्भीर विचार करो और ब्रह्मचर्य को आदेश मानकर सन्ततिनिरोध के लिए सयम का मार्ग ग्रहण करो। कृत्रिम उपायो द्वारा सन्तति का निरोध करना सच्चा उपाय नही हे। यह उपाय तो आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाने वाला और आत्मा का अहित करने वाला है। जैन समाज और भारतीय जनता इस उन्मार्ग पर न चले तो अच्छा हे, अन्यथा इसका परिणाम भयकर है।

अभिप्राय यह है कि सन्तति के रूप मे पुत्र और पुत्री दोनो ही हैं। दोनो के साथ समान व्यवहार होना चाहिये। परिवार मे दोनो का स्थान समान हे। यह प्रकट करने के लिए मुनि ने अपनी बहिनो का भी उल्लेख किया हे।

मुनि कहते हैं– राजन्, मेरी बहिने भी थी। उन्होने भी माता–पिता तथा भाइयो की तरह मेरे रोग–निवारण के लिए अनेक प्रयत्न किए, परन्तु वे सफल न हो सकी। ऐसी मेरी अनाथता थी।

राजन्, बहिनो से कुछ न लेकर उन्हे देना चाहिये। यह भाई का धर्म है। परन्तु मेरी बहिने मेरे दु ख से दुखी रहती थी। मैं अपनी बहिनो को कुछ देकर सुखी बनाऊ। यह मेरा कर्तव्य था, किन्तु स्वय दुखी था। इस कारण मै उन्हे सुखी न बना सका। अपने शरीर की इतनी अधिक विवशता देखकर मुझे भान हुआ कि वास्तव मे यह शरीर ही दु ख का कारण है। इस शरीर से मुक्त होकर ही मै सुखी हो सकता हू। मेरे दु ख को दूसरा कोई भी नही मिटा सकता। मै स्वय ही अपना दु ख दूर कर सकूगा।

मुनि के इस कथन पर जरा विचार करो। तुम्हारे दु ख को भी दूसरा कोई दूर नही कर सकता। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे दु ख को दूर करने मे समर्थ हो सकती है। अतएव अपनी आत्मा की शक्तियो की ओर ही देखो और आत्मा को समर्थ तथा सावधान बनाओ।

आत्मा दूसरो की शरण मे जाने के कारण ही अनाथ बन गया है। अगर वह अपनी चित्शक्ति और ज्ञानशक्ति का विकास करे तो अनाथता को दूर करके सनाथ बन सकता है। आत्मिक शक्ति का विकास करने के लिए हृदय मथन की आवश्यकता है–

भारिया मे महाराय! अणुरत्तमणुव्वया।
असु पुण्णेहि नयणेहि, उर मे परिसिंचइ।।28।।
अन्न पाण च ण्हाण च गछमल्लविलेवण।
मए नारामणाय वा, सा बाला नोवभुजइ।।29।।
खण पि मे महाराय! पासाओ मे न फिट्टइ।
न य दुक्खा विमोयति, एसा मज्झ अणाहया।। 30।।

अर्थ– महाराजा, मेरी पत्नी पतिव्रता थी और मुझ पर अनुरक्त थी। वह मेरी दशा देखकर अपनी आखो के आसुओ से मेरे हृदय का सिचन किया करती थी। अर्थात् रोती रहती थी।

उस नवयुवती ने अन्न खना, पानी पीना, केसर–चदन आदि सुगन्धित द्रव्यो का लेपन करना एव शृगार करना छोड दिया। मुझे दिखलाने के लिए ही उसने ऐसा नही किया, वरन् मेरे परोक्ष मे अनजान मे भी वह इन सब का सेवन नही करती थी।

मेरी पत्नी क्षण भर के लिए भी मेरे पास से अलग नही होती थी। फिर भी वह मुझे दु ख से मुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान – ससार मे स्त्री का सम्बन्ध बहुत निकट का माना जाता है और स्त्री सुख का साधन समझी जाती है, परन्तु अनाथ मुनि कहते हैं– मैं अपने अनुभव से कहता हू कि यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह कोई सुनी–सुनाई बात नही, अपने ही जीवन की अनुभव की हुई है।

महाराज, आप कहते हैं कि मेरे राज्य मे चलो। मैं सुन्दरियो के साथ तुम्हारा विवाह करा दूगा और जिस अनाथता के कारण सयम लेना पडा, वह अनाथता दूर हो जायेगी। किन्तु इस कथन के उत्तर मे मेरी बात सुनिए–

मेरी पत्नी पतिव्रता थी। वह मेरे सुख मे सुखी और दु ख मे दुखी रहती थी। मेरा दु ख देखकर वह सदा रोया करती और अपने आसुओ से मेरे हृदय को आर्द्र किया करती थी। मुझे दु ख मे देखकर उसने खाना–पीना त्याग दिया था, स्नान और सुगन्धित द्रव्यो का लेपन करना भी छोड दिया था। वह सिगार भी नही करती थी। यह बात नहीं थी कि मुझे प्रसन्न करने के लिए या कुलटाओ की तरह ऊपर से पतिभक्ति का प्रदर्शन करने के लिए मेरे सामने वह खान–पान आदि का उपभोग न करती हो और परोक्ष मे मौज उडाती हो, किन्तु वास्तव मे ही वह मेरे दु ख से दु खित थी और प्रत्यक्ष या परोक्ष मे इन वस्तुओ का उपभोग नही करती थी। इसके अतिरिक्त मेरी पत्नी एक क्षण के लिए भी मुझसे विलग नही होती थी। फिर भी वह मुझे दु खमुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

जैसे तीव्र वेदना के कारण मुझे निद्रा नही आती थी, उसी प्रकार मेरे दु ख के कारण मेरी पत्नी को निद्रा नही आती थी। वह मन ही मन सोचती थी कि मैं पति की अर्धांगिनी हू। पति कष्ट भोग रहे हैं तो उनका अर्धांग सुखी कैसे रह सकता है? इस प्रकार के विचार से वह दु खी रहती थी। जैसे काच के सामने कोई वस्तु रखी जाय तो उसका प्रतिबिम्ब काच मे ज्यो का त्यो दिखलाई पडता है, उसी प्रकार मेरे दु ख की छाया उसके चेहरे पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। ऐसी सुशीला और पतिव्रता पत्नी भी मुझे दु ख से मुक्त करने मे समर्थ न हो सकी, यह मेरी अनाथता थी।

एक प्रश्न उपस्थित होता है– माता–पिता, भाई–बहिन और पत्नी आदि के द्वारा समस्त शक्य प्रयत्न करने पर भी अनाथ मुनि का रोग शात नही हुआ, यह अच्छा हुआ या खराब? ऊपरी दृष्टि से देखने वाले लोग तो यही कहेगे कि अनाथ मुनि को तीव्र असातावेदनीय कर्म का उदय होने से

रोग उपशात नही हुआ होगा, परन्तु मुनि के कथन पर विचार करने से प्रतीत होगा कि उनका रोग शात न होना भी एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। मुनि कहते है– कदाचित् पत्नी के प्रयत्न से मेरा रोग मिट गया होता तो मैं उसका गुलाम हो गया होता। मै उसी को अपनी स्वामिनी मान लेता। किन्तु दु ख, सुख के लिए होता है। इस कारण मेरा रोग शान्त न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। सब लोग दु ख को अनिष्ट समझते है। पर मेरे लिए तो दु ख भी इष्ट मित्र के समान सहायक सिद्ध हुआ।

ज्ञानीजन कहते है–

सुख के माथे शिला पडो, जो प्रभु से दूर ले जाय।
बलिहारी उस दु.ख की, जो प्रभु से देत मिलाया।

वह सुख किस काम का जो परमात्मा से दूर रखता है? दु ख की ही बलिहारी है जो प्रभु के पास ले जाता है। मनुष्य के सिर पर दु ख का भार न होता तो न जाने क्या–क्या करता। कितना ऊधम मचाता, कितनी उछल–कूद करता।

आज ससार मे जो बुराइया दृष्टिगोचर होती है, उनके मूल कारण पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही हैं। सुखी लोग जितना प्रकृति के नियमो का उल्लघन करते है, उतना पशु–पक्षी भी नही करते। सुखी लोग ही प्राय दुर्व्यसनो के शिकार होते है और मार्यादा का उल्लघन करते है और हानिकारक वस्तुओ को अपनाते हैं। उदाहरण के लिए बीडी ही को लीजिए। बीडी पीना क्या लाभदायक है? वह धर्म–कर्म की भी हानि करती है और शरीर–स्वास्थ्य को भी हानि पहुचाती है। इसी प्रकार खान–पान और पोशाक के विषय मे विचार किया जाय तो अनेक बुराइयो के उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही मिलेगे। इस दृष्टि से विचार करने पर कथित सुख बुराइयो को उत्पन्न करने का कारण प्रतीत होता है।

इसी हेतु अनाथ मुनि कहते हैं– मेरे रोग का शान्त न होना अच्छा ही रहा। हे राजन्! अपनी पत्नी की ओर से मै तो अनाथ था ही, परन्तु वह भी मेरी ओर से अनाथ थी। मै। अपनी पत्नी का दु ख दूर नही कर सकता था और पत्नी मेरा दु ख दूर नही कर सकती थी। वह भी अनाथ थी और मैं भी अनाथ था।

अनाथी मुनि के इस कथन से स्पष्ट है कि भले किसी को पतिपरायणा पतिव्रता एव सुशीला पत्नी मिली हो, किन्तु वह उसे सनाथ नही बना सकती।

इसी प्रकार वह भी अपनी पत्नी को सनाथ नही बना सकता। भक्तजन इस बात को भलीभाति जानते हैं। और कहते हैं–

मै प्रभु पतितपावन सुने।

हौ पतित, तुम पतितपावन, उभय बानक बने।

भक्तजन अपनी अनाथावस्था को पतितावस्था का नाम देकर कहते हैं– मुझे पावन कौन करेगा? सनाथ कौन बनाएगा? धन–सम्पत्ति, भाई–बहिन और पत्नी–पुत्र आदि मुझे पावन नही बना सकते और न सनाथ ही बना सकते हैं। ससार मे कपट का जाल बिछा है। उस कपटजाल मे से मुक्त करने के लिए और सनाथ बनाने के लिए सच्चा भक्त तो यही कहेगा कि– हे प्रभो! तू ही पतितपावन है। तू ही आत्मा को सनाथ बना सकता है। भगवन्! तेरे समान पतितपावन दूसरा कोई नही है। मुझ जैसे पतित को पावन करने वाला तू ही है।

आप लोग यहा आए है, पर क्या लेने आए हैं? हम साधु लोग आशीर्वाद के सिवाय आपको और क्या दे सकते हैं, परन्तु साधु का आशीर्वाद महगा होता है। साधु तो धर्मबुद्धि का आशीर्वाद दे सकते हैं। इसके सिवाय फकीरो–साधुओ के पास देने को और क्या है?

फकीर का नाम सुनकर आप सोचते होगे– फकीर और साधु मे बहुत अन्तर है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। दोनो मे शब्दिक अन्तर ही है, तात्त्विक भेद कुछ भी नही। फकीर किसे कहते है? इस विषय मे एक कवि ने कहा है–

फेसे फख, काफ से कुदरत, र से रहीम और ये से याद,,
बार हरफ है फकीर के, जो पढे तो हो दिलशाद,
फकीर होना बहुत ही कठिन है, जिसमें फिकर को ही न बू,
और कुदरत भी न हो तो ऐसी फकीरी पर है थू,
रहम न हो दिल माहे तो, दुनिया वाड न होना फकीर तू,
याद इलाही जो कोई करे तो, तू उसके चरणो को छू।

इस कविता मे फकीर या साधु का लक्षण बतलाया गया हे। फकीर शब्द तीन–चार अक्षरो से बना है, परन्तु उसमे भाव की व्यापकता है।

फकीर शब्द उर्दू के चार अक्षरो से बना है और इन अक्षरो का अर्थ जदा–जुदा बतलाया गया है। इस प्रकार एक–एक अक्षर का अर्थ बतलाने को सस्कृत मे निरुक्त कहते हैं।

'फकीर' शब्द मे पहला अक्षर 'फ' इसका अर्थ हे– साधु को फिक्र नहीं होनी चाहिए।

कहा भी है–

फिकर सभी को खात है, फिकर सभी का पीर।
फिकर का जो फाका करे, ताको नाम फकीर।।

जिसके अन्त करण मे दुनियादारी की फिक्र नही होती, जो अपनी आत्मा और परमात्मा मे ही मस्त रहता है, वही साधु या फकीर है।

फकीर शब्द मे दूसरा अक्षर 'क' है जिसका अर्थ है कुदरत। कुदरत या प्रकृति का आश्रय लिए बिना जीवन नही निभ सकता। जब राम बन गये मे गये तो क्या ले गये थे? फिर भी वे क्या भूखे रहे थे? जब साधु गृह–ससार का त्याग करते हैं। तो साथ मे क्या लेकर निकलते हैं? राम प्रकृति के भरोसे रहे थे तो वे दु खी नही हुए और साधु प्रकृति के भरोसे रहते है। तो वे भी दु खी नही होते। कुदरत पर निर्भर रहते लोग दु खी नही होते। परन्तु आजकल तो लोग कुदरत से लडाई कर रहे हैं। इसका कटुक फल उन्हे भोगना पड रहा है। मगर फकीर लोग कुदरत के भरोसे रहते हैं और रहना चाहिए भी।

फकीर शब्द मे तीसरा अक्षर 'र' है। इसका अर्थ यहा रहम या दया है। जो दूसरो पर रहम–दया करता है और दूसरो को जरा भी कष्ट नही पहुचाता, वही फकीर है। मै दुनियाजनो का दु ख जितना दूर करता हू, उतना ही परमात्मा के सन्निकट पहुचता हू– ऐसा विचार करने वाला ही सच्चा फकीर है। आप यह बात एक कान से सुनकर दूसरे कान से न निकाल दे, किन्तु इस विषय मे गभीर विचार करके जीवन मे दया को उतारने का प्रयत्न करे।

फकीर शब्द मे चौथा अक्षर 'य' है, जिसका अर्थ है– परमात्मा का नाम और स्वरूप सदैव याद रहे। जो एकाग्र चित्त से सदैव ईश्वर को याद करता है, वह स्वय ईश्वर बन जाता है। अनुयोगद्वार सूत्र मे कहा है– जो ईश्वर मे तन्मय रहता है– ईश्वर का ही ध्यान धरता है, वह ईश्वरमय बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चे फकीर और साधु मे शब्दिक अन्तर भले हो, परन्तु फकीर की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसके अनुसार साधु और फकीर मे कोई अन्तर नही है।

राजा श्रेणिक आज मस्त फकीर अनाथी मुनि से वार्तालाप कर रहा है। मुनि राजा से कहते है– राजन्! तुम कहते हो कि मेरे यहा हाथी, घोडा, रथ गाम और नगर आदि है। सब मेरे अधिकार मे है। सब मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते है, परन्तु मैं पूछता हू कि तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर भी

चलती है या नही? अगर नही चलती तो हाथियो और घोडो के कारण सनाथ होने का अभिमान त्याग दो। मेरा उदाहरण तुम्हारे सामने है। मेरे यहा सभी प्रकार का वैभव विद्यमान था, फिर भी मैं उससे सनाथ न बन सका।

अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से जो बात कही, उस पर तुम भी विचार करो। तुम भी ससार के वैभव पर अभिमान करते होगे, परन्तु क्या इन पदार्थों पर तुम्हारा हुक्म चलता है? सासारिक पदार्थों को छोडिये, तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारी आज्ञा नही चलती। आज्ञा चलती होती तो तुम्हारे काले बाल सफेद क्यो हो गये? दात क्यो गिर गये? इस प्रकार जब तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारा अधिकार नही चलता तो फिर बाह्य पदार्थों पर तुम्हारा अधिकार कैसे हो सकता है? अतएव तुम इस अहकार का परिहार कर दो कि– मैं सबका नाथ हू। राजन्! तुम जिन पदार्थों के कारण अपने को सनाथ समझते हो, उन्ही पदार्थों के कारण अपने को सनाथ समझते हो उन्ही पदार्थों के बन्धन मे पडकर अनाथ बने रहे हो।

बाह्य पदार्थों के फदे मे पड कर आत्मा किस प्रकार अनाथ बन रहा है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू।

मान लीजिए, सिपाही कुछ कैदियो को पकडकर ले जा रहे हैं। सिपाही मन मे समझते होगे कि हम कैदियो को पकड कर ले जा रहे हैं, परन्तु विचार करने से जान पडेगा कि सिपाही भी कैदियो के साथ कैदी बन कर जा रहे है। सिपाहियो से कोई कहे कि कैदियो को वही खडा रखकर यहा आओ, तो क्या वे उन्हे छोड कर जा सकते है? इस प्रकार उन कैदियो के साथ सिपाही भी कैदी बने हैं या नही? इसी तरह आप समझते है– सासारिक पदार्थों के स्वामी हैं, किन्तु वास्तव मे ससार के पदार्थ आपके स्वामी बन है। और उन्होने तुम्हे अपने काबू मे कर रखा है।

अनाथी मुनि राजा श्रेणिक से कहते है– इस प्रकार तुम स्वय ही अनाथ हो तो मेरे या दूसरो के नाथ कैसे बन सकते हो? तुम जिन पदार्थों को अपना मान बैठे हो, उन्ही पर–पदार्थों की परवशता के कारण तुम अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा कहने लगा– यह तो मै समझ गया कि ससार के पदार्थों के कारण अनाथता आती है, किन्तु यह जानना चाहता हू कि सनाथ बनने का क्या उपाय है?

मुनि ने उत्तर दिया– राजन्, अनाथता को दूर करके सनाथ किस प्रकार बना जा सकता और सनाथ मे कितनी अधिक शक्ति होती है, यह मैं बतलाता हू। सावधान होकर सुनो–

तओऽह एवमाहंसु, दुक्खमाहु गुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणतए।।31।।
सइ च जइ मुच्चेजा, वेयणा विउला इतो।
खन्तो दन्तो निरारम्मी, पव्वए अणगारिय।।32।।
एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा।
परियत्तन्तीइ राईए, वेयणा मे खय गया।।33।।

अर्थ– रोग न मिटने पर, विचार करने से मुझे विश्वास हुआ कि इस अनन्त ससार मे मैने इस पकार की वेदना बार–बार भोगी है।

यदि एक बार मै इस विपुल वेदना से छुटकारा पा लू तो क्षमावान्, इन्द्रियो का दमन करने वाला और निरारभी बन कर अनगारधर्म को स्वीकार कर लूगा।

हे नराधिप! इस प्रकार चिन्तन करते–करते मुझे नीद आ गई। मै सो गया। रात्रि व्यतीत होने पर मैने अनुभव किया कि मेरी शारीरिक वेदना नष्ट हो गई है– मेरा शरीर निरोग हो गया है।

व्याख्यान– इन गाथाओ मे ससार का बडा गम्भीर रहस्य बताया गया है। आत्मा किस प्रकार सुखी और किस प्रकार दु खी होता है, यह यहा निरूपण किया गया है।

मुनि कहते है– राजन्! जब मेरे माता–पिता, भाई–बहिन, पत्नी और वैद्य वगैरह सब मिलकर भी मेरा रोग दूर करने मे समर्थ न हो सके, तब मुझे लगा कि ये मेरे नाथ नही है। ये रक्षा नही कर सकते और मै। इनकी रक्षा नही कर सकता। यह सोचकर मैने मन ही मन कहा– हे आत्मन्! तू इस प्रकार का दु ख पहली बार नही भोग रहा है। इससे पहले अनन्त बार भोग चुका है। अत अब दु ख से मुक्त होने के लिए जाग्रत हो जा।

साधारण लोग दु ख से घबराते हैं, किन्तु महापुरुष दु ख मे से भी सुख की खोज करते है। वे समझते है। कि समस्त दु ख तो समाप्त हो जाते है, किन्तु मेरे आत्मा की कभी समाप्ति होने वाली नही है। आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक बना रहेगा। जब से ससार है तभी से मै हू, तभी से ससार है। मै और ससार दोनो अनादिकालीन है। मुझ मे और ससार मे से कौन पहले और कौन पश्चात् है, ऐसा कोई क्रम या भेद नही है। जैसे दो आखो मे और दो कानो मे कौन पहले और कौन पीछे है, यह नही कहा जा सकता, इसी प्रकार आत्मा और ससार मे कौन पहले और कौन पीछे है, यह भी नही कहा जा सकता दोनो ही अनादि है।

ससार मे मैंने अनेक बार दु ख भोगे हैं। ये दु ख कहा से आते हैं? इस प्रश्न पर पर विचार करके मैं। इस निश्चय पर आया हू कि दु ख मात्र का उद्भव अपने ही सकल्प से होता है। जैसा मेने सकल्प किया उसी प्रकार के सुख या दु ख मुझे भोगने पडे।

यह एक दार्शनिक चर्चा है। कोई–कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा अज्ञानी होने के कारण स्वय अपना नियामक नही हो सकता। अज्ञान के अधीन होकर जीव कर्म तो कर डालता है, किन्तु फल स्वय नहीं भोग सकता। फल का नियामक ईश्वर ही है। इस प्रकार जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, फल भोगने मे परतत्र है। कहा है–

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्, आत्मन सुखदुख यो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छत्स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा।।

इस प्रकार जीव को कर्म करने मे स्वतत्र और फल भोगने मे ईश्वर के अधीन बतलाया जाता है। परन्तु विचार करने पर यह कथन तर्कसगत नही प्रतीत होता।

कुरान मे एक जगह कहा है– हे मुहम्मद! जो स्वय नही बिगडता, उसे मैं नही बिगाडता और जो स्वय नही सुधरता, उसे मैं नहीं सुधारता। इस प्रकार इस्लाम धर्म भी खुदा को नियामक नही मानता।

परमात्मा अगर फल का नियामक नही है, तो जीव अपने कार्य के फल को किस प्रकार भोगता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि जीव अपने सकल्प के अनुसार सुख या दु खरूप फल को स्वय भोगता है। परमात्मा को फल का नियामक मानने मे अनेक आपत्तिया हैं। कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने चोरी की, तो चोरी करने वाले ने तथा धनी ने पूर्वकृत कर्म का फल भोगा या नया पाप किया? अगर कहा जाय कि पूर्वपाप का फल भोगा है तो जिसके घर चोरी की गई हे उसने तथा चोरी करने वाले ने तो पूर्वोपार्जित कर्म का फल भोगा, परन्तु चोरी कराने वाला कौन हे? वह चोरी तो परमात्मा ने ही कराई है! अतएव परमात्मा ने चोरी करवा कर उसे पूर्वकृत पाप का फल प्रदान किया, इस प्रकार मानना ठीक नही कहा जा सकता। ज्ञानीजन कहते है– चोरचोरी करके पूर्वकर्म को भोगता है और नवीन कर्मो का बध करता है। अगर सवर द्वारा नवीन कर्मो को न बाधे तो ही वह पापकर्म से मुक्त हो सकता है।

मुनि कहते हैं– राजन्! अपनी अनाथता के सम्बन्ध मे विचार पर ज्ञात हुआ कि अपने सकल्प के कारण ही मुझे दु ख भोगने पड रहे हे।

प्रश्न होता है– आत्मा सुख का सकल्प तो करता है, परन्तु दु ख का सकल्प कौन करता है? इसके अतिरिक्त आत्मा अगर अज्ञानी है तो वह नियामक कैसे बन सकता है? अगर कहा जाय कि प्रकृति व्यवस्था करती है, तो वह जड है। अपने–आप को भी नही जान सकती तो दूसरे की व्यवस्था कैसे कर सकती है? ऐसी स्थिति मे आत्मा का नियामक तो कोई ज्ञानी होना चाहिये।

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि दूध को यह ज्ञान नही होता कि मुझमे कितना रसभाग है और कितना जलभाग है? उसे यह भी मालूम नही होता कि पेट मे जाकर मैं किस रूप मे परिणत होता हू। इसी प्रकार आपको भी ज्ञान नही है कि दूध हमारे पेट मे जाकर किस प्रकार रसभाग और जलभाग मे परिणत होता है? ऐसी स्थिति मे दूध जब पेट मे जाता है तो उसका रसभाग और जलभाग अलग–अलग हो जाते हैं। रसभाग मे से भी जितना भाग आख को मिलना चाहिए उतना आख को, जितना कान को मिलना चाहिए उतना कान को और इसी प्रकार प्रत्येक अग को मिल ही जाता है। इस प्रकार प्रकृति ही ऐसी बनी है कि सब काम अपने–आप ही नियमित रूप से होते रहते हैं।

अगर आप प्रकृति द्वारा होने वाले सब खेलो को भलीभाति देखे और समझे तो आप पूर्ण ही बन जाए, पर आपको मालूम नही है कि यह सब कैसे हो रहा है? आप जाने या न जाने, प्रकृति तो अपना सारा खेल बराबर खेल रही है और आत्मा प्रकृति के इस खेल के कारण ही अपने कर्म का फल आप ही भोगने के लिए उसे परमात्मा या किसी अन्य नियामक की आवश्यकता ही नही रहती।

मुनि कहते हैं– राजन्! अपनी आत्मा की स्थिति देखते हुए मै इस निश्चय पर आया कि मेरा यह रोग मेरे अपने ही सकल्प से उत्पन्न हुआ है। अतएव यह हाय–हाय करने से दूर नही हो सकता। मैं अनन्त बार वेदना सहन कर चुका हू। अगर वेदना शान्त नही हुआ करती होती तो पहले की वेदना कैसे शान्त हो गई? इससे तो यही जान पडता है कि वेदना उत्पन्न भी होती है और उपशान्त भी होती है। फिर मेरी यह वेदना क्यो दूर नही होती। इस प्रश्न पर विचार करते–करते मैं इसी परिणाम पर आया कि उग्र वेदना मैंने अपने सकल्प से ही बुलाई है और अपने ही सकल्प से यह दूर की जा सकती है।

आत्मा कितने ही सकल्प स्वय करता है और कितने ही सकल्प उसे पूर्वजो की विरासत के रूप मे प्राप्त होते हैं । यथा– किसी के पूर्वज मासभक्षी नहीं होते तो उसमे भी मासभक्षण के सस्कार नहीं होते। इसी प्रकार कुछ सस्कार पूर्वजन्म के भी जाग्रत हो जाते हैं, जैसे मास– न खाने वाले पुरुष को कभी मास खाने का स्वप्न भी नही आता। इसका कारण यही है कि उसमे मास खाने का सस्कार ही नही है।

इस प्रकार जो होता है, अपने ही सस्कार से होता है, फिर चाहे वे सस्कार इस भव के हो या पूर्वभव के हो। जैसे सकल्प दृढ होने से माता के साथ दुराचार सेवन करने का स्वप्न भी नही आता, उसी प्रकार यदि समस्त पर–स्त्रियो या स्त्री मात्र के साथ भोग न करने का अथवा त्याज्य वस्तुओ को न अपनाने का सकल्प दृढ हो तो आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है।

आत्मा की अधोदशा का कारण आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को विस्मृत कर देना है। अगर आत्मा परमात्मा के साथ एकता साधन करके भिन्नता को दूर करने का सकल्प–निश्चय करे तो आत्मा की अधोगति न हो।

जब तक सत्सकल्प नही किया जाता, तब तक अनाथता दूर नही की जा सकती। अनाथ मुनि ने कैसा सत्सकल्प करके अपनी अनाथता को दूर किया, इस पर गभीर विचार करो।

मुनि ने विचार किया– अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मेरा रोग दूर नही हुआ तो स्पष्ट है कि रोग का मूल बाहर नही, भीतर ही है। कोई दूसरा मुझे दु ख नही दे रहा है, मै स्वय अपने दु ख का कारण हू। इस अवस्था मे दूसरा मेरे दर्द को कैसे दूर कर सकता है? हा, दूसरा कोई मुझे दु ख देता होता, तो मेरे माता–पिता, भाई–बहिन, स्त्री आदि उसे दूर कर सकते थे। मगर यहा तो मेरी आत्मा स्वय ही दु ख दे रही है, तो दूसरा इसका निवारण किस प्रकार कर सकता है? यह दु ख तो मेरी ही आत्मा मिटा सकती है। इस प्रकार अपने दु ख को दूर करने का और सनाथ बनने का मैने सकल्प कर लिया।

प्रश्न खडा होता है– क्या सकल्प करने से दु ख दूर हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते हैं कि हा, सकल्प से दु ख का निवारण हो सकता हे। सकल्प करने का अर्थ आत्मा को जाग्रत करना है। जो जाग्रत होता है उसे कोई दु ख नही दे सकता। जो मनुष्य गाढ निद्रा मे सोया हो और डरपोक हो, उसके घर मे घुसकर चोर भले चोरी करके भले ले जाय,

किन्तु जो मनुष्य जागता होता है और साहसी होता है, क्या उसके घर मे चोर घुसने का साहस कर सकते हैं? आप जाग्रत है तो चोर क्या कर सकता है?

बाह्य विषय मे आपको ऐसा विश्वास रहता है, परन्तु आध्यात्मिक विषय मे यह विश्वास निश्चल नही रह सकता। आपका आत्मा जाग्रत हो तो कर्म–चोर की क्या ताकत है कि आपकी शक्ति का अपहरण कर सके? यह सत्य है कि आपने अपनी असावधानी से ही कर्मरूपी चोर को आत्मगृह मे घुसने दिया है। अगर आप निरन्तर जागरूक रहे और अपने–आप की चौकसी करते रहे तो चोर कदापि प्रवेश नही कर सकते।

कहा जा सकता है कि– चोर की बात तो प्रत्यक्ष अनुभव मे आती है। चोर आखो से दिखाई दे जाय और जोर की चिल्लाहट मचाई जाय तो वह भाग जाता है, परन्तु कर्म कहा भाग जाता है? इसके अतिरिक्त जब शरीर मे रोगजनित पीडा होती है तो हाय–हाय मचाई जाती है, रोगी चीखता है, चिल्लाता है, फिर भी रोग जाता नही। ऐसी स्थिति मे किस प्रकार विश्वास किया जाये कि सकल्प करने मात्र से कर्म या रोग चला जाता है? इसके सिवाय शास्त्र मे भी तो कहा है–

कडाण कम्पाण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्– कृतकर्मो से तब तक छुटकारा नही मिल सकता, जब तक उनका फल न भोग लिया जाय।

शास्त्र तो ऐसा कहते है और आप यह कहते है कि जागृति रहने से कर्म भी भाग जाते है। ये दोनो बाते परस्पर विरूद्ध हैं। तो कैसे मानाय जाय कि जाग्रत रहने से अथवा सकल्प करने से कर्म अथवा रोग दूर हो जाते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भिन्न–भिन्न दृष्टियो से दोनो बाते सत्य हैं और सकल्प करने से कर्म तथा रोग दूर हो जाते है, यह बात भी सत्य है।

कहा जा सकता है, रोग की पीडा से व्याकुल होकर जब रोगी तडपता है और चीखता–चिल्लाता है, तब रोग दूर क्यो नही हो जाता? परन्तु रोग के समय हाय–तौबा मचाना, चीखना–चिल्लाना जागृति का लक्षण नही है, प्रत्युत निद्रा का लक्षण है। जेसे निद्रा मे बडबडाना जागृति का स्वरूप नही, निद्रा का ही द्योतक है, उसी प्रकार रुग्णावस्था की चीख और चिल्लाहट भी भाव–निद्रा की सूचक है।

मुनि कहते है– बीमारी के समय मैं भी चिल्लाहट मचा रहा था, परन्तु उसे रोग की अधिकता का परिणाम समझकर कोई सुनता नही था। इसी प्रकार तुम भी रोग को चले जाने को कहते हो अथवा उसके लिए चीखते हो

किन्तु जब तक अधिकारी बन कर न कहा जाय, तब तक रोग कैसे जा सकता है?

जिस प्रकार अनाथ मुनि ने अधिकारी बनकर अपनी अनाथता दूर की, उसी प्रकार आप भी अधिकारी बनकर सकल्प करो तो रोग भी दूर हो सकता है।

मुनि कहते हैं– राजन्! अब मुझे पता लगा है कि मैंने सकल्प से ही रोग को पकड रखा है और सकल्प के द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दृढ सकल्प करके मैंने रोगो से कहा– 'रोगो, तुम हट जाओ। अब मुझे शात, दान्त और निरारभी होना है। एक बार मेरी वेदना शात हो कि मैं दुनिया के सारे बखेडे छोड दूगा।'

अनाथ मुनि ने यह भावना तो की कि मेरा रोग चला जाय तो मैं शात, दात और निरारम्भी बनू, किन्तु यह भावना नही कि मैं निरोग हो जाऊ तो मौज–मजा करू। उनकी हृदय–भावना ऐसी ही थी कि अगर एक बार रोगमुक्त हो जाऊ तो जिस अनाथता के कारण दु ख भोगना पडता है, उसे सदा के लिए दूर कर दू। मुनि की इस भावना का आशय यही है कि यह आत्मा अनन्तकाल से अपनी भूल के कारण दु ख भोग रहा है। इसे दु ख पहुचाने वाला कोई दूसरा नही है।

मुनि के इस कथन पर विचार करके आप अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिए। मेरे कहने का अभिप्राय यह नही है कि आप सब इस मुनि की तरह आज ही दीक्षा ले ले। ऐसा करना तो अपनी–अपनी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु मुनि के कथन मे जो तत्त्व निहित है, उसे अपने अन्त करण मे स्थान दो। भक्त लोग तत्त्व को समझते हैं और इसीलिए कहते है–

जलचर वृन्द जाल अन्तर्गत होत सिमट एक पासा,
एकहि एक खात परस्पर, नहि देखत निज नाशा।
माधव जू! मो सम मन्द न कोऊ।।
माधव जू! मो सम मन्द न कोऊ।।
यद्यपि मीन पतग हीनमति मोहि न पूजै ओऊ,
महामोह सरिता अपार में संतत फिरत बह्योऊ,
श्रीप्रभु चरण–कमल–नौका तजि, फरी फरी फेन गह्यो
माधव जू! मो सम मन्द न कोऊ।।

भक्त कहते हैं– प्रभो! मैं व्यर्थ ही दूसरो को दोष देता हू। मेरा यह सोचना व्यर्थ है कि रोग, दु ख, नरक, कर्म आदि मुझे सताते है। ऐसा विचार

करना मेरी मूर्खता है। वस्तुत ऐसा विचार करने वाले के समान और कोई मूर्ख नही है। जिस प्रकार मछली जाल मे फसकर अपने प्राण गवा देती है और पतग दीपक के मोह मे पडकर मर जाता है, यह उनकी मूर्खता है, परन्तु मै तो उनसे भी अधिक मूर्ख हू। क्योकि–

रुचिर रूप आहार वस्य उन्ह पावक लोह न जान्यो।
देखत विपति विषय न तजत हौ ताते अधिक अयान्यो।।

मछली जाल को जाल समझकर उसमे नही फसती। वह आहार की खोज मे जाती है और फस जाती है। उसे विदित होता कि यह आहार नही, बल्कि उसे पकडने का जाल है, तो वह उस आहार को भी न खाती। इसी प्रकार पतग भी आग को आग नही समझता। वह अग्नि का सुन्दर रूप देखकर उसमे गिरता है। कदाचित् उसे आग का वास्तविक ज्ञान होता तो वह उसमे न पडता। किन्तु मै तो विषय को विपत्ति समझकर भी विषय–वासना मे पडा हुआ हू। इस कारण मै मछली और पतग से भी अधिक मूर्ख हू।

मुनि कहते है– मै अपनी ही भूल के कारण अनादिकाल से दु ख भोग रहा हू। विषय–भोग के कारण ही मुझे दु खो का पात्र बनना पड रहा है। यह जान करके भी मै विषयो का त्याग नही करता था। किन्तु राजन्! जब मुझे अपनी भूल का भान हुआ, तभी मैने दु खो से कह दिया– 'तुम सब यहा से चले जाओ। मै क्षमावान्, दान्त और निरारम्भी बनूगा।' मेरे इस सकल्प के सामने क्या दु ख टिक सकते है!

मुनि के इस कथन के प्रकाश मे विचार करो कि आप ससार से बाहर निकलने के काम करते हो अथवा और अधिक ससार मे फसने के? भक्तजनो का कहना तो यह है कि हे प्रभो! इस ससार–सागर मे हम अपनी भूल के कारण ही गोते खा रहे है। ससार–सागर से पार होने के लिए महापुरुषो ने हमारे सामने नौका भी खडी कर रखी है, किन्तु हम उस नौका को छोड देते है और फेन जैसी निस्सार वस्तु का सहारा लेने का प्रयत्न करते है।

मुनि कहते है– राजन्! मै। प्रभुरूपी नौका का सहारा न लेकर माता–पितारूपी ससार–सागर के फेन को पकड रहा था। मै मानता था कि मेरे माता–पिता मेरे रोग को मिटा देगे, परन्तु जो फेन के समान है वह क्या सागर मे डूबते प्राणियो को बचाने मे सहायता कर सकता है? आखिर जब मैने प्रभुरूपी नौका पकडी, तभी मेरा दु ख दूर हुआ। राजन्! तुम मेरे इस अनुभव के आधार पर विचार कर देखो कि तुमने जिन वस्तुओ को अपनी समझा है वे क्या तुम्हे दु ख से मुक्त कर सकेगी?

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि के कथन को मान गया। वह समझ गया कि मैं वास्तव मे अनाथ हू और मुझे अनाथ बनाने वाले ससार के ये पदार्थ ही हैं। उसने अनाथता का स्वरूप समझ लिया था। आप लोग भी समझो और अनाथता का निवारण करने का प्रयत्न करो।

यद्यपि राजा श्रेणिक सयम को धारण नही कर सका था, किन्तु सीढी–सीढी चढकर उसने जो बात स्वीकार की थी, उससे तनिक भी विचलित नही हुआ था। ग्रथकारो के कथनानुसार मुनि का उपदेश सुनकर वह क्षायिक सम्यक्त्व का अधिकारी बन गया था। एक ग्रन्थ मे तो यहा तक कहा है कि सनाथ–अनाथ का भेद समझने के बाद उसे धर्म पर दृढ विश्वास हो गया था। उसका सम्यक्त्व रूढ था। एक बार इन्द्र ने भी उसकी प्रशसा की थी। इन्द्र द्वारा की हुई राजा श्रेणिक की प्रशसा एक देव सहन न कर सका। नरेश की प्रशसा सुनकर वह देव मन ही मन कहने लगा– हमारे सामने मनुष्य की क्या प्रशसा हो सकती है? हम वैक्रिय शरीर के धारक हैं और मनुष्य पार्थिव औदारिक शरीर वाले। किन्तु उस समय देव ने इन्द्र से कुछ न कहकर पहले राजा को समकित से च्युत करके फिर इन्द्र से कहने का विचार किया। इस प्रकार विचार करके उस देव ने राजा को सम्यक्त्वच्युत करने के अनेक प्रयास किये। मगर राजा सभी परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हुआ। अन्त मे देव को कहना पडा– इन्द्र महाराज ने जैसी आपकी प्रशसा की थी, वास्तव मे ही आप वैसे है। आप सचमुच प्रशसनीय और श्लाघनीय है। मैने इन्द्र महाराज के कथन पर तो विश्वास नही किया, मगर आपकी दृढता देखकर विश्वास करना पडा।

अभिप्राय यह है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थ प्रवचन है। अतएव निर्ग्रन्थ–प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखो। सत्सकल्प–दृढ श्रद्धा रखने से तुम्हारा श्रेय होगा। सुख और दु ख या सद्गुण और दुर्गुण सब तुम्हारे प्रशस्त या अप्रशस्त सकल्प पर निर्भर हैं। अतएव निरन्तर सत्सकल्प ही करना चाहिये।

सकल्प की शक्ति कितनी अद्भुत है, यह देखो। मैने विचार किया– इस प्रकार का दु ख मैं अनन्त बार भुगत चुका हू। दु ख उत्पन्न हुआ और नष्ट भी हो गया, पर मैं जैसा का तैसा ही रहा। इससे स्पष्ट जान पडता है कि वेदना का जनक स्वय मैं ही हू और मै ही उसका नाश कर सकता हू। इस प्रकार विचार करके मैं इस निश्चय पर आया कि आत्म–साधना मे बाधक यह वेदना अगर दूर हो जाय तो मैं क्षमाशील, इन्द्रियो को दमन करने वाला और आरम्भ–त्यागी बन जाऊगा।

क्षमा, इन्द्रियदमन, निरारभता और प्रव्रज्या, ये सब क्या हैं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? इस विषय मे थोडा विचार कर लेना चाहिए।

क्षमाशीलता का अर्थ है– सहनशीलता। चाह कैसी भी स्थिति क्यो न हो और कितने ही जुल्म सिर पर क्यो न आवे, पर अपने स्वरूप का त्याग न करना और धैर्य एव शाति के साथ उनका सामना करना क्षमा है। शास्त्र मे कहा है–

पुढवी समे मुणी हविज्जा

अर्थात्– मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिये। पृथ्वी को कोई लात मारता है, कोई सीचता है तो कोई खोदता है, किन्तु यह सब– कुछ सहन करके भी पृथ्वी अपना गुण ही प्रकट करती है। वह सदैव स्थिर रहती है। पृथ्वी की सहायता से ही यह ससार चल रहा है। पृथ्वी की सहायता प्राप्त न हो तो यह ससार टिक ही नही सकता। तुम पृथ्वी के उपकारो को भूल रहे हो, परन्तु गनीमत यही है कि पृथ्वी तुम्हे नही भूली है। कोई पृथ्वी की पूजा करे या लाते मारे, वह किसी पर अप्रसन्न नही होती, किसी पर प्रसन्न भी नही होती। पृथ्वी प्रसन्नता या अप्रसन्नता के द्वद्व मे पडती ही नही।

भगवान् का कथन है कि हे मुनियो। अगर तुम क्षमावान् बनना चाहते हो तो पृथ्वी के समान सहनशील बनो। पृथ्वी की भाति सहनशील बनोगे तो–

लाहालाहे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापससासु तहा माणावमाणओ।।

लाभ और अलाभ या सुख और दु ख का प्रश्न ही तुम्हारे सामने नही रहेगा। साधु के समक्ष धन के लाभ और अलाभ का तो प्रश्न ही नही होता, शरीर–निर्वाह के लिए जो भोजन चाहिए, उसमे भी लाभ–अलाभ का प्रश्न नही रह जाएगा। भोजन मिल गया तो भी आनन्द मानोगे और न मिला तो भी आनन्द मानोगे। व्यापारी लाभ हानि का विचार करते हैं, परन्तु हे साधुओ। व्यापारियो की तरह तुम लाभहानि के प्रश्न मे न पडो। तुम तो अपने कर्तव्य पालन का ही ध्यान रखो। लाभ–हानि के द्वद्व मे न पडना ही सयम का मूल लक्षण है। इस प्रकार यतिधर्म मे क्षमा का स्थान पहला है। अतएव लाभ–अलाभ मे समान भाव रखना मुनि का पहला धर्म है।

हे मुनियो। क्षमाभाव धारण करने के साथ तुम सुख–दु ख मे भी समान रहो। जिस प्रकार पृथ्वी पूजन से प्रसन्न नही होती और खोदने से नाराज नही होती, उसी प्रकार तुम भी सुख–दु ख मे समभाव धारण करो। सुख–दु ख मे यहा तक मध्यस्थ बन जाओ कि–

जीवियासमरणभय विप्पमुक्का।

जीवित रहने की लालसा और मरने का भय भी तुम्हारे अन्त करण मे न रह जाय, तुम्हारे लिए जीवन और मरण भी एकाकार हो उठे। दोनो मे किसी प्रकार की भिन्नता न रहे।

हे मुनियो! कोई तुम्हे वन्दना करेगा और यह कहकर निन्दा करेगा कि कमाकर खाने की हिम्मत न होने के कारण ढोगी साधु बन गया है। इस प्रकार प्रशसक और निन्दक, दोनो प्रकार के लोग तुम्हे मिलेगे, पर किसी के मुख से प्रशसा सुनकर तुम्हे सुख का अनुभव नहीं करना है और निन्दा सुनकर दु ख का अनुभव नही करना है। तुम निन्दा और प्रशसा के सम्बन्ध मे विचार ही न करो। जैसे पृथ्वी खोदने वाले और गालिया देने वाले को –दोनो को– समान रूप से आधार देती है, उसी प्रकार हे मुनियो! जो तुम्हे गालिया दे, उसका भी तुम कल्याण करो। गालिया देने वाला तुम्हे निर्मला बना रहा है, ऐसा मान कर उसके भी कल्याण की कामना करो।

कोई धोबी मुफ्त मे तुम्हारे कपडे धो दे तो तुम्हे प्रसन्नता होगी या अप्रसन्नता? इसी प्रकार ज्ञानीजन मानते हैं कि गालिया देने वाला अपने को मुफ्त निर्मल बना रहा है। इस प्रकार जो अपकारी को भी उपकारी मानते हे, वास्तव मे उन महात्माओ की बलिहारी हैं।

तुम श्रमणोपासक हो और बहिने श्रमणोपासिका हैं। भगवान् ने तुम्हे श्रमणोपासक कहा है, अरहिन्तोपासक नही कहा है। अत विचार करो कि तुम्हारा जीवन–व्यवहार कैसा होना चाहिए? जो अपने तप पर दृढ रहता है, वह श्रमण कहलाता है और तुम श्रमण के उपासक हो। जिस प्रकार ससार के प्रलोभनो मे न पडकर, लाभ–हानि के प्रसग पर श्रमण का आशिक अनुसरण करके, समभावी बनने से ही तुम सच्चे श्रमणोपासक बन सकते हो। क्या प्रलोभन मे पडकर असत्य भाषण करना श्रमणोपासक का कर्तव्य है? अगर नही, तो श्रमणोपासक होकर क्यो मिथ्या भाषण करते हो? क्यो गालिया देते हो? क्यो किसी को कटुक वाणी कहते हो?

मदनरेखा ने अपने पति को दो घडी मे ही नरक से बचाकर स्वर्ग मे पहुचा दिया था। जब तक उसके पति के कठ मे प्राण रहे, तब तक वह धर्म का ही उपदेश देती रही। उसने रोना और छाती पीटना उचित नही समझा।

यह विचार नही किया कि 'मेरा क्या होगा? मै क्या करूगी?' पति का अन्तिम श्वास निकल जाने के पश्चात् ही उसने अपनी रक्षा के सम्बन्ध मे विचार किया।

मदनरेखा के सर पर उस समय कितना बडा सकट था। सगे जेठ ने उसके पति के प्राण लिए थे। मदनरेखा गर्भवती थी, उसी समय जेठ उसके शील को नष्ट करने के लिए तैयार था। जेठ राजा था। सत्ता और ऐश्वर्य उसकी मुट्ठी मे थे। मदनरेखा के लिए कितना विकराल प्रसग था वह। फिर भी वह रोई नही। उसने अपने शील की रक्षा की। इसी कारण आज भी उसका गुणगान किया जाता है। तुम भी रोने का रिवाज और आर्तध्यान त्यागकर धर्मध्यान करो।

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील बनने से अपना भी कल्याण होता है और जगत् का भी कल्याण होता है।

अनाथी मुनि कहते है– मैने निश्चय कर लिया कि एक बार मै स्वस्थ हो जाऊ तो क्षमाशील बन जाऊगा।

जड सृष्टि पर भी सत्सकल्प का प्रभाव पडता है। शास्त्र मे कहा है–

सच्चं खलु भगव।

सत्य के प्रभाव से क्या नही हो सकता? सत्य से तो भगवान् भी बना जा सकता है। सत्य ही भगवान् है। सत्सकल्प के प्रताप से विष भी अमृत हो जाता है और अग्नि शीतल हो जाती है। सत्सकल्प के महान् प्रभाव को अनुभव करके मुनि कहते है। कि मैने ऐसा सकल्प किया कि एक बार मेरी वेदना शात हो जाय तो मै क्षमावान्, इन्द्रियो का दमन करने वाला और निरारभी बन जाऊगा।

मुनि कहते है– मैने ज्योही यह सकल्प किया, त्योही कौन जाने क्या अद्भुत परिवर्तन हो गया! बहुत दिनो से निद्रा आ गई। मेरी निद्रा से कुटुम्बी जनो को जो प्रसन्नता हुई होगी, उसके पीछे उनकी भावना और ही रही होगी। मेरे काम मे सहायता पहुचावे। माता सोचती होगी– 'मेरा बेटा निरोग हो जाय तो मेरा दु ख दूर हो जाय।' भाई विचारते होगे– 'मेरा भाई तन्दुरुस्त हो जाय तो हमे इसकी चिन्ता न करनी पडे।' इसी प्रकार भगिनी और भार्या भी कदाचित् अपने स्वार्थ की बात सोचती होगी। परन्तु मेरे मन मे कुछ और ही भावना थी। मै यही सोच रहा था कि अपने उपार्जित कर्मो को मै आप ही दूर करूगा।

जीव किसके किये कर्मो को या दु ख को भोगता है? शास्त्र मे इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। भगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है– भगवन्! जीव स्वयकृत कर्म भोगता है या परकृत कर्म भोगता है?

उत्तर मे भगवान् ने कहा— गौतम! जीव अपना किया दु ख ही भोगता है, दूसरो का किया दु ख नही भोगता।

इस कथन से स्पष्ट है कि ससार के सभी सुख–दु ख अपने ही किये हैं। हम कर्म को दोष देते हैं, परन्तु कर्म क्या करे? कर्मों को तो मैंने ही पकड रखा है। तभी वे रुके हैं, अन्यथा वे रुक ही कैसे सकते थे? अगर मैं चाहू तो थोडी ही देर मे कर्मों को भाग जाना पडेगा।

मुनि कहते हैं— जब मुझे यह भान हुआ कि दु खो का जनक मैं स्वय ही हू, तब मैंने उन्हे नष्ट कर डालने का सकल्प कर लिया।

मुनि को यह ज्ञान स्वय उत्पन्न हो गया अथवा किसी महात्मा के उपदेश से हुआ? इस विषय मे शास्त्र मे कोई उल्लेख नही है, अतएव निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता है। ज्ञान दो प्रकार से होता है— एक तो अपने विचार से या किसी घटना को देखने, से और दूसरे किसी का उपदेश सुनने से। अनाथी मुनि को इन दो तरीको मे से किस तरीके से ज्ञान हुआ था, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तुम्हे स्वय ज्ञान न हो तो यह उपदेश तुम्हारे सामने है। इस उपदेश को सुन कर अपने दु ख को दूर करने का सकल्प करो।

अनाथ मुनि ने जैसे ही सुदृढ सकल्प किया कि गहरी निद्रा वे गई। वह सो गये। वे सो क्या रहे थे, मानो सदा के लिए दु खो को दूर कर रहे थे। मुनि कहते हैं— मेरे दु खो की वह अन्तिम रात्रि थी।

अगर तुम्हारे सकल्प मे सच्चाई और दृढता है तो तुम्हे दु ख हो ही नही सकता। सुदृढ सत्सकल्प से ही दु खो से छुटकारा पाया जा सकता है। ढीले सकल्प से कुछ बनता नही।

आप कह सकते है— सकल्प मात्र से दु ख दूर हो जाना कैसे सम्भव हो सकता है? किन्तु मानसशास्त्री के सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नही होगा। जो मानसशास्त्र से अनभिज्ञ है, उन्ही को ऐसा सन्देह होता है। ऐसे लोगो से कहना है कि क्या केवल अपने सकल्प के कारण ससार मे दु ख की उत्पत्ति नही देखी जाती? डाकिन लग गई या भूत लग गया, यह अपने मन के सकल्प का फल है या और कुछ? डाकिन ओर भूत की बात सुन कर लोग भय का सकल्प करते हैं और भय के सकल्प के कारण ही वे दु खी होते हैं। कोई तुमसे कहे कि अमुक मकान मे भूत है तो उस मकान मे जाते तुम्हे भय लगेगा या नही? उस मकान मे प्रवेश करते ही तुम्हारे पैर कापने लगेगे। भूत के भय के कारण तुम्हारा सकल्प ही ऐसा बन जाता हे कि उसके कारण मकान मे पाव रखते ही तुम्हारे पाव कापने लगते हैं।

भय के कारण मेरे मन मे भी एक बार ऐसा सकल्प उत्पन्न हो गया था और उससे मुझे पाच महीने तक का कष्ट भोगना पडा था। मै दीक्षित हो चुका था। मगर दीक्षा लेने से पहले भूत–डाकिन सम्बन्धी जो बाते सुन रखी थी, उनके भय का सस्कार दूर नही हुआ था। इस सस्कार के कारण मैं यही समझता था कि अमुक मनुष्य मेरे ऊपर जादू कर रहा है। रात्रि के समय पहरा देने वाले मनुष्य आवाज करते थे तो उस आवाज को सुनकर मै सोचता था कि ये लोग मेरे ऊपर जादू कर रहे हैं। मैं इसके लिए ससार को दोषी समझता था, परन्तु वास्तव मे कौन दोषी था? मुझे जो भय लगता था, वह मेरे ही भ्रममय विचारो के कारण लगता था। अपने ही दूषित सकल्प की बदौलत मुझे दु ख हो रहा था। किन्तु जब मेरे अन्त करण मे से इस प्रकार के मिथ्या विचार निकल गये तो मेरा दु ख भी चला गया।

साराश यह कि सकल्प से दु ख उत्पन्न होता है, यह बात तो तुम भी अनुभव करते हो। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ही सकल्प से दु खो को उत्पन्न करता है। स्त्रियो मे तो भय का सकल्प करने की पद्धति विशेष रूप से देखी जाती है। कई स्त्रिया तो साधुओ से कहती है कि इसके ऊपर ओधा फेर दीजिए। इसके ऊपर यत्र–मत्र कर दीजिए। पर यदि साधु यत्र–मत्र करने लगे तो कितने लोग आने लगे? वास्तव मे गृहस्थ की इस पद्धति ने ही साधुओ को साधुत्व से नीचे गिराया है और उनके लिए दु ख उत्पन्न किया है। कई साधु भी तुम्हे प्रसन्न करने के लिए यत्र–मत्र के चक्कर मे पड गये है। परन्तु वास्तव मे साधुओ के पास परमात्मा के नाम के सिवाय और कुछ देने को नही होना चाहिए। किन्तु तुम सकल्प से पतित हो गये और साधु भी पतित हो रहे है।

तो इस प्रकार के सकल्प से दु ख की उत्पत्ति होती है, यह बात तो तुम्हारे अनुभव मे भी आती है और जब सकल्प से दु ख उत्पन्न होता है तो क्या सकल्प से दु ख का नाश नही हो सकता? और यदि सकल्प से दु ख उत्पन्न हो सकता है तो क्या सुख उत्पन्न नही हो सकता? वास्तव मे अपने सकल्प के कारण ही सुख–दु ख उत्पन्न होते हैं। आज के लोगो को सकल्प–शक्ति के विषय मे सन्देह रहता है, परन्तु सकल्प मे अनन्त बल सन्निहित है। सकल्प की महिमा बतलाते हुए उपनिषद मे भी कहा है –

सय सकल्प ब्रह्मेत्युपासते क्लृप्तान् वै सलोकान् ध्रुवान् ध्रुव ।

अर्थात्– आत्मा जब अपने सकल्प को ईश्वरीय स्वरूप प्रदान करता है और दृढतापूर्वक उसकी उपासना करता है तब उस सकल्प के आधार पर

ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं। देवगति, नरकगति, मनुष्यगति और तिर्यचगति सकल्प द्वारा ही प्राप्त होती है। मोक्ष भी अपने सकल्प से ही मिलता है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सकल्प से ही मनुष्यगति मिलती है तो फिर मनुष्यलोक की रचना किसने की है? मनुष्यलोक की रचना आत्मा ने अपने सकल्प से ही की है। ये मकान और ये नगर, जिनमे तुम निवास कर रहे हो, आत्मा के सकल्प से ही बने हैं।

इस प्रकार यह आत्मा अगर सकल्प करता ही रहता है, किन्तु यदि उसका सकल्प सत्सकल्प हो तो उसके द्वारा उसे ध्रुवत्व अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। सत्सकल्प ही ईश्वर है, यह मानकर सकल्प पर दृढ रहो और उस पर दृढ विश्वास रखो। भक्त तुकाराम कहते है –

निश्याचा वल तुका म्हणे तोच फल।

अर्थात् सकल्प मे बहुत बल है। अतएव तुम भी सत्सकल्प करो और उस पर दृढ आस्था रखो।

मुनि कहते हैं– राजन्! अनाथता को दूर करने के लिए आत्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता है और जब तक राग–द्वेष विद्यमान रहते हैं, तब तक आत्मतत्त्व नही जाना जा सकता। जब रागद्वेष का त्याग करके आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करोगे, तब उसको जानने मे विलम्ब नही लगेगा। राजन्! ज्यो ही मुझे ज्ञात हुआ कि इस दु ख का कारण स्वय मैं ही हू, तब मै। ने उसे दूर करने का सकल्प किया और सकल्प करते ही मुझे निद्रा आ गई।

कोई कह सकता है– मुनि ने सत्सकल्प किया और उनका रोग चला गया। इसमे बडी बात क्या है? रोग तो दवा–दारू और तत्र–मत्र से भी चला जाता है। भले आत्मभाव का दृढ सकल्प करने से भी रोग चला जा सकता है, इसमे आश्चर्य की क्या बात है? मूल बात तो रोग दूर करने की है। वह किसी भी उपाय से मिटे, मिटना चाहिए। दवा खाने–पीने मे तो पथ्य, परहेज पालना पडता है, परन्तु मत्र–तत्र मे तो पथ्य भी नही पालना पडता। ऐसी स्थिति मे यदि मत्र, तत्र मेस्मेरिज्म या हिपृटोनिज्म से भी रोग दूर हो तो भी क्या हर्ज हे? आज बात की वात मे मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म द्वारा रोग चला जाता है तो फिर उन्ही प्रयोगो द्वारा रोग–निवारण करके निरोग क्यो न बना जाय?

हमारे कथन का अभिप्राय यह नही है कि डाक्टर के उपचार से रोग मिटता ही नहीं है। डाक्टर अथवा मत्र–यत्र आदि द्वाा भी रोग मिट जाता

होगा, परन्तु इन उपायो का अवलम्बन करने से तुम सनाथ हुए हो या अनाथ? मुनि का उद्देश्य सिर्फ रोग मिटाना नही था, वह तो अनाथता को भी मिटाना चाहते थे। उन्होने दृढ सकल्प के प्रभाव से रोग ही नही मिटाया, अपनी अनाथता भी मिटाई। डाक्टर आदि की शरण लेने से रोग मिट सकता है, अनाथता नही मिट सकती।

सत्सकल्प से आत्मबल की वृद्धि होती है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह बतलाना है कि डाक्टर आदि की सहायता से, सातावेदनीय कर्म के उदय से रोग मिट सकता है, किन्तु आत्मा की अनाथता नही मिट सकती। इसी पकार मत्र–तत्र, मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म से कदाचित् रोग मिट सकता है, पर अनाथता नही मिटेगी। यही नही, बल्कि अनाथता बढेगी। स्वय तुम्हारे भीतर मेस्मेरज्मि और हिप्नोटिज्म से भी अधिक शक्ति विद्यमान है। तुम अनेक बार देवयोनि भोग चुके हो, फिर भी तुम्हारी आत्मा अनाथ ही बनी रही, सनाथ नही हुई। इसलिए मुनि कहते है कि सबके प्रयत्नो से मेरा रोग दूर नहीं हुआ, यह भी अच्छा ही हुआ। मेरा रोग मेरे ही सकल्प से मिटा और साथ ही मेरी अनाथता भी मिट गई।

आज के लोगो की श्रद्धा लगडी बन गई है। उसमे उत्साह या सत्सकल्प नही रहा है। लोग समझते हैं कि हम सत्सकल्प के चक्कर मे पड जायेगे तो हमारा काम ही अटक जाएगा। अतएव सत्सकल्प की बात केवल सुनने–भर के लिए है, अमल के लिए नही।

लोग इस प्रकार की बाते बनाकर निकल भागते है। पर इस प्रकार की निर्बलता धारण करने से किसी भी प्रकार की स्वतत्रता नही मिल सकती। सच्ची स्वतत्रता तो क्षमा, जितेन्द्रियता, निरारम्भता और प्रव्रज्या से ही प्राप्त हो सकती है। इसके सिवाय और सब बाते तो परतत्रता मे डालने वाली हैं। यह सही है कि आत्मा एकदम अपने–आप परतत्रता से मुक्त नही हो सकता, परन्तु परतत्रता से छूटने का प्रयत्न तो करना ही चाहिये। ससार मे अनाथी मुनि जैसे और राजा श्रेणिक जैसे– अर्थात् तत्काल आचरण करने वाले और तत्काल आचरण न करने वाले– दोनो प्रकार के पात्र रहेगे, फिर भी जो तत्काल आचरण नही कर सकता, उसे राजा श्रेणिक की तरह श्रद्धा तो रखनी ही चाहिये। आपमे बलवती श्रद्धा होनी चाहिये कि मै। अनाथ हू और मुझे अनाथता दूर करके सनाथ बनना है।

जो सकल्प प्रशस्त हो, जिसमे विकार न हो और जिसका प्रत्येक परिस्थिति मे पालन किया जाय, वह सत्सकल्प कहलाता है। अस्वस्थ

पहला सुख निरोगी काया,

इस कहावत के अनुसार रोगमुक्त होने से और शरीर स्वस्थ होने से अनाथ मुनि को बडा आनन्द हुआ होगा। कदाचित् इस प्रकार की बीमारी भोगने के पश्चात् आपको स्वास्थ्य लाभ हुआ हो तो आप यही सोचेगे कि अब मैं खूब खा–पी सकूगा, आमोद–प्रमोद कर सकूगा और गुलछर्रे उडा सकूगा। किन्तु अनाथ मुनि रोगमुक्त होने पर किस प्रकार का विचार करते हैं, उस पर ध्यान दो। वह सोचते हैं– मै अब रोगमुक्त हो गया हू, अतएव मुझे अपने सकल्प की पूर्ति करनी चाहिये। सकल्प मे असीम सामर्थ्य है। मेरे शरीर मे जो दारुण व्यथा उत्पन्न हुई थी, वह सकल्प के ही माहात्म्य से दूर हुई है। अतएव इस शुभ प्रभात मे मुझे अपने सकल्प को क्रियान्वित करना चाहिये।

अनाथ मुनि तो प्रभात होने पर सकल्प को पूरा करने का विचार करते हैं, परन्तु ससार विचित्र है। दूसरे लोग दूसरा ही विचार करते हैं। वैद्य, यात्रिक आदि कहने लगे कि आज का सूर्य कितना शुभ और मगलमय उगा है। हमारा बहुत कष्टसाध्य प्रयत्न सफल हुआ है। हमारे उपचार से आज रोगी सर्वथा मुक्त हो गया है।

माता–पिता, बन्धु–बान्धव प्रसन्न होकर कहते होगे– अहा आज का प्रभात कितना प्रशस्त है। हमारा पुत्र, हमारा भाई, हमारा पति निरोग हो गया। उसे शाति हुई और उसकी शाति को देखकर हम सबको भी शाति हो गई।

मुनि कहते हैं– राजन्! प्रात काल होते और सूर्योदय होते ही मैं निरोग होकर उठ बैठा। स्वस्थ होकर उठा देख मेरे माता–पिता, बन्धु आदि कुटुम्बीजन मेरे पास दौड आये और अपना हर्ष प्रकट करने लगे। सब कुटुम्बी अत्यन्त प्रसन्न थे। मैंने उनसे कहा– 'कल तक मै बीमार था, परन्तु आज मेरा रोग और दु ख किस प्रकार सहसा विलीन हो गया? मेरी बात सुनकर सब कहने लगे– अब उस दु ख को स्मरण ही मत करो। दु ख के वे दिन चले गये। अब आनन्द के दिल आये है, अतएव आनन्द करो।

राजन्! मैंने अपने कुटुम्बियो से कहा– आप सब लोगो ने मेरे लिए इतने अधिक कष्ट सहन किये हैं। मैं आप सबका आभार मानता हू। परन्तु मैं आपसे पूछता हू– क्या आप सबके इतने कष्ट सहन करने के कारण मेरा दु ख दूर हुआ है?

प्राचीन काल के लोग आज के लोगो की तरह कुटिल नही थे। वे सरल और सीधे–सादे थे। उन्होने उत्तर मे यही कहा– नही, हमारे प्रयत्न से दु ख दूर नही हुआ।

वैद्य और तान्त्रिक–मान्त्रिक कहने लगे– हमारे उपचार से ही आप रोगमुक्त हुए है, यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि दवा मे भी शक्ति है।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्! मैने उनसे कहा– यह आपकी नम्रता है कि आप लोग यह अभिमान नही करते कि हमारे प्रयत्न से तुम्हारा रोग दूर हो गया। यह आपकी महत्ता है। किन्तु वास्तव मे रोग किसी और कारण से नही गया है, एक महाशक्ति की आराधना से ही गया है।

यह मेरा कथन सुनकर सब के सब कह उठे– वह महाशक्ति क्या है? उस महाशक्ति के हमे दर्शन कराओ तो हम भी उसकी पूजा करे।

राजन्! मैंने उन लोगो के प्रश्न के उत्तर मे कहा– वह महाशक्ति कहीं अन्यत्र नही रहती, हृदय मे ही विराजमान् है। आह्वान करने से उस शक्ति का विकास होता है और प्रमाद का सेवन करने से उसका ह्रास होता है।

मेरी बात सुनकर लोग कहने लगे– यह ठीक है, परन्तु वह शक्ति क्या है? यह तो बतलाओ?

यह मै आप सबको बतलाऊगा, परन्तु पहले मै आपसे पूछता हू कि जिस महाशक्ति की कृपा से मेरा रोग दूर हुआ, उसकी मुझे आराधना करनी चाहिये या नही? अगर मैं उसकी आराधना करू तो आप मेरे कार्य मे बाधा तो नही डालेगे?

मेरे प्रश्न के उत्तर मे कुटुम्बीजनो ने कहा– अवश्य उस महाशक्ति की आराधना करनी चाहिये। हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते है कि आपकी आराधना मे हम विघ्नबाधा उपस्थित नही करेगे।

उनका यह आश्वासन सुनकर मैने उनसे कहा– मेरा रोग सत्सकल्प से दूर हुआ है। मैने सयम धारण करने का सकल्प किया है। मैंने निश्चय किया था कि रोग शात होने पर मै क्षमावान्, जितेन्द्रिय, निरारम्भी और प्रव्रजित बनूगा। मेरे इस सकल्प बल से ही मेरा रोग नष्ट हुआ है। अतएव अब सकल्प के अनुसार कार्य करना चाहिये और ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करना चाहिये।

राजन्! मेरा यह कथन सुनकर, मेरे परिवार के सदस्यो को मेरे वियोग का दु ख होना स्वाभाविक था। विरह का दु ख सासारिक जनो को होता ही है। अतएव माता–पिता को भी दु ख होना स्वाभाविक था। मगर मेरे माता–पिता सीधे–सादे और सच्चे हृदय के थे, अतएव वे पवित्र कार्य मे बाधा नही डाल

सकते थे। सच्चे माता–पिता अपनी सन्तति को सन्मार्ग मे जाने से नहीं रोकते।

गजसुकुमार जब दीक्षा लेने को तैयार हुए थे, तब उनकी माता देवकी को भी दु ख हुआ था। गजसुकुमार का लालन–पालन बडे ही लाड–प्यार से हुआ था, अतएव उनके विरह से माता–पिता को दु ख होना स्वाभाविक था। किन्तु जब गजसुकुमार ने माता से पूछा– माताजी, अगर कोई शत्रु आक्रमण कर बैठे तो उस समय तुम मुझे छिपाओगी या रणभूमि मे भेजोगी? तब महारानी देवकी ने उत्तर दिया था– पुत्र! ऐसे प्रसग पर तो मैं यही अभिलाषा रखूगी कि मेरा पुत्र गर्भ मे हो तो गर्भ से बाहर निकल कर लडे।

गजसुकुमार बोले– तो माता, जब मैं कर्म–शत्रुओ के साथ लडने जाता हू तो वीरमाता होकर क्यो मुझे रोकना चाहती हो? और क्यो दु खी हो रही हो?

इस प्रकार गजसुकुमार ने जब माता के सामने कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाले दु ख का वर्णन किया और कर्म–बन्धन से मुक्त होने का उपाय पूछा, तब माता ने यह कहा– हे पुत्र! कर्म को नष्ट करने का और कर्म पर विजय प्राप्त करने का मार्ग सयम ही है। आखिर माता देवकी तथा अन्य कुटुम्बीजन उन्हे भगवान् के समीप ले गये। भगवान् के चरणो मे समर्पित करके कहने लगे– भन्ते! मेरा यह पुत्र कर्मों को नष्ट करना चाहता है। यह ससार के दु खो से सत्रस्त है। इसे अपने चरण–शरण मे लेकर इसका उद्धार कीजिए।

राजन्! देवकी माता की तरह मेरी माता भी दुखित हुई, किन्तु जब मैंने उसे समझाया तब उसने भी सयम ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी।

कहा जा सकता है कि सयम धारण करना यदि श्रेष्ठ कार्य है तो फिर उसके लिए माता–पिता आदि की स्वीकृति लेने की क्या आवश्यकता है? किन्तु ज्ञानियो ने ऐसी मर्यादा बाधी है। इस मर्यादा के पीछे उनका क्या अभिप्राय है?, और इस मर्यादा का पालन करने से किस व्यवहार की रक्षा होती है, इत्यादि विवेचन करने का अभी समय नही हे। किसी दूसरे प्रसग पर उसका विवेचन किया जा सकेगा।

सकल्प का निर्वाह करना तो वीरो का ही कार्य है। कहने वालो की कमी नही है, किन्तु कहने के अनुसार कार्य कर दिखलाने वाले ही प्रशसा के पात्र होते हैं। सुभद्र ने धन्ना सेठ से कहा था– मेरा भाई (शालिभद्र) प्रतिदिन एक–एक पत्नी का परित्याग करता है। इसमे कायरता की क्या बात हे?

कहना आसान है, कर दिखलाना बहुत कठिन है। जो त्याग करता है उसी को पता चलता है।

सुभद्रा का उत्तर सुनकर धन्नाजी बोले– ठीक है, कुलीन स्त्री इसी प्रकार उपदेश दिया करती है। तुमने मुझे उपदेश दिया है, परन्तु कहना जितना कठिन है, कर दिखलाना उतना कठिन नही है। देखो, अब मै करके दिखलाता हू। इस प्रकार कह कर उन्होने उसी समय गृहत्याग करके सयम धारण किया।

आशय यह है कि जो कहने के अनुसार कर बतलाता है, वही वीर है। सकल्प का पालन करने के लिए वीरता की आवश्यकता है।

अनाथी मुनि निश्चय से तो सकल्प करते ही साधु हो गये थे, किन्तु जैसे हीरा और उसकी कान्ति– इन दोनो की आवश्यकता है, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार, दोनो की आवश्यकता है। हम लोग एकदम व्यवहार का त्याग करके निश्चय मे नही आ सकते। इसीलिए शास्त्र मे कहा है– 'हे राजन्! मैंने अपने बन्धु–बान्धवो से अनुमति लेकर सयम धारण किया।' अनाथी मुनि ने निश्चय से तो सयम धारण कर लिया था, फिर भी व्यवहार को प्रकट करने के लिए यह बात कही है। शास्त्र के सिद्धान्त मौलिक हैं और ये मौलिक सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार– दोनो का आश्रय लेकर ही हैं, यह बात सिद्ध करने के लिए मैं तैयार हू।

शास्त्र मे दोनो– निश्चय और व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। यही बतलाने के लिए यहा यह कहा गया है कि मैंने भाई–बदो से पूछ कर दीक्षा ली। निश्चय मे सयम की भी आवश्यकता है और व्यवहार से भी सयमी होने की आवश्यकता है। निश्चय मे व्रत होना चाहिये और व्यवहार मे सयमी का लिग भी होना चाहिए। यही जिनेन्द्रदेव का मार्ग है।

यो तो किसी–किसी को गृहस्थलिग मे ही केवलज्ञान हो जाता है और कोई–कोई अन्यलिग मे भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, फिर भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए लिग की आवश्यकता है। जैसे किसी–किसी जीव को उपदेश के बिना ही स्वाभाविक रूप से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है और किसी–किसी को उपदेश–श्रवणो से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने का राजमार्ग तो उपदेश ही है। इसी प्रकार निश्चय की आवश्यकता तो है ही, परन्तु एकान्त निश्चय का अवलम्बन करके व्यवहार का त्याग कर देना राजमार्ग नही है। राजमार्ग तो निश्चय के साथ व्यवहार रखना ही हे। मुनि निश्चय मे तो सकल्प द्वारा पूर्ण रूप से साधु हो गए थे। उनकी साधुता मे

कुछ कमी होती, अर्थात् उनका सकल्प अधूरा या डगमगाता हुआ होता तो ऐसी अवस्था मे कदाचित् रोग का समूल नाश ही न होता। किन्तु उन्होने दृढ सकल्प किया था, निश्चय से वे साधु बन गये थे, फिर भी व्यवहार की रक्षा करने के लिए उन्होने अपने भाइयो से पूछ कर दीक्षा ली। भाइयो की अनुमति लेने मे उनका आशय निश्चय के साथ व्यवहार की रक्षा करना था।

अनाथी मुनि ने जब अपने कुटुम्बीजनो से दीक्षा लेने के लिए पूछा होगा तब उनके कुटुम्बियो को कितना दु ख हुआ होगा! वे मन मे क्या सोचते होगे? वे सोचते होगे– 'इनका रोग चला गया है तो अब ससार के सुख भोगेगे, किन्तु ये तो स्वस्थ होते ही सयम लेने के लिए उद्यत हो गये!'

अनाथी मुनि सयम लेने के लिए तैयार हुए, फिर भी क्या कोई कुटुम्बी ऐसी भावना कर सकता है कि यह रोगी होकर पडे रहते तो ठीक था। नही, ऐसा कोई कुटुम्बी विचार नहीं कर सकता। उन्होने तो यही सोचा होगा कि जिनकी कृपा से रोग दूर हुआ है, उनकी शरण मे जाना उचित है। ऐसा सोचने पर कुटुम्बीजनो को विरह की वेदना होना स्वाभाविक है। इसी कारण माता–पिता की प्रकट भी हुई होगी।

अनाथी मुनि कहते है– जब मैंने सयम ग्रहण करने की अपनी मनो–भावना प्रकट की तो मेरे घर वालो को बहुत दु ख हुआ। सब एक–दूसरे की ओर देखने लगे और अपने–अपने नेत्रो से आसू टपकाने लगे। मै। उन्हे अत्यन्त प्रिय था, इसी कारण मेरी बात सुनकर उन्हे बहुत दु ख हुआ। मैंने उन्हे दु खी देखकर कहा– आप क्यो व्यर्थ दु खी हो रहे हैं? हर्ष के प्रसग पर विषाद की लहरे क्यो उठनी चाहिये? मै वेदना का अनुभव कर रहा था, वैद्य आदि की चिकित्सा कारगर नही हो रही थी। उसी वेदना मे मेरी मृत्यु हो जाती तो आपको धैर्य धारण करना पडता या नही? फिर जिस सयम की महाशक्ति से मैं स्वस्थ हू, उसकी शरण मे जाने के समय आप धैर्य रखकर, प्रसन्नता के साथ, स्वीकृति देने मे क्यो सकोच करते है? इस प्रकार बहुत समझाने–बुझाने पर उन्होने मुझे सयम ग्रहण करने की स्वीकृति दी।

कुटुम्बीजनो की स्वीकृति प्राप्त होने पर मैंने गृह त्याग कर साधु–धर्म अगीकार कर लिया।

तओऽह ताहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाण, तसाण थावरूण य ।।33।।

अर्थ– सयम ग्रहण करने के पश्चात् मैं अपना नाथ बन गया और साथ ही पर का भी नाथ बन गया। मैं समस्त त्रस और स्थावर भूतो का नाथ बन गया।

व्याख्या– राजन्! जब तक मैने सयम धारण नही किया था, मै अनाथ था, किन्तु सयम धारण करते ही मैं सनाथ हो गया। अब मै अपना भी नाथ हू और दूसरो का भी नाथ हू। मै प्राणी मात्र का नाथ बन गया हू। जगत् के दृश्य और अदृश्य– सब त्रस, स्थावर, जीवो का नाथ बन गया हू।

नाथ का अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है। इस अर्थ के अनुसार अगर अनाथी मुनि नाथ बन गये थे तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उन्होने अपने माता–पिता की रक्षा क्यो नही की? उन सबको विरह की वेदना व्याकुल बना रही थी तो फिर वह दूर क्यो नही की? उनकी पत्नी सनाथा रही या अनाथा? इस प्रकार यदि मुनि प्राणी मात्र के नाथ हुए थे तो उनके माता–पिता वगैरह अनाथ कैसे रह गये? ऐसी स्थिति मे किस प्रकार कहा जा सकता है कि मुनि सबके नाथ हो गये थे?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार मे नाथ उन्ही को कहा जाता है, जिन्हे सब प्रकार की सुख–सामग्री प्राप्त हो, भोग–विलास एव खाने–पीने के साधन उपलब्ध हो। जिन्हे साधन उपलब्ध नही होते, वे अनाथ कहलाते है। परन्तु सनाथ–अनाथ का यह अर्थ व्यावहारिक है। आध्यात्मिक अर्थ दूसरा है। सनाथ का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो अपनी आत्मा का नाथ बन जाता है, वही दूसरो का भी बन जाता है।

प्रत्येक कार्य तीन प्रकार से होता है। सर्वप्रथम विचार होता है, फिर वचनोच्चार होता है और अन्त मे आचार होता है। सबसे पहले अन्त करण मे प्रत्येक कार्य के लिए सकल्प होता है। सकल्प के पश्चात् उसके सम्बन्ध मे नि सकोच उच्चार– कथन किया जाता है और फिर कथन के अनुसार आचरण किया जाता है। इस तरह प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विचार से ही होती है, किन्तु कार्य की सिद्धि तो आचार से ही होती है।

अनाथ मुनि के कुटुम्बीजन दीक्षा लेने के लिए समर्थ हो सके हो या न हो सके हो, किन्तु उनके हृदय मे यह विचार अवश्य हुआ होगा कि जिसके सकल्प मात्र से रोग चला जाता है, वह सयम अवश्य ग्राह्य है। उन्होने यह भी सोचा होगा कि 'हमे इसके विरह का दु ख अवश्य है, पर हमे यह कह रहा है कि तुम अपनी आत्मा को सनाथ बनाओ।' क्या इस विचार से माता–पिता को प्रसन्नता नही हुई होगी?

इस दृष्टि से मुनि अपने माता–पिता के भी नाथ हुए या नही? वे मुनि तो सभी को सनाथ बनने की शिक्षा देकर सनाथ बनाते है। फिर भी अगर कोई मुनि की शिक्षा को शिरोधार्य न करे तो इसमे मुनि का क्या दोष है?

मान लीजिए, किसी ने एक पाठशाला की स्थापना की और यह घोषणा की कि पाठशाला मे प्रत्येक प्रकार की शिक्षा दी जाती है। जिसकी इच्छा हो, पाठशाला मे आकर शिक्षा ले सकता है। इस प्रकार का विज्ञापन करने पर भी अगर कोई उस पाठशाला मे प्रविष्ट नहीं होता है और शिक्षा नहीं लेता है तो पाठशाला खोलने वाले का क्या दोष है? इसी प्रकार मुनि अनाथता दूर करके सनाथ होकर सब को सनाथता प्रदान करते हैं– सनाथ होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं, फिर भी अगर कोई सनाथता ग्रहण नहीं करता, तो मुनि का क्या दोष है? मुनि तो सबके नाथ है और सबको सनाथ बनाने वाले हैं।

परम कठिन व्याल ग्रसत है, त्रसित मयो भय भारी।
चाहत अभय भेख शरणागति, खगपति नाथ।

एक मनुष्य को एक भयकर साप काटने दौडा। वह मनुष्य साप से अपनी रक्षा करने के लिए मेढक की शरण मे भागा गया। उसने यह भी विचार नही किया कि मेढक की शरण मे जाने से क्या बचाव हो सकेगा? मेढक तो खुद ही साप का आहार है। वह स्वय साप से डरता है तो दूसरे की साप से कैसे रक्षा कर सकेगा?

और गरुड उसे बुला रहा है। वह कहता है– साप से रक्षा करने वाला तो मैं हू। तू मेरी शरण मे आ जा। मेरी शरण में आने के पश्चात् साप तेरे पास भी नही फटक सकता।

गरुड के इस प्रकार कहने पर भी वह मनुष्य गरुड के पास तो जाता नहीं और मेढक की शरण मे जाता है, तो क्या उस मनुष्य की मूर्खता के कारण गरुड का महत्त्व घट जायेगा? और क्या मेढक का महत्त्व बढ जायेगा?

ससारी जीवो की भी यही हालत हे। लोग कहते है– ससार खराब हे, दु खमय है, हेय हे। मगर इस खराब ससार से बचने के लिए वे किसकी शरण लेते हैं? कोई स्त्री की शरण लेते हें, कोई पुत्र की शरण ग्रहण करते हैं। और किसी को धन की शरण मे ही कल्याण दिखाई देता है। मगर वे यह नही सोचते कि जब वही लोग ससार के भय से मुक्त नहीं हुए हें तो हमारी क्या रक्षा कर सकेगे? इसके विपरीत दूसरी ओर गरुड के समान परमात्मा अपने पास लोगो को बुला रहे हैं, परन्तु लोग उनकी शरण मे नही जाते।

हिरदे राखीजे हो भवियन, मगलिक शरणा चार,
अरिहन्त सिद्ध साधुतणा हो, भवियन केवली भाषित धर्म,
ये चारो जपता थका हो, भवियन टूटे आठो कर्म।।

अरिहन्त, सिद्ध साधु और केवलीप्ररूपित धर्म– ये चार ससार रूपी साप से बचने के लिए गरुड के समान है। ससार–सर्प से बचना हो तो इन चार की शरण रहो। तुम्हारी रक्षा अवश्य होगी। भय या लोभ मे पडकर इस शरण का त्याग न करो। जो पुरुष इन चारो शरणो को स्वीकार करता है, वह सकट के समय भी नही घबराता है। वह स्वय नाथ बन जाता है।

अनाथी मुनि ने राजा से कहा– पर–वस्तु पर अपना अधिकार जमाना अनाथता है और पर–वस्तु के स्वामित्व को त्याग कर आत्मस्वरूप को समझना ही सनाथता है।

कोई अनाथ नही बनना चाहता। सभी की इच्छा सनाथ बनने की ही होती है, किन्तु सनाथ बनने के लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिये।

अभिप्राय यह है कि तुम सनाथ बनना चाहते हो, परन्तु इस बात पर विचार करो कि सनाथ बनने का उपाय क्या है? जो पुरुष किसी भी पर–पदार्थ का गुलाम नही बनना चाहता अथवा उस पर अधिकार नही जमाना चाहता, वही सनाथ है। अगर आप सनाथता की इस व्याख्या को अपने हृदय मे स्थान दोगे तो आपका सासारिक जीवन व्यर्थ न जाकर सुखप्रद बन जायेगा।

राजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि को अपनी विशाल ऋद्धि बतला कर कहा था– मेरे पास इतनी बडी ऋद्धि है। मैं हाथी, घोडे तथा राज्य का स्वामी हू। फिर आप मुझे अनाथ क्यो कहते हैं? परन्तु मुनि ने अपनी अनाथता का परिचय देकर राजा से कहा– राजन्! तुम जिन वस्तुओ के कारण अपने–आप को सनाथ समझते हो, उन्ही के कारण वास्तव मे अनाथ हो। इस तथ्य पर भलीभाति विचार करो।

राजन्! तुम्हारे पास घोडे होने के कारण अपने को सनाथ समझते हो किन्तु वह तो तुम्हारी निर्बलता का सूचक है। जो स्वय निर्बल है, वही घोडो की सहायता लेता है। अतएव घोडो की बदौलत तुम सनाथ नही, बल्कि अनाथ बने हो।

और राजन्! तुम कहते हो कि मेरे पास घोडो के अतिरिक्त हाथी भी है। अतएव मै अनाथ नही हू। पर जरा विचार तो करो कि अगर घोडे अनाथता दूर नही कर सकते तो हाथी सनाथ कैसे बना सकते है? घोडो की अपेक्षा हाथियो ने तुम्हे अधिक अनाथ बनाया है। ऐसी स्थिति मे क्यो यह अभिमान करते हो कि हाथी–घोडे होने से मै सनाथ हूं?

ओर हे राजन्! तुम कहते हो कि मेरे अधिकार मे इतना वडा साम्राज्य हे, इतने वहुत गाव हैं, फिर में अनाथ कैसे रहा? परन्तु तुम जिस राज्य की वदोलत अपने को सनाथ समझते हो, वही राज्य तो तुम्हे अनाथ वनाने वाला हे। इस प्रकार तुम जिन पर–पदार्थों के कारण अपने को सनाथ मानकर फूलते हो, उन्ही के कारण वास्तव मे अनाथ वन रहे हो।

राजन्! विचार करो कि ससार के पदार्थ मनुष्य को वस्तुत अनाथ वनाते हैं या सनाथ? तुम कहते हो कि समग्र राज्य मे मेरी आज्ञा चलती है, फिर में नाथ क्यो नहीं हू? परन्तु में पूछता हू– तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर चलती हे या नहीं, यह तो देखो। अगर तुम्हारा शरीर ही तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता और तुम्हारी आज्ञा के विना ही तुम्हारे काले वाल सफेद हो गये हें, दात गिर गये हें, नेत्रो की ज्योति मद हो गई हे, और शरीर की शक्ति क्षीण हो गई अथवा हो सकती हे, तो केसे माना जाय कि तुम्हारी आज्ञा सर्वथा चलती हे? तुम यह अभिमान किस प्रकार कर सकते हो कि तुम्हारा राज्य तुम्हारी इच्छा पर चल रहा है। जो अपने शरीर को भी इच्छानुसार नहीं चला सकता, वह राज्य को कैसे इच्छानुसार चला सकेगा?

मित्रो! मुनि के इस कथन पर आप भी विचार करो। यह शरीर और ससार के पदार्थ अलग–अलग हैं ओर आत्मा उन सवसे अलग है। इस प्रकार तुम शरीर ओर आत्मा को भिन्न मानकर कार्य करोगे तो ससार के व्यवहार को न भी छोड सकोगे तो भी, तुम्हे वहुत आनन्द प्राप्त होगा।

अनाथी मुनि ने जव सम्पूर्ण हिसा का त्याग किया था, तभी वे प्राणी मात्र के नाथ वन सके थे। इस आधार पर प्रश्न उपस्थित होता हे कि अनाथ मुनि की तरह सम्पूर्ण का त्याग करने वाले तो सनाथ वन सकते हें, किन्तु जो ऐसा करने मे समर्थ नही हें, ऐसे श्रावको ओर सम्यग्दृष्टियो को क्या कहना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि श्रावक ओर सम्यग्दृष्टि– दोनो ही आत्मा ओर शरीर को भिन्न मानकर आत्मभाव मे रमण करते हें ओर सासारिक पदार्थों के कारण अपने को सनाथ नहीं मानते। अतएव वे भी अनाथता से मुक्त हें। राजा श्रेणिक साधु नही वन सके थे। सम्यग्दृष्टि ही रहे थे, फिर भी वे अनाथ नहीं रह गये थे। क्योकि उन्होने अनाथ मुनि का उपदेश सुनकर, सासारिक पदार्थों के कारण अपने–आप को सनाथ मानने का अभिमान त्याग दिया था। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सासारिक पदार्थों को अनाथता का कारण समझने के कारण अनाथता से मुक्त हो जाता हे। सम्यग्दृष्टि का लक्षण वतलाते हुए कहा गया हे –

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करे शिव–मारग मे,
जग माहि जिनेश्वर के लघु नन्दन।
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रकट्यो,
अवदात मिथ्यात्व–निकन्दन।
शान्त दशा जिनकी पहिचानी,
करे कर जोरि बनारसी वन्दन।।

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे–साचे बैन कहे साचे जैन यही है।
काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि नाही,
आतमगवेषी न गृहस्थ है न जती है
रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट मे प्रकट रूप,
अन्तर की लच्छी सौ अजाचि लखपती हैं।
दास भगवन्त के उदास रहे जगत् से,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है।।

सम्यग्दृष्टि की भावना यही रहती है कि मेरा लक्ष्य जन्म, जरा,मरण से अतीत होकर शाश्वत सिद्धि प्राप्त करना और आत्मस्वरूप को प्रकट करना है। जैसे पनिहारी हसती और बाते करती हुई, मस्तक पर घडा उठाकर चली जाती है, परन्तु उसका लक्ष्य घडे की ओर ही होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक सासारिक अनिवार्य कर्तव्यो का पालन करता हुआ भी ससार के प्रपचो से छुटकारा पाना ही अपना लक्ष्य मानता है। अतएव सम्यग्दृष्टि और श्रावक अनाथ नही, वरन् सनाथी है।

अनाथी मुनि ने श्रेणिक को सनाथ–अनाथ की जो व्याख्या समझाई, उसे समझकर राजा विचार करने लगा–

मैने इन महात्मा का नाथ बनने की बात कह कर गम्भीर भूल की है। वास्तव मे इन महात्मा का नाथ होने का विचार करना भी एक प्रकार की हिमाकत है। जब मै स्वय ही अनाथ हू तो इनका या दूसरो का नाथ कैसे बन सकता हू!

इस प्रकार आप भी स्वीकार करे कि पर–पदार्थो के कारण अनाथता आती है। जितना भी परावलम्बन है, सब अनाथता का हेतु है। ऐसा समझ

कर अनाथता को दूर करने का प्रयत्न करो। इसी प्रयत्न मे आपका कल्याण निहित है।

जो अपना नाथ बन जाता है, वही दूसरो का नाथ बन सकता है। परन्तु आज इसके विपरीत ही प्रवृत्ति देखी जाती है। लोग अपने नाथ तो बनते नही, दूसरो के नाथ बनने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु ज्ञानियो का कथन है कि पर–पदार्थों पर अवलम्बित होने के कारण तुम स्वय ही अनाथ बन रहे हो तो दूसरो के नाथ किस प्रकार बन सकते हो?

अनाथ मुनि ने मगध सम्राट से स्पष्ट कह दिया– राजन! तुम मेरे नाथ बनने को चले हो, मगर पहले अपने नाथ तो बन लो।

अनाथ मुनि की यह बात सभी को ध्यान मे रखनी चाहिए। जो एकदम अपने नाथ नही बन सकते, उन्हे भी कम से कम इतना तो स्वीकार करना चाहिए कि हम ससार की वस्तुओ की ममता मे फसे हुए हैं, अतएव अनाथ है।

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक को आपबीती सुनाकर बतलाया– मैं पहले अनाथ था और अब सनाथ हो गया हू। अब मैं अपने–आप को अपना भी नाथ मनाता हू और दूसरो का भी नाथ मानता हू। अब मैं समस्त त्रस और स्थावर जीवो का नाथ हू।

कहा जा सकता है कि कदाचित् त्रस जीवो का नाथ होना तो ठीक है, परन्तु स्थावर जीवो के नाथ किस प्रकार हो सकते हैं? जो किसी को अपना नाथ नही मानते, उनके नाथ मुनि कैसे हो गए?

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर जिसने अगार रख दिये थे, मुनि उस सोमल ब्राह्मण के नाथ थे अथवा नही? अगर आप इस सम्बन्ध मे गभीर विचार करे तो गजसुकुमार मुनि के चरित्र मे आपको अपूर्व और अद्भुत बात दृष्टिगोचर होने लगेगी।

गजसुकुमार मुनि की हत्या के समाचार सुनकर कृष्णजी क्रोध से सतप्त हो उठे। उन्होने अरिष्टनेमि भगवान् से पूछा– मेरे ही राज्य मे मेरे भाई की हत्या करने वाला कौन है?

कृष्ण को कुपित देखकर भगवान् ने अपने मुखसुधाकर से सुधास्राविणी वाणी मे कहा– वासुदेव! क्रोध न करो। उस मनुष्य ने गजसुकुमार का वध नही किया, उनकी सहायता की है।

क्या सोमल ने सहायता करने की इच्छा से गजसुकुमार के मस्तक पर अगार रखे थे? क्या सोमल मुनि का सहायक था? परन्तु जो महात्मा सबके

नाथ बन जाते हैं, वे किसी को अपना शत्रु नही समझते। वे सबको अपना सहायक समझते है। वही सबके नाथ है।

निर्ग्रन्थ–प्रवचन की यह एक बडी विशेषता है कि यह प्राणी मात्र को अपना मित्र ही मानने का उपदेश देता है। हम लोग तो छद्मस्थ है, हममे आज कुछ है तो कल कुछ है। तुम निर्ग्रन्थ–प्रवचन पर श्रद्धा रखो और यदि हम निर्ग्रन्थ–प्रवचन के अनुसार सयम का पालन करके तुम्हे निर्ग्रन्थ–प्रवचन सुनाए तो हमारी बात मानो, अन्यथा मत मानो। कोई बात निर्ग्रन्थ–प्रवचन के विरुद्ध हो और तुम हा–हा करो, यह बहुत बुरी बात है।

हा, तो भगवान अरिष्टनेमि ने कहा– उस पुरुष ने गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि उसने मुनि के मस्तक पर उनका अपमान करने के लिए ही अगार रखे थे, किन्तु जब आत्मा ससार के सब प्राणियो को आत्मवत् समझने लगता है, तब उसे शत्रु भी मित्र प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि मे कोई शत्रु ही नही रह जाता। इस अपेक्षा से वह सबका नाथ ही है।

ऊधमी बालक अपने पिता की दाढी भी खीच लेता है और उसे थप्पड भी जमा देता है फिर भी पिता उस बालक को नही मारता, वरन् प्रेम के साथ थप्पड खा लेता है तो क्या उस पिता को कायर कहा जा सकता है? और यदि पिता उस बालक को पीटे तो वीर कहा जायेगा? सच्चा बाप तो वही कहलाएगा जो अबोध बालक द्वारा दिये गये कष्ट को सहन कर ले, पर बदला लेने की भावना से बालक को न मारे। इसी प्रकार नाथ भी वही है जो दूसरो द्वारा दिए गए दु खो को शातिपूर्वक सहन कर लेता है, परन्तु स्वय किसी को लेश मात्र भी कष्ट नही देता।

साधुओ के सम्बन्ध मे भी इस बात को देखो कि उनमे यह गुण है या नहीं? उन्हे कोई कितना ही कष्ट क्यो न दे, फिर भी वे किसी को कष्ट नही पहुचाते। वे स्वय घोर से घोर कष्ट सह लेगे, पर किसी और को कष्ट न देगे। मुनि प्यास से पीडित और भूख से व्याकुल होने पर भी सचित्त पानी या सचित्त वनस्पति का उपयोग नही करेगे। इस प्रकार स्वय कष्ट सहन करके भी दूसरो को– त्रस या स्थावर जीवो को कष्ट न पहुचाने के कारण वे उनके नाथ कहलाते है।

साधु मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण किस उद्देश्य से रखते है? और भिक्षा के लिए घर–घर क्यो भटकते है? क्या–कोई–भक्त उनके निवास स्थान पर लाकर उन्हे भोजन नही दे सकता? कोई न कोई ऐसा भक्त भी मिल ही सकता है। मगर वे ऐसा भोजन नही लेते और घर–घर जाकर

भिक्षाचर्या करते हैं। जो दुत्कारते है, उनके घर भी भिक्षा के लिए जाते हैं। वे जाए क्यो नही, आखिर तो सबके नाथ ठहरे न! वे सब के नाथ हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा तो घर–घर भिक्षा मागते समय ही हो जाती है। कुछ लोग कहते है– बाह्य क्रिया मे क्या रखा है? किन्तु बाह्य क्रिया मे अगर कुछ नही रखा है तो उनमे भी क्या रखा है? स्वय से क्रिया न पल सकती हो तो अपनी निर्बलता स्वीकार करनी चाहिए, किन्तु निर्ग्रंथ–प्रवचन को तो दूषित नही करना चाहिए।

अनाथी मुनि ने अपनी अनाथता बतलाकर राजा को यह भी बतलाया कि वे किस प्रकार सनाथ बने? अब मुनि द्वारा दिए गए उपदेश पर विचार करना है, जो साधु और गृहस्थ सबके लिए समान रूप से उपयोगी है। सत्य तो यह है कि यही उपदेश इस कथा का मूल प्राण है। जहा मूल होता है, वही फल की आशा रखी जा सकती है। मूल के अभाव मे फल की आशा दुराशा मात्र है। अनाथ मुनि द्वारा प्रदत्त उपदेश ही इस कथा का, बल्कि कहना चाहिए द्वादशागी वाणी का मूल है। मुनिराज कहते है–

अप्पा नई वेयरणी अप्प मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दण वण।।36।।

अर्थ– मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है, मेरी आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है, मेरी आत्मा ही इच्छित वस्तु देने वाली कामधेनु है, और मेरी आत्मा ही नन्दनवन है।

व्याख्यान– शास्त्रकारो ने, पुण्य और पाप के फल के लिए, सुख और दु ख, ये दोनो पक्ष दिखाये है। यानी यह बताया है कि पुण्य से सुख प्राप्त होता है और पाप से दु ख। इस सुख–दु ख से, धर्म का फल भिन्न है, क्योकि धर्म का फल मोक्ष है। मोक्ष होने पर न तो कर्मजनित सुख ही है, न दु ख ही। यदि मोक्ष मे कर्मजनित सुख माना जावेगा तो फिर वहा दु ख का भी अस्तित्व मानना पडेगा। क्योकि जहा एक पक्ष होगा वहा दूसरा पक्ष भी होगा ही। लेकिन मोक्ष मे कर्मजनित दु ख का नाम भी नही हे इसलिए कर्मजनित सुख भी नहीं है। दु ख और सुख तो तभी तक हैं, जब तक मोक्ष प्राप्त नही हुआ है। इसलिए धर्म का फल मोक्ष सुख–दु ख रहित है।

शास्त्रकारो ने पाप का फल दु ख बताया है। दु ख मे भी वेतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष के दु ख विशेष हैं। शास्त्रकारो का कथन है कि नेरयिक को वैतरणी नदी द्वारा वडे–वडे कष्ट भोगने पडते हैं। वह उसमे डूबता तथा

उतराता है। उसके अन्दर रहने वाले अनेक जीव उसे काटते, खाते हैं। इस प्रकार वैतरणी नदी द्वारा नैरयिक को बहुत कष्ट भोगने पडते है।

नैरयिको को नरक मे कूटशाल्मली वृक्ष से भी बहुत दु ख होता है। कूटशाल्मली वृक्ष के पत्ते तलवार की धार के समान पैने होते है। वे पत्ते नैरयिको के शरीर पर गिरकर, उनके शरीर को क्षत–विक्षत करते रहते है, जिससे नैरयिको को अपार कष्ट होता है। शास्त्रकारो के कथनानुसार, नरक मे विशेषत इन्ही के द्वारा कष्ट होता है।

शास्त्रकारो ने पुण्य का फल सुख बताया है। पुण्य से प्राप्त होने वाला सुख, विशेषत इच्छित वस्तु देने वाली कामधेनु और नन्दनवन के द्वारा प्राप्त होता है। कामधेनु एक ऐसी गाय होती है कि उससे चाही गई समस्त वस्तुए प्राप्त होती हैं। उसका अग–प्रत्यग विशेषतायुक्त है। उसका दूध तो लाभप्रद है ही, लेकिन गोबर और मूत्र मे भी अन्धे की आखे खोल देने का गुण होता है। इसी प्रकार नन्दनवन एक ऐसा बाग है, जिससे स्वर्गीय देवो को बहुत आनन्द मिलता है। उस बाग मे पहुचने पर वे लोग चिन्ता–शोकरहित हो जाते हैं।

यहा मुनि सुख और दु ख दोनो पक्ष लेकर कह रहे हैं, अधिक से अधिक सुखदात्री कामधेनु गाय तथा सुखदाता नन्दनवन माना जाता है और अधिक से अधिक दु खदात्री वैतरणी नदी और दु खदाता कूटशाल्मली वृक्ष माना जाता है। लेकिन कामधेनु, नन्दनवन, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष कोई दूसरा नही है, किन्तु हमारी आत्मा ही है।

सनाथी मुनि, सुख और दु ख की अतिम सीमा को लेकर कह रहे है कि ससार मे सुख और दु ख का दाता दूसरे को माना जाता है। कोई कहता है कि मुझे धन सुख देता है। कोई कहता है, स्त्री सुख देती है, कोई कहता है कि पुत्र या मित्र सुख देता है। कोई कहता है हाथी, घोडे, राजपाट या कामधेनु सुख देते है। कोई कहता है कि सुख तो स्वर्ग मे ही मिल सकता है और प्रधानत नन्दनवन ही सुखप्रद है। इसी प्रकार कोई कहता है कि शरीर दु ख देता है। कोई कहता है कि शत्रु दु ख देता है। कोई कहता है कि दु ख नरक मे है और नरक मे भी विशेषत वैतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष दु ख–दाता है। इस प्रकार लोगो ने दूसरो को सुख या दु ख का देने वाला मान रखा है। कोई–कोई इससे आगे बढकर कहते है कि सुख–दु ख देने वाले कर्म हैं। शुभ कर्म सुख देते हैं और अशुभ कर्म दु ख देते है। शुभ कर्म सुखप्रद कामधेनु या नन्दनवन से भेट कराते है और अशुभ कर्म नरक से भेट कराते हैं जहा

दु ख देने वाली वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष हैं। कोई–कोई लोग सुख–दु ख का दाता, काल को बताते हैं, कोई स्वभाव को बताते हैं। और कोई ईश्वर को बताते हैं, लेकिन वास्तव मे सुख–दु ख देने वाला दूसरा कोई नहीं है, किन्तु हमारी आत्मा ही अपने–आप को सुख या दु ख को देने वाली है।

जो लोग, दूसरे को सुख–दु ख देने वाला मानते हैं, वे उसी प्रकार की भूल करते हैं, जैसी भूल कुत्ता करता है। कुत्ते को यदि कोई लकडी से मारता है तो वह उस लकडी से मारने वाले को तो नहीं पकडता और लकडी को पकडता है। वह समझता है कि मारने वाली यह लकडी ही है। यद्यपि वह लकडी तो निमित्त मात्र है, मारने वाला तो दूसरा ही है लेकिन कुत्ता अज्ञान के वश यह नहीं समझता है। इसी प्रकार सुख–दु ख का दाता दूसरे को मानने वाले लोग भी भूल करते हैं। दूसरा तो निमित्त मात्र है, सुख–दु ख का देने वाला दूसरा कदापि नहीं हो सकता। सुख–दु ख का दाता कौन है, इस बात को सिह की तरह देखने की आवश्यकता है। सिह पर जब कोई आदमी, गोली या तीर चलाता है, तब सिह उस गोली या तीर को नहीं पकडता, किन्तु गोली या तीर चलाने वाले पर झपटता है। वह समझता है कि यह गोली या तीर अपने–आप नहीं आया है, किन्तु दूसरे के चलाने से आया है। इसी प्रकार दु ख–सुख देने वाले– वेतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि किसी और को मत मानो, किन्तु यह देखो कि दु ख–सुख बनाये किसने हैं? इन्हे प्राप्त करने वाला कौन है? ये सुख–दु ख आते कहा से हैं। और किसके भेजे हुए आते हैं? इस बात का, शेर की तरह अनुसधान करने पर अन्त मे यही ठहरता है कि हमारा आत्मा ही वेतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु ओर नन्दनवन है। इसी प्रकार शत्रु, मित्र, अनुकूल, प्रतिकूल, स्वपक्षी आदि भी हमारे आत्मा से ही वनते हैं।

मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात गीता मे भी इस प्रकार से कही है–

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।।

–अध्याय छठा

अर्थात्– अपने आत्मा से ही अपने आत्मा का उद्धार करो गिरने मत दो। आत्मा का शत्रु या मित्र स्वय आत्मा ही है। दूसरा कोई उत्थान या पतन करने वाला नहीं है।

सनाथी मुनि कहते हैं–

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च दुपट्ठिय सुपट्ठियो।।39।।

अर्थ– सुख और दु ख का उत्पादक एव विनाशक (कर्ताहर्ता) आत्मा ही है। आत्मा ही मित्र, शत्रु दुष्पतिष्ठ (दु खपात्र) एव सुपतिष्ठ (सुख–पात्र) है।

व्याख्यान– मुनि कहते हैं कि छोटे से लेकर वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष तक के महान् दु ख आत्मा के ही पैदा किये हुए है और आत्मा ही इन्हे नष्ट कर भी सकता है। इसी प्रकार छोटे से लेकर कामधेनु एव नन्दनवन तक के महान् सुख भी आत्मा के ही पैदा किये हुए है और आत्मा इन सुखो को भी नष्ट कर सकता है। समस्त दु ख सुख का कर्ता आत्मा ही है, दूसरा कोई नही है।

भ्रमवश आत्मा अपने लिए दु ख–सुख का देने और करने वाला किसी दूसरे को ही मानता है। इस बात को तो भूल ही जाता है कि सुख–दु ख मेरे ही किये हुए है, इसी से मै इन्हे भोग भी रहा हू और यदि मै चाहू तो इनसे निकल भी सकता हू। इस बात को आत्मा किस प्रकार भूला हुआ है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक महल मे एक कुत्ता घुस गया। उस महल मे चारो ओर प्रतिबिम्ब–दर्शक काच लगे हुए थे। कुत्ते को उन चारो तरफ लगे हुए काचो मे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगा। अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कुत्ता समझने लगा कि ये दूसरे कुत्ते है। वह जिधर भी देखता है, उधर उसे अपने ही समान कुत्ता दिखाई पडता है। यद्यपि काच मे दिखाई देने वाला कुत्ता दूसरा नही है उसी कुत्ते का प्रतिबिम्ब है और काच मे दूसरे बहुत–से कुत्ते समझकर भौकता है। यह कुत्ता आप स्वय जिस प्रकार मुह बनाकर भौकता है उसी पकार काच–स्थित कुत्ते भी मुह बना कर भौक रहे हे यह देखकर तथा अपनी ही प्रतिध्वनि सुन कर कुत्ता हैरान होता हे और समझता है कि इन सब कुत्तो ने मुझे चारो ओर से घेर लिया है तथा मुझ पर हमला करन के लिए भौक रहे है। इस प्रकार वह अपने भम से ही आप दु खी हो रहा हे। दु ख देने वाला दूसरा कोई नही है।

ठीक इसी तरह आत्मा अपने–आप के पैदा किए हुए दु ख भोगता है कोई दूसरा दु ख नही दे रहा है फिर भी आत्मा यही समझता हे कि मुझे दूसरो ने दु ख दे रखा हे। यदि वह कुत्ता चाहे तो उस काच–जडित महल से बाहर निकल कर अपने–आप को सुखी बना सकता हे जो सदा उसी

के अधीन है, इसी तरह यदि आत्मा भी चाहे तो अपने–आप को दु खमुक्त और सुखी बना सकता है।

चाहे स्वर्ग का सुख हो या नरक का दु ख, उस सुख–दु ख का कर्ता आत्मा ही है। आत्मा ने ही स्वर्ग या नरक मे जाने योग्य कार्य किये हैं। किसी दूसरे के किए हुए कार्यों के कारण अपना आत्मा स्वर्ग या नरक को नहीं जा सकता। आत्मा को अपने कर्तव्य से ही स्वर्ग या नरक प्राप्त होता है। सुख–दु ख देने वाला दूसरे को मानने वाले लोग, उपादान और निमित्त को नही समझते, इसी से उन्हे यह भ्रम रहता है कि सुख–दु ख का देने वाला दूसरा है।

कारण के बिना कार्य नही होता। चाहे स्वर्ग के सुख हो या नरक के दु ख, प्राप्त होते हैं। कारण से ही। उन कारणो का उत्त्पादक स्वय आत्मा ही है। आत्मा ही स्वर्ग या नरक प्राप्त होने के कार्य करता है। बिना कर्म किए, स्वर्ग या नरक नही जाता, न सुख–दु ख ही पाता हे। नरक या स्वर्ग का आयुष्य बाधने मे, कर्म–वन्ध की प्रधानता है। कर्म–बन्ध अध्यवसाय से होता है और अध्यवसाय आत्मा के अधीन है, इसलिए आत्मा ही सुख–दु ख का कर्ता, भोक्ता एव हर्ता है।

कुछ लोग काल को नरक–स्वर्ग या सुख–दु ख का देने वाला कहते हैं। कुछ का कहना है कि स्वभाव से ही नरक या स्वर्ग प्राप्त होता है। कोई सुख–दु ख का देने वाला होनहार को मानते हैं। और कुछ लोग कहते हैं कि सब–कुछ ईश्वर के अधीन है, वह जैसा चाहता है, वैसा हो जाता है।

कालवादी कहते हैं कि कर्ता–हर्ता काल ही है। वे लोग अपने कथन की पुष्टि मे कहते हें, 'काल होने पर ही जवानी आती है और काल होने पर ही बुढापा आता है। काल होने पर ही स्त्रिया बालक प्रसव करती हैं और वृक्ष फूलते–फलते हैं। काल होने पर ही गर्मी–सर्दी ओर वर्षा भी होती हे। इस प्रकार प्रत्येक कार्य काल से ही होता है, बिना काल कुछ नही होता। इसी के अनुसार, काल होने पर नरक जाना पडता हे। काल होने पर सुख मिलता है और काल होने पर दु ख मिलता हे। तात्पर्य यह हे कि सव–कुछ काल ही करता है ओर काल ही सब–कुछ होता भी है।'

स्वभाववादी कहता हे, 'काल कर्ता नही हे किन्तु स्वभाव कर्ता हे। जो कुछ होता है स्वभाव से ही होता हे, काल आदि किसी के लिए कुछ भी नही होता। यदि काल ही कर्ता हे, काल से ही सब–कुछ होता है तो काल तो सव पर वर्तता है। फिर एक का काम होता हे और दूसरे का काम क्या नही होता?

काल होने पर भी एक स्त्री के तो बालक होता है और दूसरी स्त्री के क्यो नही होता? एक ही बाग के कुछ वृक्ष तो फलते है। और कुछ वृक्ष काल होने पर भी क्यो नही फलते? एक वृक्ष मे आम लगते है, दूसरे मे नीबू क्यो लगते हैं? सब मे आम क्यो नही लगते? काल तो सब पर समानता से बर्तता है, फिर इस पकार की विषमता क्यो? इन बातो पर दृष्टि देने से काल, कर्ता नही ठहरता किन्तु स्वभाव कर्त्ता ठहरता है। जो–कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव होने पर ही स्त्री के बालक होते हैं। और वृक्ष मे फल लगते हैं। इसी पकार जिस वृक्ष मे आम का फल लगने का स्वभाव होता है, उसमे आम का फल लगता है और जिसमे नीबू का फल लगने का स्वभाव होता है उसमे नीबू का फल लगता है। जिसमे नरक का स्वभाव होता है, वह नरक जाता है और जिसमे स्वर्ग का स्वभाव होता है, वह स्वर्ग जाता है। जिसमे सुख का स्वभाव होता है, वह सुख पाता है और जिसमे दु ख का स्वभाव होता है, वह दु ख पाता है। इस प्रकार, सब कुछ स्वभाव से ही होता है। स्वभाव ही पत्येक बात का कर्त्ता है, काल आदि कोई भी कर्त्ता नही है।'

होनहारवादी काल तथा स्वभाव आदि को न–कुछ बताकर कहता है जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। होनहार ही कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता नही है। स्वभाववादी ने कालवादी को झूठा ठहरा कर, स्वभाव को कर्ता बताया है, लेकिन स्वभाव भी कर्ता नही है, कर्ता तो होनहार ही है। यदि स्वभाव ही कर्ता हो, तो दो स्त्रियो मे से एक के तो पहले बालक हुआ और दूसरी के बहुत समय पश्चात् बालक क्यो हुआ? बालक उत्पन्न करने का स्वभाव तो इस दूसरी मे भी था, फिर इतने विलम्ब का क्या कारण? स्वभाव होने पर भी पहले बालक नही हुआ और फिर बालक हुआ, इससे सिद्ध है कि जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।

ईश्वर को कर्ता मानने वाले लोग कहते है जो– कुछ होता है तो वह सब ईश्वर के करने से ही होता है। काल, स्वभाव या होनहार कर्ता नही है किन्तु ईश्वर ही कर्ता है। प्रत्येक बात ईश्वर के करने से ही होती है। वह चाहता है तो स्वर्ग भेज देता है और वह चाहता है तो नरक भेज देता है। वह चाहता है तो दु ख देता है और वह चाहता है तो सुख देता है। वह चाहता है तो स्त्री बालक प्रसव करती है और वह नही चाहता है तो प्रसव नही करती है। इस प्रकार सब–कुछ ईश्वर के ही करने से होता है किसी और के किये कुछ भी नही होता।

इस प्रकार भिन्न–भिन्न मत के लोगो ने ससार को चक्कर मे डाल रखा है, लेकिन सनाथी मुनि कहते हैं कि आत्मा ही कर्ता–हर्ता है और भोक्ता है। दूसरा कोई न तो कर्ता है, न हर्ता है, न कराने वाला या भोगने वाला ही है।

यद्यपि जैनशास्त्र आत्मा को ही कर्ता बताते हैं, लेकिन ऊपर कहे हुए मतवादियो की युक्ति का युक्तियुक्त उत्तर दिए बिना साधारण लोगो की समझ मे यह बात नही आ सकती कि आत्मा कर्ता–हर्ता कैसे हैं? इसलिए युक्ति द्वारा मतवादियो की युक्तियो का खण्डन किया जाता हे।

सबसे पहले हम कालवादी से पूछते है कि काल जड है या चैतन्य? काल चैतन्य तो हो नही सकता क्योकि समय का नाम 'काल' है– इसलिए काल जड ही ठहरता है। काल जड है और आत्मा चैतन्य है। जड काल जब अपने–आप को ही नही समझता है, तब वह चैतन्य आत्मा के विषय मे कुछ करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है? चैतन्य आत्मा को जड काल के अधीन समझना, चैतन्य आत्मा के लिए जड काल को कर्ता मानना कोनसी बुद्धिमानी हे? जड काल के अधीन चेतन्य आत्मा को मानना चेतन्य को जड बनाना हे। इस कारण काल कदापित कर्ता नही माना जा सकता।

काल की ही तरह स्वभाव के लिए भी यही प्रश्न होता है कि 'स्वभाव' जड हे या चेतन्य? यदि कहे कि जड है तो फिर काल की ही तरह स्वभाव भी चेतन्य आत्मा का कर्ता केसे हो सकता है और चेतन्य आत्मा को जड स्वभाव के अधीन केसे माना जा सकता हे? यदि कहो कि स्वभाव चैतन्य है तो आत्मा से भिन्न हे या अभिन्न? यदि अभिन्न हे, तब तो फिर आत्मा ही कर्ता ठहरता है, स्वभाव कर्ता कहा रहा? स्वभाव, आत्मा के अधीन हे। आत्मा अपन स्वभाव को अपनी इच्छानुसार बना सकता हे। क्षमावान से क्रोधी, क्रोधी से क्षमावान्, चोर से साहूकार ओर साहूकार से चोर होते दखे जाते ह। इस प्रकार स्वभाव मे परिवर्तन होता हे, जो सर्वथा आत्मा के अधीन हे। इसलिए, स्वभाव कर्ता नहीं हो सकता। यह बात दूसरी हे कि आत्मा क अधीन रह कर स्वभाव कर्तृत्व मे भी भाग लेता हा, लेकिन इस कारण स्वभाव कर्ता नही कहा जा सकता। कर्ता तो वही कहा जावेगा जिसकी कर्तृत्व म प्रधानता हे।

रही होनहार की बात लकिन होनहार तो कुछ हे ही नही। होनहार को कर्ता मानना असत् को सत् मानना ह। हम हानहारवादी से पृछत ह कि एक रसोई दनाने वाला रसोई बनाने की सब सामग्री लकर बठा रहे रसोई न बनावे किन्तु यह मानता रहे या कहा करे कि 'रसोई बननी हागी ता बन

जावेगी।' तो क्या इस पकार बैठे रहने पर रसोई बन सकती है? यदि बिना बनाये रसोई नही बन सकती, तो फिर होनहार को कर्ता मानना तथा उसके भरोसे बैठे रहना कैसे उचित है? यदि होने वाले कार्य को ही होनहार कहा जावे, तो उस होने वाले कार्य का कर्त्ता तो आत्मा ही रहा न? जब आत्मा ही कर्ता है तब फिर होनहार को कर्ता कैसे माना जा सकता है?

अब ईश्वर को कर्ता मानने वाले लोगो से हम पूछते है कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा के अन्तर्गत ही है या आत्मा से भिन्न? यदि आत्मा के अन्तर्गत ही ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो चाहे ईश्वर को कर्ता कहो या आत्मा को कर्ता कहो, एक ही बात है। फिर तो कोई मतभेद ही नही है। लेकिन यदि यह कहो कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न, ईश्वर एक व्यक्ति–विशेष है और जो–कुछ करता है, वही करता है, आत्मा के किए कुछ नही होता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा एक मशीन है और ईश्वर उसका सचालक है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि आत्मा एक मिट्टी का ढेला और ईश्वर उस मिट्टी के ढेले के बर्तन बनाने वाला कुम्हार है। या यो कहा जा सकता है कि आत्मा बन्दर है और ईश्वर मदारी। ईश्वर–रूपी मदारी आत्मा–रूपी बन्दर को जैसा सिखलाता और नचाता है, उसे उसी प्रकार नाचना होता है। ईश्वर को इस पकार कर्ता मानने पर तो बडी गडबड होती है। ससार अनावस्था दोष से परिपूर्ण हो जाता है। फिर तो धर्म करने की भी आवश्यकता नही रहती, क्योकि चाहे धर्म करो या पाप होगा वही जो ईश्वर चाहेगा। धर्म करने से कोई लाभ न होगा। इसी प्रकार यह भी मानना होगा कि आत्मा यदि धर्म करता है तो ईश्वर की पेरणा से और पाप करता हे तो ईश्वर की पेरणा से। अच्छा–बुरा ईश्वर की प्रेरणा से करता है। सब ईश्वर ही करता है। लेकिन यदि ऐसा है तो यह प्रश्न होता है कि फिर आत्मा को नरकादि के कष्ट क्यो भोगने पडते है? आत्मा ने स्वय तो कुछ किया नही जो– कुछ किया वह ईश्वर के कराने से किया फिर बिना किये का फल आत्मा को क्यो भोगना पडे? ईश्वर के सम्मुख आत्मा तो एक मिटटी के ढेले के समान या एक मदारी के बन्दर के समान निरधिकारी ह। स्वय कुछ करने की शक्ति नही रखता है। फिर भी यदि ईश्वर उसे नरक भेजता हे तब तो ईश्वर अन्यायी टहरा। उसने स्वय ही आत्मा से बुरा काम कराया और फिर भी उसे नरक मे भेज दिया इससे अधिक अन्याय और क्या होगा? ऐसा अन्याय तो मनुष्य भी नही करता। मनुष्य भी अपने सेवक द्वारा कराये हुए अच्छे– बुरे कार्य के परिणाम को स्वय भोगता है नौकर पर नही डालता। ए-

व्यापारी का मुनीम यदि नुकसान का सौदा कर बैठता है तो उस नुकसान को भी व्यापारी ही उठाता है, मुनीम को नही उठाना पडता। फिर जो ईश्वर स्वय ही आत्मा से पाप करावे, वही उस आत्मा को नरक भेत दे, यह न्यायोचित कैसे है? उचित तो यह है कि ईश्वर प्रत्येक आत्मा को कुछ–न–कुछ इनाम ही दे, फिर चाहे आत्मा द्वारा बुरा ही काम सम्पादन क्यो न हुआ हो। क्योकि बुरा काम करके भी आत्मा ने ईश्वर की आज्ञा का पालन ही किया है और आज्ञा का पालन करने के कारण आत्मा तो पुरस्कार का ही अधिकारी है।

आत्मा से ईश्वर ही सब–कुछ कराता हो, आत्मा कुछ भी अधिकार न रखता हो, तब तो फिर ससार मे किसी प्रकार का सदुपदेश देने या धर्म का प्रचार करने आदि की भी आवश्यकता नही रहती, क्योकि आत्मा तो दूसरे के अधीन है, इसलिए उस पर उपदेश का कोई असर नही हो सकता और ईश्वर को उपदेश की आवश्यकता ही क्या है? यदि यह कहा जावे कि ईश्वर की प्रेरणा से ही एक आत्मा दूसरे आत्मा को उपदेश देता है तो यह बात ठीक नही जचती। क्योकि वही ईश्वर चोरी त्यागने का उपदेश दिलावे और वही ईश्वर चोरी करने की प्रेरणा करे, यह कैसे सम्भव है?

ईश्वर को कर्ता मानने पर इसी प्रकार के बहुत–से ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका समाधान होना कठिन है।

ईश्वर को कर्ता मानने वाले लोग ईश्वर–कर्तृत्व के विषय मे एक यह दलील देते हैं ईश्वर को कर्ता न मानने से ससार मे अन्याय फैल जायेगा। लोगो को पुण्य–पाप का फल देने वाला कोई न रहेगा। कोई भी अपराधी स्वय दड नही भुगतना चाहता। स्वय जेल जाना किसी को भी पसन्द नही है। स्वेच्छापूर्वक कोई भी दुख नही सहना चाहता सब सुख ही चाहते हैं। इसलिए, जिस प्रकार राजा के न होने पर अन्याय, अपराध बढ जावेगे, अपराधियो को दण्ड ओर अच्छे काम करने वालो को पुरस्कार देने वाला कोई न रहेगा, जिससे व्यवस्था मे गडबड होगी ओर अशान्ति बढ जावेगी। इसी प्रकार यदि ईश्वर न हो तो पाप–पुण्य का फल कोन दे? ईश्वर कर्ता हे तभी तो पापियो को दण्ड और पुण्यात्माओ को सुख मिलता है। यदि ईश्वर कर्ता न हो तो यह व्यवस्था न रहे।'

इस प्रकार राजा का उदाहरण देकर ईश्वर–कर्तृत्व सिद्ध करते हैं, लेकिन इस दलील पर भी कई प्रश्न होते हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यही होता ह कि जब ईश्वर ही आत्मा से पुण्य–पाप कराता है, तब उसका फल आत्मा क्यो भोगे? दूसरा प्रश्न यह होता हे कि बहुत स्थाना पर राजा नही होता है,

बिना राजा के ही काम चलता है तो क्या इसी प्रकार कही–कही बिना ईश्वर के भी काम चलता है? तीसरा प्रश्न यह है कि कही–कही राजा का अस्तित्व ही उठ गया है और सम्भव है कि सभी जगह से उठ जावे तो क्या ऐसा ईश्वर के लिए भी हो सकता है? चौथा प्रश्न यह है कि राजा का परिवर्तन भी होता रहता है और उसके नियम भी बदलते रहते है, तो क्या ऐसे ही ईश्वर और उनके नियम परिवर्तनशील हैं? सबसे बडा पश्न यह होता है कि एक आदमी चोरी कर रहा है। यह चोरी का पाप वह आदमी पूर्व–पाप के दण्डस्वरूप कर रहा है या नया पाप कर रहा है? यदि यह कहो कि पूर्व–पाप के दण्डस्वरूप कर रहा है, तब तो यह अर्थ हुआ कि ईश्वर पाप का दण्ड देने के लिए पाप कराता है। फिर तो किसी की 'चोरी मत करो' उपदेश ईश्वरीय व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना– अपराध होगा! यदि यह कहा जावे कि वह चोरी करने वाला नया पाप कर रहा है तो ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है या स्वेच्छा से? यदि ईश्वर की पेरणा से कर रहा है, तब तो यह हुआ कि ईश्वर पाप कराता है और स्वय पाप करा कर भी पाप का दण्ड देता है। यदि यह कहा जावे कि पाप करने के लिए आत्मा स्वतत्र है, इसीलिए वह स्वेच्छा से पाप कर रहा है, तब भी यह प्रश्न होता है कि पाप हो जाने पर उसका दण्ड देने के बदले ईश्वर पाप करने वालो को पाप करने के समय ही क्यो नही रोक देता? पाप करने देकर फिर दण्ड देने से ईश्वर को क्या लाभ है? वह दयालु कहलाता है फिर किसी को दुख मे पडने या किसी के पास दुख रहने ही क्यो देता है?

ईश्वर को कर्ता सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली समस्त दलीले इसी प्रकार लचर ठहरती है। हा, ईश्वर को निमित्त रूपकर्ता तो जैनशास्त्र भी मानते है, लेकिन ईश्वर को उपादान कर्ता मानने एव आत्मा को जो प्रत्यक्ष ही कर्ता भोक्ता है, अकर्ता मानने का कोई कारण नही है। यदि आत्मा को ही शुद्ध प्ररूपणा के अनुसार ईश्वर माना जावे, तब तो ईश्वर को कर्ता मानने मे कोई आपत्ति नही है, लेकिन ईश्वर को व्यक्ति–विशेष और आत्मा से भिन्न मानकर कर्ता मानना ठीक नही है। गीता मे भी कहा है–

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।।

—अध्याय 5दा

अर्थात् ईश्वर न तो ससार के कर्तृत्व मे है, न कर्मों की सृष्टि करने मे ही है।

इस प्रकार गीता के अनुसार भी ईश्वर कर्ता नही है।

कर्म करने मे आत्मा स्वतत्र है लेकिन कर्मबन्ध हो जाने पर आत्मा कर्म के अधीन हो जाता है। फिर आत्मा को कर्मों का अच्छा–बुरा फल विपाक या प्रदेश से भोगना ही पडता है। कर्म का फल भुगताने वाला कोई दूसरा नही है, किन्तु कर्म स्वय ही अपना फल उसी प्रकार भुगताते है, जिस प्रकार मिश्री और मिर्ची अपना मीठापन और कडुआपन देती है। मिश्री को मुह मे रखने पर मीठापन और मिर्च को मुह मे रखने पर कडुआपन आप ही मालूम होता है। इस मीठेपन या कडुएपन के देने मे किसी और की सहायता, प्रेरणा या शक्ति नही होती। यदि किसी दूसरे की प्रेरणा या शक्ति से मिर्च और मिश्री, कडुआपन या मीठापन दे, तो इसका अर्थ यह होगा कि मिर्च और मिश्री, मे स्वभावत कडुआपन या मीठापन नही है। लेकिन वास्तव मे मिर्च और मिश्री किसी की प्रेरणा से कडुआपन या मीठापन नही देती है, किन्तु उनमे, मुह मे रखने पर कडुआपन और मीठापन देने का स्वभाव ही है। ठीक इसी प्रकार कर्म मे फल भुगताने की शक्ति स्वभावत है। शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल, कर्म अपने स्वभाव से ही भुगताते हैं। इसमे किसी तीसरे की आवश्यकता नही है। यदि कर्म का फल कोई तीसरा भुगताता हो तो इसका अर्थ यह होगा कि कर्म अपना फल भुगताने की शक्ति नही रखते। लेकिन यह बात नही है। मिर्च और मिश्री की तरह कर्म मे भी अच्छा–बुरा फल भुगताने की शक्ति है, इसलिए कर्मफल भुगताने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नही होती।

रही यह बात कि फिर आत्मा स्वर्ग या मोक्ष क्यो नही चला जाता? इसका उत्तर यह हे कि जैनशास्त्र स्वर्ग को भी कर्मफल भोगने का वैसा ही एक स्थान मानते हे जेसा कि नरक को। हा, यह अन्तर अवश्य मानते है कि स्वर्ग मे शुभ कर्मों का फल भुगता जाता है ओर नरक मे अशुभ कर्मों का फल भुगता जाता हे। शुभ कर्म भोगने के लिए आत्मा को स्वर्ग जाना पडता हे इसलिए यदि आत्मा स्वर्ग चला भी गया तब भी कोई विशेषता की बात नही हुई। अब केवल मोक्ष जाने की बात रही, लेकिन जब तक आत्मा के साथ कर्म हे, आत्मा मोक्ष जा ही केसे सकता हे ओर कर्मरहित होने पर आत्मा को मोक्ष से रोक ही कोन सकता हे? कर्मरहित आत्मा का नाम ही मुक्तात्मा हे। आत्मा के साथ कर्म न होने को ही मोक्ष कहते हे। यदि आत्मा अपने कर्मों को नष्ट कर दे, तो वह मुक्त ही हे।

साराश यह कि काल स्वभाव, होनहार या ईश्वर को कर्ता मानना भयकर भूल हे। इस भूल से आत्मा अनाथता मे पडता हे। कर्ता कोई दूसरा

नही है, किन्तु आत्मा ही है। इसी पकार फल देने वाला भी कोई दूसरा नही है, किन्तु कर्म अपना फल आप ही भुगता देते है। इसलिए आत्मा ही कर्ता–हर्ता और भोक्ता है।

कुछ लोग कहते है कि जो कुछ होता है, कर्म से होता है। इस प्रकार वे सब भलाई–बुराई कर्म पर ही डाल देते है, लेकिन यह नही विचारते कि ये कर्म किये हुए किसके है? कर्म का करने वाला कर्ता कौन है? कर्म आत्मा के किये बिना आप ही आप नही आये हैं। आत्मा के करने से ही आये हैं। जब आत्मा के करने से ही कर्म आए है और अपना अच्छा–बुरा फल देते है, तब कर्म के कर्ता आत्मा को छोड कर कर्म को दोष देने से क्या लाभ? यह तो वही कुत्ते की–सी बात हुई जो लकडी मारने वाले को न पकड कर लकडी को पकडता है। कर्म तो आत्मा के किए हुए है। और आत्मा उन्हे नष्ट करने की शक्ति भी रखता है। उन बेचारो की क्या शक्ति है, जो आत्मा के किए बिना ही आत्मा को अच्छा बुरा फल भुगतावे। कोई आदमी अपने मुह मे मिर्च रख ले और जब मुह जलने लगे तब मिर्च को दोष दे तो ऐसे आदमी का मिर्च को दोष देना मूर्खता के सिवा और क्या कहा जावे? मिर्च की ही तरह कर्मो का तो शुभाशुभ फल देना स्वभाव ही है। यदि आत्मा कर्म मे लिप्त न हो तो वे कर्म शुभाशुभ फल दे ही कैसे सकते है? इस प्रकार बेचारे कर्म निर्दोष हैं।

तात्पर्य यह कि वैतरणी नदी एव कूटशल्मली वृक्ष ऐसा दु ख देने वाला तथा कामधेनु और नन्दनवन ऐसा सुख देने वाला आत्मा ही है। यही बात अनाथता और सनाथता के लिए भी है। आत्मा अनाथ भी अपने–आप ही होता है और सनाथ भी अपने–आप ही होता है। कोई दूसरा न तो रुष्ट होकर अनाथ बना सकता है न तुष्ट होकर सनाथ बना सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि आत्मा वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष कामधेनु या नन्दनवन बनता कैसे है? अर्थात् कैसे कार्यो के करने से वैतरणी कूटशाल्मली वृक्ष बनता है और कैसे कार्यो से कामधेनु एव नन्दनवन बनता है? सनाथी मुनि के शब्दो मे इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सासारिक गडबड मे फस कर पाप एव निषिद्ध कार्य करना यह तो अपने आत्मा को वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष बनाना है तथा सासारिक झझटो से निकल कर आत्मा को मोक्ष की ओर बढाना, सयम धारण करना यह अपने आत्मा को कामधेनु एव नन्दनवन बनाना है। सनाथी मुनि कहते है कि पहले मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष बना हुआ था। इसी से स्वय भी कष्ट भोग रहा था और दूसरो को भी कष्ट पहुचा रहा था लेकिन अब वही मेरा

आत्मा कामधेनु और नन्दनवन बन गया है। इससे आप भी आनन्द मे हैं तथा दूसरो को भी आनन्द पहुचाता है।

राजा, जब मै रोग–ग्रस्त था, तब कहता था कि मेरी आखे, मेरा सिर और मेरा शरीर दु ख दे रहा है। यदि यह दु ख न दे तो मुझे शाति हो जावे। उधर वैद्य कहते थे कि वात–पित्त आदि मे विषमता आ गई है, इससे दु ख हो रहा है। यदि वात–पित्त आदि सम हो जावे तो दु ख मिट जावे। उनकी समझ से दवा वात–पित्त को सम कर सकती थी, इसलिए दवा ही शाति देने वाली थी। इस प्रकार मैं कुछ समझ रहा था और वैद्य कुछ कह रहे थे। अपनी समझ के अनुसार उन्होने मेरा उपचार भी किया, लेकिन मुझे शाति न हुई। वैद्य लोग पीडा का अवास्तविक निदान करते थे, वास्तविक निदान नही करते थे। यानी यह नही बतलाते थे कि वास्वत मे यह पीडा आई कहा से? उनकी दृष्टि अपने व्यवसाय तक ही सीमित थी, इसलिए वे इन रोगो के होने का यह कारण न बता सके कि ये रोग आत्मा की अनाथता से ही उत्पन्न हुए हैं। अन्त मे उपचार की ओर से उत्पन्न निराशा एव अविश्वास ने मेरे ही हृदय मे यह विचार पैदा किया कि ये सब रोग मेरे आत्मा से ही निकले हैं और उसकी अनाथता से उत्पन्न हुए हैं।

सनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से यह कहा है कि हमारी आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन है। इस कथन पर से किसी के हृदय मे यह प्रश्न हो सकता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष नन्दनवन और कामधेनू का अस्तित्व है भी या केवल कल्पना ही कल्पना है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्रकारो को किस प्रकार का भय दिखाना या प्रलोभन देना अभीष्ट नही था, जो वे झूठी कल्पना करते। झूठी कल्पना तो तब की जाती है जब कोई स्वार्थी हो। शास्त्रकारो ने वेतरणी नदी एव नन्दनवन आदि बताकर यह नही कहा हे कि हमे कुछ प्राप्त होगा। यदि उन्होने ऐसी कोई योजना रखी होती तव तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था, लेकिन उन्होने ऐसी कोई योजना नही रखी हे– ऐसा कोई परताव नही किया है– इसलिए यह सन्देह नही किया जा सकता कि शास्त्रकारो ने वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रकारो ने वेतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा हे कि तुम्हारा आत्मा ही वेतरणी नदी कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन ओर कामधेनु हे। तुम्हारा आत्मा ही दु ख एव सुख का कर्ता है। इस प्रकार वेतरणी नदी नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा

मे ही सिद्ध किया है और कहा है कि तुम अपने आत्मा को इनमे से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यह होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन हमारे आत्मा से दूर है और हमारा आत्मा इनसे दूर है। ऐसी दशा मे आत्मा से इन सबका सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग–नरक, सुख–दु ख, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका विधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इसलिए वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि दूर होने पर भी समीप किस प्रकार आ जाते है और आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुच जाता है, यह बात निम्न दृष्टान्त से समझ मे आ जावेगी–

एक आदमी बीमार है। निरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार एक आदमी स्वस्थ है और रोग उससे दूर है। लेकिन रोगी आदमी ने पथ्य और स्वस्थ आदमी ने कुपथ्य का सेवन किया। इससे रोगी आदमी स्वस्थ बन गया और स्वस्थ आदमी रोगी बन गया। यानी बीमार आदमी से निरोगता दूर थी फिर भी उसके पास आ गई और वह बीमार निरोगता के पास हो गया तथा स्वस्थ आदमी से रोग दूर थे, फिर भी रोग समीप आ गये और वह रोगो के समीप हो गया।

ठीक इसी प्रकार वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु एव नन्दनवन से आत्मा और आत्मा से ये सब दूर है, फिर भी अच्छे या बुरे, पाप या पुण्य कार्य से ये सब आत्मा के और आत्मा इनके समीप हो जाता है।

सनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा कि आत्मा ही सुख दु ख का निर्माता एव भोक्ता है और आत्मा ही अच्छा करने वाला मित्र तथा बुरा करने वाला शत्रु है। सनाथी मुनि के इस कथन के प्रथामाश का विवेचन तो हो चुका है। अब यह देखना है कि आत्मा अच्छा करने वाला मित्र एव बुरा करने वाला शत्रु कैसे बनता है।

सबसे पहले यह देखने की आवश्यकता है कि मित्र तथा शत्रु कहते किसे है? वैसे तो ससार मे खाने–पीने वाले बहुत–से मित्र बन जाते हैं लेकिन वे वास्तव मे मित्र है या शत्रु यह परीक्षा समय–विशेष पर ही होती है। तुलसीदास ने कहा है–

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्त काल परखिये चारी।।

अर्थात् धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री की परीक्षा आपत्तिकाल मे करो।

मित्र की परीक्षा आपत्ति के समय मे ही होती है। दु ख मे जो सहायता करे वही मित्र है। सकट के समय सहायता न करे, वह मित्र नही हैं किन्तु मित्र के रूप मे छिपा हुआ शत्रु है। श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियो से कहा था कि प्रिये, तुम प्रेम दिखाती हो, मित्रता बताती हो लेकिन मित्र वही है जो सकट के समय काम आवे। केवल सुख के समय मित्रता का प्रदर्शन करने वाला ही मित्र नही है। इसके लिए मै एक दृष्टान्त देता हू।

एक राजा का प्रधान था। प्रधान ने विचारा कि अपने समय–असमय के लिए किसी को मित्र भी बना रखे। यह विचार कर उसने अपना एक नित्य–मित्र बनाया। प्रधान नित्य–मित्र की बहुत खातिर करता। उसे अपनी ही तरह खिलाता–पिलाता और पहनाता–ओढाता। नित्य–मित्र से वह किसी भी प्रकार का भेद–दुराव न रखता। नित्य–मित्र प्रधान के और प्रधान नित्य–मित्र के साथ ही रहते। प्रधान ने एक दूसरा पर्व–मित्र भी बनाया। वह पर्व–मित्र को आठवे, पन्द्रहवे दिन अपने यहा बुलाकर उसकी खातिर करता, खिलाता–पिलाता और पहनाता–ओढाता। इन दोनो मित्रो का प्रधान को बहुत भरोसा था। प्रधान समझता था कि ये मित्र कष्ट के समय मे मेरी सब प्रकार की सहायता करेगे। दोनो मित्रो के प्रकट व्यवहार से भी ऐसा ही प्रतीत होता था।

इन दो मित्रो के सिवा प्रधान ने एक सेठ को भी मित्र बना रखा था। प्रधान का सेठ से कोई विशेष व्यवहार न था, केवल सैन–जुहार का ही सम्बन्ध था। प्रधान और सेठ कभी इधर–उधर मिल जाते तो परस्पर जुहार कर लेते और इशारे से एक–दूसरे की कुशल पूछ लेते। इन दोनो मे इतनी ही मित्रता थी।

कुछ दिनो तक मित्रो के साथ प्रधान का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहा। प्रधान के साथ नित्य–मित्र तो सदा और पर्व–मित्र यदा–कदा आनन्द उडाते रहते। इनकी परीक्षा का कोई समय न आया। एक वार राजा की प्रधान पर कोप–दृष्टि हो गई। राजा ने आज्ञा दी कि प्रधान को पकड कर कारागार मे डाल दो। राजा की आज्ञा का समाचार सुनकर प्रधान भयभीत हुआ। उसने विचारा कि जो होना होगा सो तो होगा ही, लेकिन यदि इस समय में क्रुद्ध राजा के हाथ पड गया तो मेरी वडी दुर्दशा होगी। इसलिए इस समय राजा के हाथ न पडना ही अच्छा हे।

इस प्रकार विचार कर प्रधान घर छोडकर भाग निकला। उसे सबसे अधिक अपने नित्य–मित्र का विश्वास था, इसलिए वह अपने नित्य–मित्र के पास गया। प्रधान ने नित्य–मित्र से राजा के कोप का वत्तान्त कह कर कहा कि मेरे घर पर राजा ने पहरा लगा दिया है, मै जैसे–तैसे निकल भागा हू। इस समय यदि मै पकडा जाऊगा तो मेरी बडी दुर्दशा होगी, इज्जत मिट्टी मे मिल जावेगी। इसलिए तुम मुझे कही छिपने का स्थान दो और मुझे बचाने का प्रयत्न करो। प्रधान की बात के उत्तर मे नित्य–मित्र ने कहा कि जिस पर राजा का कोप है उसे मै अपने घर मे कदापि नही रख सकता। नित्य–मित्र की यह बात सुनकर प्रधान को बडा आश्चर्य हुआ। वह नित्य–मित्र से कहने लगा कि अरे! तू यह क्या कहता है। मै तेरा और तू मेरा मित्र हैं न! आज तक अपने साथ रहे, और खाया–पीया और आज समय पडने पर इस तरह उत्तर देता है! नित्य–मित्र ने क्रुद्ध होकर प्रधान से कहा कि बस! यहा से चला जा, नही तो अभी पत्थर से सिर फोड दूगा या राजा को खबर देकर पकडवा दूगा। प्रधान अधिक क्या कहता, वह चुपचाप भाग चला।

नित्य–मित्र के पास से रवाना होकर प्रधान अपने पर्व–मित्र के यहा आया। पर्व–मित्र ने पहले तो प्रधान की खातिर की, लेकिन जब प्रधान ने अपना सकट सुनाकर पर्व मित्र से सहायता एव रक्षा की याचना की तव पर्व–मित्र ने हाथ जोडकर प्रधान से कहा कि मै राजा के अपराधी को अपने यहा रखने मे असमर्थ हू। यदि राजा को खबर हो जावेगी तो वह मेरा घर खुदवाकर फिकवा देगा। इसलिए कृपा करके आप यहा से पधार जाइये। हा, यदि आप भूखे हो तो मै आपको भोजन करा दू और यदि द्रव्य की आवश्यकता है तो द्रव्य ले जाइये, लेकिन यहा मत ठहरिये।

नित्य–मित्र ने प्रधान के साथ जो व्यवहार किया था उसके अनुभव ने प्रधान मे यह साहस न होने दिया कि वह पर्व–मित्र से और कुछ कहता। वह पर्व–मित्र के यहा से यह विचार कर चलता बना कि इसके साथ तो मैंने नित्य–मित्र से कम ही मित्रता का व्यवहार किया था फिर भी यह पत्थर मारने को तो तैयार नही हुआ।

प्रधान सैन–जुहारी मित्र सेठ के यहा गया। रात का समय था। सेठ के घर का द्वार बन्द हो चुका था। नित्य–मित्र और पर्व–मित्र की ओर से रक्षा के लिए स्थान नही मिला था किन्तु मित्रता के विपरीत व्यवहार हुआ था। इसलिए प्रधान को अपने सैन–जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी फिर भी उसने सडक पर खडे होकर सेठ को आवाज दी। सेठ ने

द्वार खोलकर–पूछा कौन है? प्रधान ने कहा, इधर आइये मैं बताता हू। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देखकर सेठ ने आश्चर्यन्वित हो कहा कि आप इस समय कैसे? प्रधान ने उत्तर दिया कि मुझे आपसे कुछ कहना है। सेठ ने कहा कि कुछ कहना है तो घर चलकर कहिये। यहा सडक पर खडे रह कर बात करना ठीक नही। प्रधान ने कहा कि आप मेरी बात यहीं सुन ले तो अच्छा होगा, मुझे घर ले जाने पर सभव है कि आपकी कोई हानि हो, क्योकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि ऐसा है तो, सडक पर खडे रहकर बात करना और भी बुरा है। आप घर मे चलिये, जो होगा सो देखा जायेगा।

सेठ प्रधान को अपने घर मे लिवा ले गया। घर मे पहुचकर सेठ ने प्रधान से कहा कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिए, जिससे फिर निश्चिंत होकर हम बातचीत करे। सेठ के कथनानुसार प्रधान ने हाथ–मुह धोये। फिर सेठ ने प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय मे भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्यधिक आग्रह पर थोडा–बहुत भोजन किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा कि अब आप सब वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हू, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूठ मत कहिये। सच्ची–सच्ची बात बताइये जिससे कुछ उपाय किया जा सके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की।

प्रधान सेठ से कहने लगा कि मेरे लिये मेरे विरोधी लोगो ने राजा से अमुक–अमुक बातो की चुगली की है। इन्ही बातो से राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव मे ये बाते गलत है और मैं निर्दोष हू। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता या मुझ से पूछा होता तब तो मैं सब बाते बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना अपनी इज्जत खोना है। विरोधी लोगो ने जो बाते राजा से कही हैं, उनमे अमुक–अमुक बात तो अमुक मिसल मे या अमुक बही मे लिखी हुई हैं। हा अमुक बात की गलती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगो एव उनकी सफाइयो से सेठ को परिचित करा दिया और जो भूल हुई थी उरा भूल मान लिया। प्रधान की सब बाते सुनकर सेठ ने प्रधान से कहा कि कोई चिता की बात नही हे। सब–कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप–दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर मे रहिये, किसी प्रकार का सकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातो से परिचित करा दिया है, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को सेठ की बातो से बहुत धैर्य मिला। वह सेठ के यहा ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुचा। राजा को सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहा कभी–कभी ही आता है और जब भी आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से ही आया होगा। इस प्रकार विचार कर राजा ने सेठ को अपने पास बुलाया। उचित शिष्टाचार और थोडी–बहुत इधर–उधर की बातो के पश्चात् सेठ ने पधान का किस्सा छेडा। सेठ ने राजा से कहा कि प्रधानजी के विषय मे बहुत– से समाचार सुनने मे आये हैं और मालूम हुआ है कि आप प्रधानजी पर रुष्ट हैं तथा पधानजी भाग भी गये हैं, सो क्या ये बाते सच्ची हैं? राजा ने उत्तर दिया– हा सेठ, पधान बडा बेईमान निकला। उसने राज्य का बहुत नुकसान किया और अब भाग गया, लेकिन भागकर कहा जावेगा? जहा होगा वहा से पकडवा मगवाऊगा और उसे दण्ड दूगा।

सेठ– अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए और आपके हाथ भी बडे है। प्रधानजी भागकर कहा जावेगे, परन्तु प्रश्न यह है कि प्रधान के विना राज्य का पबन्ध कौन करेगा?

राजा– दूसरा प्रधान लावेगे।

सेठ– यदि दूसरा प्रधान भी ऐसा ही बेईमान निकला तो?

राजा– उसकी जाच करेगे, तब रखेगे।

सेठ– मेरी प्रार्थना यह है कि जब आप उस नये प्रधान की जाच करेगे तो पुराने प्रधान की ही जाच क्यो न कर ली जावे? पुराने प्रधान के जिन–जिन कामो के विषय मे शिकायत है, उन–उन कामो की कागज–पत्र आदि से जाच कर ली जावे, जिससे मालूम तो हो जावे कि वास्तव मे प्रधान की बेईमानी है या नही। प्रधानजी मेरे मित्र थे, वे प्राय नित्य ही मुझे मिला करते थे और दरबार मे जो काम करते, उनका भी जिकर किया करते थे। प्रधानजी के कार्यो का बहुत समाचार मुझे भी मालूम है इसलिए मै भी इस जाच मे कुछ सेवा दे सकूगा।

राजा को सेठ की बात ठीक जची। उसने प्रधान के विरुद्ध लगाये गये सब अभियोग सेठ को बतलाये। सेठ ने एक–एक अभियोग के लिए राजा से कहा कि इस अभियोग के विषय मे प्रधानजी ने मुझसे यह कहा था कि अमुक फाइल मे, या अमुक बही मे सब खुलासा है। सेठ के कथनानुसार राजा ने फाइल और बहिये देखी तो उनमे प्रधान की कोई बेईमानी मालूम नही हुई। कुछ अभियोगो के लिए सेठ ने कहा कि यह प्रधानजी से गल्ती हुई।

प्रधानजी मुझ से भी कहते थे कि अमुक काम मे मेरे से अमुक गलती हो गई। इतना बडा राजकाज चलाने वाले से यदि ऐसी गलती हो जावे तो कोई आश्चर्य या बेईमानी की वात तो नही हो सकती।

इस प्रकार धीरे–धीरे सेठ ने राजा के सामने प्रधान को सभी अभियोगो मे निर्दोष सिद्ध कर दिया। राजा को मालूम हो गया कि प्रधान निर्दोष है और पिशुन लोगो ने मुझसे प्रधान की झूठी बाते कह कर मुझे प्रधान पर कुपित किया है। मैंने भी मूर्खतावश बिना जाच किये ही प्रधान को पकडने की आज्ञा दे दी। अच्छा हुआ जो प्रधान भाग गया, नहीं तो मैं। उसकी बहुत खरावी करता।

राजा सेठ से कहने लगा कि आपने वहुत अच्छा किया जो ये सब वाते बतला दी और प्रधान को निर्दोष सिद्ध किया। वास्तव मे प्रधान निर्दोष एव ईमानदार है। बेईमान लोगो की बातो मे पडकर ही मैंने उसकी प्रतिष्ठा पर हाथ डाला है, लेकिन अब क्या हो सकता है? जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुन किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करे और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुचा है, उनका सम्मान बढा कर उस क्षति की पूर्ति करे तो मै प्रधानजी को ढूढ लाऊ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहा है, आप पधारिये।

सेठ के साथ हाथी–घोडे आदि सहित राजा प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर मे भी हल्ला हो गया कि राजा प्रधान को लाने जा रहे है।, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गए। गाजे–बाजे से राजा सेठ के घर पहुचा। सेठ ने घर जाकर प्रधानजी से कहा कि चलिए आपको राजा लेने के लिए आए हैं। सेठ की यह बात सुन कर प्रधान घबराया। वह समझा कि राजा मुझे पकडने आए हैं। उसने सेठ से कहा कि क्या आप मुझे पकडवा देगे? सेठ ने उत्तर दिया– नही, आप घवराइये मत। राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने आए हे और द्वार पर हाथी लिए खडे हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम हे।

सेठ की बात से प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने प्रधान को हाथी पर वेठा कर शहर मे घुमाया तथा पुन प्रधान–पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियो से पूछा– प्रिये तुम्हारी दृष्टि मे प्रधान के तीनो मित्रो मे से कोनसा मित्र अच्छा था? जम्बू

महाराज की रानियो ने उत्तर दिया कि पहला नित्य–मित्र तो किसी काम का ही नही था, ऐसे मित्र का तो मुह भी न देखना चाहिए। वह तो मित्र नही, किन्तु मित्र के रूप मे नीच शत्रु था। दूसरा पर्व–मित्र मध्यम है। उसने नीच नित्य–मित्र की तरह अशिष्ट व्यवहार तो नही किया, लेकिन मित्रता का पालन भी नही किया। तीसरा सैन–जुहारी मित्र उत्तम है। उसने मित्रता का पालन करके सकट के समय मित्र की सहायता की।

जम्बू स्वामी कहने लगे कि उस प्रधान की तरह मैंने भी अपने तीन मित्र बना रखे हैं। पहला नित्य–मित्र यह शरीर है। इस शरीर को नित्य ही नहलाता–धुलाता, सजाता–पहनाता और खिलाता–पिलाता हू। मैं इसे दूसरा नही समझता। लेकिन जब कर्म रूपी राजा बदलता है, जब वृद्धावस्था या रुग्णावस्था आती है, तब सबसे पहले यह शरीर ही धोखा देता है। उस समय यह शरीर पत्थर मारने जैसे काम करता है। दूसरा मित्र कुटुम्ब–परिवार है जिसमे तुम लोग भी सम्मिलित हो। यद्यपि तुम लोग अभी मुझसे इतना प्रेम करती हो, लेकिन जब कर्म रूपी राजा मुझसे बदल कर मेरा शत्रु बनेगा, तब तुम लोग मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकोगी? उस समय पर्व–मित्र की तरह यह तो न कहोगी कि भूखे हो तो भोजन करा दे, दवा चाहो तो दवा का प्रबन्ध कर दे या हम अपने आभूषण दे दे। क्या उस समय तुम मेरी रक्षा कर सकोगी? मुझे कोई सहायता पहुचा सकोगी? कदापि नही।

मैंने अपना तीसरा मित्र सुधर्मा स्वामी को बना रखा है। यद्यपि सुधर्मा स्वामी है सैन–जुहारी मित्र ही। उनसे नित्य–मित्र और पर्व–मित्र की तरह कोई विशेष व्यवहार नही है, फिर भी उन्होने मुझे ऐसा उपाय बताया है जिसके करने पर मै कर्म–रूपी शत्रुओ से लड सकता हू और उन पर विजय प्राप्त कर सकता हू। उन्होने मुझे सिखाया है कि तेरे आत्मा मे जो कमी है तेरे मे जो अनाथता है, उसे निकाल, फिर तेरा कोई कुछ नही बिगाड सकता। उन्होने मुझसे कहा है कि तेरा मित्र भी तो तू ही है और तेरा शत्रु भी तू ही है।

तात्पर्य यह है कि मित्र वही होता है जो सकट के समय काम आए। जम्बू महाराज के कहे हुए दृष्टान्त मे प्रधान पर लौकिक सकट था इसलिए लौकिक मित्र ने सहायता की, लेकिन परलौकिक सकट के समय लौकिक मित्र सहायता नही कर सकता। उस समय अपना आत्मा ही अपनी सहायता कर सकता है, क्योकि परलोक मे इसका मित्र यही है दूसरा नही। आत्मा स्वय का मित्र बन कर स्वय की सहायता तभी कर सकता है जब वह स्वय

की मित्रता के कार्य करता हो। सकट के समय सहायता करे, वही मित्र है और जो सकट के समय काम न आवे, किन्तु सकट बढा दे, वही शत्रु है।

अच्छे काम मे लगा हुआ आत्मा स्वय का मित्र तथा सुप्रतिष्ठ हे और बुरे काम मे लगा हुआ आत्मा स्वय का शत्रु तथा दुष्प्रतिष्ठ है। उदाहरण के लिए एक ने अपने कानो से शास्त्र–श्रवण किया और दूसरे ने वेश्या का गाना सुना। इन दोनो मेसे शास्त्र–श्रावण करने वाला आत्मा स्वय का मित्र एव सुप्रतिष्ठ बना और वेश्या का शृगार–रस–पूर्ण गाना सुनने वाला आत्मा अपने–आप का शत्रु एव दुष्प्रतिष्ठ बना।

आत्मा को प्राप्त इन्द्रिय, मन और बुद्धि साधनो से दोनो ही प्रकार के काम किये जा सकते हैं। यानी ऐसे अच्छे काम भी किए जा सकते हैं जिनसे आत्मा स्वय का मित्र और सुप्रतिष्ठ बने और ऐसे बुरे काम भी किये जा सकते हैं जिनसे आत्मा स्वय का शत्रु एव दुष्प्रतिष्ठ बने। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के कामो पर से ही आत्मा मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ और सनाथ या अनाथ बनता है।

सनाथ बने हुए व्यक्ति को कभी दु ख या कष्ट तो होते तो ही नहीं। सासारिक लोग जिन्हे घोर से घोर कष्ट समझते हैं, उन कष्टो के समय मे भी सनाथ बना हुआ व्यक्ति हसता ही रहता है। शरीर से चर्म खीचे जाने पर भी सनाथ बने हुए व्यक्ति को दु ख नहीं होता। वह तो यही समझता रहता है कि यह सब मैंने ही मेरे लिए किया है, इसमे सुख या दु ख मानने की कौनसी बात है। सुख–दु ख मानने से, कष्ट के समय रोने एव सुख के समय हसने से तो और हानि है तथा यही अनाथता बढाने या अनाथता मे डालने का कारण है। मैं सनाथ तभी हू जब दु ख के समय भी हसता रहू। दु ख को भी सुख मानने से तथा दु ख के समय भी हसते रहने से आत्मा की रही–सही अनाथता भी दूर होगी। इस प्रकार विचार कर सनाथ बना हुआ व्यक्ति मृत्यु के समय भी हसता रहता है, दु ख नही करता। वह जानता है कि किसी भी समय रोने से कुछ लाभ नहीं हे, किन्तु ऐसा करना आत्मा को अनाथ बनाना हे। उसको इस बात पर विश्वास रहता है कि आत्मा ओर शरीर, तलवार और म्यान की भाति भिन्न–भिन्न हैं। 'में' आत्मा हू, शरीर नहीं हू। शरीर को चाहे कोई कितना ही कप्ट दे, उससे मेरा कुछ नही बिगड सकता। मैं तो व्रती ही हू, जिसे कोई कप्ट दे ही नहीं सकता। मोत भी मेरा कुछ नही बिगाड सकती हे, क्योकि में। अमर हू। सनाथ वना हुआ व्यक्ति गीता के कहे हुए निम्न श्लोक को विल्कुल ठीक मानता हे। गीता मे कहा हे–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक ।
न चैनं क्लयेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।।
अछेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।।

अर्थात् यह आत्मा, शस्त्र से नही कट सकता, इसे आग नही जला सकती, यह पानी से नही भीग सकता और इसे हवा नही सोख सकती। यह अछेद्य है, कट नही सकता, न जलाया, भिगोया या सुखाया ही जा सकता है। यह नित्य–व्यापक, स्थिर, अचल और सनातन यानी सदा रहने वाला है।

अनाथता को त्याग कर, सनाथ बनना ही आत्म–तत्त्व को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना है। जो आत्म–तत्त्व को जान चुका है, वह न तो किसी को भय देता है, न किसी से भयभीत होता है। वह हर्ष, अमर्ष आदि सब से परे रहता है। गीता मे कहा है–

सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो.।
शीतोष्ण–सुख–दु खेषु सम सगविवर्जित ।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टि येन केनचित्।

अर्थात् जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सदी, गर्मी और सुख तथा दु ख मे समान भाव रखता है, जो वासना–रहित है, जो निन्दा–स्तुति मे तुल्य भावना रखता है और जो मौनी है, वही सनाथ है।

ये सनाथ बने हुए व्यक्ति के लक्षण है। इन लक्षणो से ही सनाथ व्यक्ति पहचाना जाता है।

यद्यपि सनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर राजा श्रेणिक अनाथता देने वाली वस्तुओ को त्याग न सका, लेकिन उसकी यह श्रद्धा अवश्य हो गई कि ये वस्तुए अनाथता देने वाली हैं। अब तक वह इन्ही वस्तुओ को सनाथ बनाने वाली मानता था। मनुष्य–जन्म को भोग के लिए जानता था और सयम को मनुष्य–जन्म का दुरुपयोग एव अपमान समझता था। लेकिन अब उसकी श्रद्धा, इसके विपरीत हो गई। अब वह इन वस्तुओ के वास्तविक रूप को समझने लगा है। अब उसकी श्रद्धा शुद्ध हो गई है।

शास्त्रकारो का कथन है कि कल्याण साधन मे श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है। श्रद्धा के अनुसार आचरण करना न करना अपनी–अपनी शक्ति पर निर्भर है लेकिन श्रद्धा तो शुद्ध ही होनी चाहिए। श्रद्धा होने पर यदि परिस्थितिवश किसी बुरे कार्य मे प्रवृत्त होना भी पड़ा तो शुद्ध श्रद्धावाला उस कार्य को समझेगा बुरा ही और शुद्ध श्रद्धा के अभाव मे वह बुरा कार्य भी

अच्छा मालूम होगा। जो आदमी बुरे कार्य को बुरा ही समझता है, उससे वह बुरा कार्य भी छूट सकना सम्भव है, लेकिन जो बुरे काम को बुरा ही नहीं समझता, वह उसे क्यो छोडेगा? शुद्धाचरण करना प्रत्येक की शक्ति से परे की बात है। प्रत्येक आदमी ऐसा करने मे समर्थ नही हो सकता, लेकिन शुद्ध श्रद्धा प्रत्येक आदमी धारण कर सकता है। शुद्ध श्रद्धा के होने पर शुद्धाचरण दुर्लभ नहीं माना जाता, लेकिन अशुद्ध श्रद्धा के होने पर शुद्धाचरण दुर्लभ है और व्यवहार दृष्टि से किसी मे शुद्धाचरण हुआ भी, तब भी तात्त्विक दृष्टि से तो वह अशुद्धाचरण ही है। इसी कारण शास्त्र मे कहा है–

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात् श्रद्धा होना दुर्लभ है।

राजा श्रेणिक की श्रद्धा अब तक अशुद्ध थी, लेकिन अब शुद्ध हो गई। इस शुद्ध श्रद्धा से सयम न ले सकने पर भी राजा श्रेणिक ने तीर्थंकर गोत्र बाध लिया। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए शुद्ध श्रद्धा धारण करना उचित एव आवश्यक है। जब तक श्रद्धा शुद्ध न हो, तब तक कैसा भी ऊचा धर्म क्यो न हो, प्राप्त नही हो सकता, परन्तु शुद्ध श्रद्धा होने पर ऊचे धर्म को प्राप्त करना कोई कठिन कार्य नही है।

आत्मा को यह सर्वोत्तम मनुष्य–शरीर बडे पुण्य से प्राप्त हुआ है। यह शरीर प्राप्त होने से पूर्व आत्मा ने न मालूम कौन–कौन से शरीर धारण किए थे और न मालूम कैसे–कैसे कष्टो को सहा था। अनन्तकाल तक अन्य–अन्य शरीर धारण करते रहने के पश्चात् इसे यह शरीर प्राप्त हुआ है।

यह मनुष्य–शरीर कैसा उत्कृष्ट है, यह बात तभी मालूम हो सकती है, जब इसकी तुलना दूसरे जीव के शरीर से की जावे। किसी वस्तु की विशेष कीमत तभी मानी जाती है, जब वह वस्तु अन्य वस्तुओ की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत हो। इसी प्रकार मनुष्य–शरीर की विशेषता भी तभी ज्ञात हो सकती है जब इसकी तुलना पशु–पक्षी आदि के शरीर से करके देखी जावे। वैसे तो आख, नाक, कान आदि पशु के भी होते हैं और मनुष्य के भी, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा पशु के बडे होते हैं, फिर भी पशु–शरीर की अपेक्षा मनुष्य–शरीर बडा ठहरता है, क्योकि पशु मे विवेक नही हे। पशु–शरीर और पशु की इन्द्रिया विवेक–रहित हैं। लेकिन मनुष्य मे विवेक है, मनुष्य–शरीर और मनुष्य की इन्द्रिया विवेक–सहित हैं। विवेकपूर्वक अपना लाभ–हानि विचार कर सकने की शक्ति होने से मनुष्य–शरीर अन्य समस्त जीवो के शरीर से उत्कृष्ट माना जाता है। ऐसा उत्कृष्ट शरीर प्राप्त होना कम पुण्य की बात नही है।

मनुष्य–शरीर प्राप्त होना तो बडे पुण्य का फल है ही, लेकिन स्वास्थ्य एव सर्वांग सम्पन्न मनुष्य–शरीर का प्राप्त होना और भी महान् पुण्य का फल है, क्योकि मनुष्य–शरीर पाकर भी बहुत–से लोग अन्धे, बहरे, गूगे या पगु आदि होते हैं। बहुत–से मनुष्य जन्मजात पागल, बुद्धिहीन या और किन्ही रोगो से घिरे होते हैं। यदि ऐसे लोगो मे पुण्य की कमी न होती, तो इस प्रकार का क्यो होना पडता? उनमे पुण्य की कमी है। स्वस्थ एव सर्वांगसम्पूर्ण मनुष्य की अपेक्षा वे कम पुण्यवान है, तभी वे अगहीन या रोगी हैं। इस प्रकार पशु–शरीर की अपेक्षा मनुष्य शरीर उत्तम है और अस्वस्थ एव अगहीन मनुष्य की अपेक्षा स्वस्थ एव सर्वांगसम्पूर्ण मनुष्य–शरीर बडे पुण्य से प्राप्त हुआ है।

अब देखना यह है कि ऐसा सर्वोत्तम मनुष्य–शरीर पाकर करना क्या चाहिए? यदि इसे खाने–पीने या विषयभोग मे ही लगा दिया, तब तो इसे उत्कृष्ट माने जाने का कोई कारण नही रहता, क्योकि यह कार्य तो पशु–शरीर से भी हो सकता है। बल्कि इस विषय मे मनुष्य की अपेक्षा पशु कही बढे हुए होते है। इसलिए खाने–पीने और दुर्विषय भोग मे लगने के कारण मनुष्य–शरीर उत्कृष्ट नही माना जा सकता। मनुष्य–शरीर इसलिए उत्कृष्ट माना जाता है कि इस शरीर को पाकर अपने–आप को सनाथ बना सकता है, जन्म–मरण से मुक्त कर सकता है और समस्त कष्टो का अन्त करके अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। यह न करके यदि मनुष्य–शरीर को सासारिक विषय भोग मे डाल दिया, तब तो इस उत्कृष्ट शरीर द्वारा वह काम किया जो काम निकृष्ट माने जाने वाले पशु–पक्षी के शरीर मे भी नही किया गया था। पशु–पक्षी के शरीर मे तो आत्मा ने शुद्ध परिणाम रखने की वह करणी की, जिससे यह मनुष्य–शरीर प्राप्त हुआ, लेकिन मनुष्य–शरीर पाकर दुर्विषय भोग मे पडा हुआ आत्मा वह करणी कर रहा है जिससे कि नरक–निगोद मे पडे।

आत्मा को शरीर के साथ ही जो विवेक प्राप्त हुआ है भोग मे प्रवृत होने वाला, इस विवेक का दुरुपयोग कर रहा है। यद्यपि विवेक द्वारा दुर्विषय–भोग से निवृत्ति के कार्य करने चाहिए, लेकिन दुर्विषय–भोग मे प्रवृत्त आत्मा विवेक द्वारा दुर्विषय–भोग मे अधिकाधिक प्रवृत्त होने के कार्य करता है, विवेक को भोग की सुविधा दूढने मे लगाता है, अधिकाधिक भोग प्राप्त करने मे लगाता है तथा उस नीति को भग करने मे लगाता हे जिस नीति का पालन पशु भी करते है। मनुष्य–शरीर भोग से निर्वतने के लिए हे भोग मे

प्रवृत्त होने के लिए नही। भोग मे प्रवृत्त होना मनुष्य–शरीर के ध्येय के बिल्कुल विपरीत है।

मुनि ने अनाथता–सनाथता का जो वर्णन किया है, उससे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सासारिकवैभव तथा भोगादि मे पडने पर यह आत्मा अनाथ होता है और इनसे निवर्त कर सयम लेने पर सनाथ होता है। यदि कोई आदमी सर्वविरति सयम न ले सके और देशविरति सयम ले, तब भी वह सनाथता के मार्ग का अनुसरण करने वाला है और कभी पूर्ण सनाथ भी बन सकता है। अनाथ आत्मा निरन्तर दु ख ही भोगता रहता है और सनाथआत्मा दु खमुक्त हो जाता है। सनाथता–अनाथता का यह भेद मनुष्य ही समझ सकता है और मनुष्य ही अनाथता से निकल कर सनाथ हो सकता है। मनुष्य होकर भी यदि अनाथता–सनाथता के भेद को न समझ, अनाथता से निकल कर सनाथ होने की चेष्टा न की, तो कहना चाहिए कि उसने दुर्लभ मनुष्य जन्म का वास्तविक लाभ नही लिया। तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर मे विवेक एव अनाथता से निकल कर सनाथ बनने की क्षमता है। इसी से यह उत्कृष्ट माना जाता है।

मुनि ने श्रेणिक राजा के समीप यह तो सिद्ध कर दिखाया कि असयमी जीवन अनाथतापूर्ण है, अर्थात् ससार–व्यवहार मे रहना अनाथता है और ससार–व्यवहार त्याग कर सयम स्वीकार करना सनाथता है। अब मुनि यह बताते हैं कि कोई आदमी सयम स्वीकार कर भी किस प्रकार अनाथ हो जाते हैं।

इस दूसरी अनाथता, यानी सयम ले चुकने पर भी आने वाली अनाथता का वर्णन सनाथी मुनि कई अभिप्रायो से करते है। एक अभिप्राय तो सयमी लोगो को सावधान करना है। उन्हे यह बतलाना है कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही ससार–व्यवहार त्याग कर साधु हुए हो, लेकिन यदि तुमने साधुता के नियमो का पालन न किया, साधु–नियम के पालने मे असावधानी से काम लिया या जिन पदार्थों त्याग कर सयम लिया है, उन्हीं से फिर प्रेम किया, तो जिस अनाथता से छुटकारा पाने के लिए साधु हुए हो उससे भी अधिक अनाथता मे पड जाओगे।

इस वर्णन से सनाथी मुनि का दूसरा अभिप्राय उन लोगो को उलाहना देना ह जो सयम लेकर सयम के नियमो का पालन नही करते है, सयम के नियम पालने म असावधानी रखते हैं या सयम लेकर भी त्यागे हुए पदार्थों मे आसक्ति या उनकी कामना रखते हैं। जो लोग अनाथता को जानते ही नही

या जान कर सनाथ हो गए है या सनाथ होने की चेष्टा कर रहे है, उन्हे तो उलाहना देने का कोई कारण ही नही है। उलाहना तो उसी को दिया जाता है जो जानबूझ कर बुरे काम करता है।

इस दूसरी अनाथता के वर्णन का तीसरा बहुत बडा अभिपाय जनता को सावधान करना है। सनाथी मुनि राजा श्रेणिक को यह बताते हैं कि यद्यपि सयम लेना सनाथता को अपनाना है और इस कारण अनाथ लोगो की दृष्टि मे सयमी पूज्य हैं, लेकिन सयम लेने वालो मे भी कई अनाथी ही होते है, बल्कि ऐसे अनाथ होते है, जैसा अनाथ सयम न ले सकने वाला भी नही होता।

सयम लेकर अनाथ बने हुए और सयम न लेकर भी सनाथ बने हुए व्यक्ति वेशभूषा मे समान हो सकते हैं, लेकिन गुणो मे समान नही हो सकते। सनाथता गुणो मे है, केवल वेशभूषा मे ही नही है। यद्यपि आदरणीय वेष भी है, लेकिन तब, जब गुणयुक्त हो। गुण–रहित वेष की पूजा करना भगवान् महावीर का सिद्धान्त नही है।

अनाथता से निकल कर सनाथ बनने वाले सयमी को जनता अपना गुरु मानती है और अपने पारलौकिक जीवन की नाव को उसके सहारे छोड देती है। लेकिन जब तक आचार–विचार से यह विश्वास न कर लिया जाए कि यह वास्तव मे सनाथ है, इसके पहले अपना आत्मा उसे सौप देना केवल अन्धविश्वास है। सयमी को अपना गुरु इसीलिए माना जाता है कि वे सासारिक बन्धनो को त्याग कर सनाथ बने है, लेकिन उन्होने सासारिक बन्धनो को त्यागा है या नही, जिस सयम मे दीक्षित हुए है, उसके नियमो का पालन करते है या नही, यह जानना आवश्यक है। यह पहचान केवल वेश से नही हो सकती। वेश मे तो सनाथ और अनाथ, ऐसे दोनो ही प्रकार के लोग रहते है। वेशधारी परन्तु अनाथ सयमी को अपना आत्मा सौप देने से लाभ के बजाय हानि है। सनाथ और अनाथ वेशधारी की पहिचान कैसे हो सकती है? अनाथ वेशधारी के प्रधान लक्षण क्या है, यह बात सभी लोग नही जानते। सनाथी मुनि इस प्रकार के अनाथ लोगो की पहिचान कराने के लिए ही इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते है।

आजकल साधु–वेश रख कर असाधुता के काम करने वाले लोगो की कमी नही है। सनाथ मुनि ने इस दूसरी अनाथता का वर्णन लगभग ढाई हजार वर्ष पहले किया है। इससे प्रकट है कि ऐसे लोग उस समय भी थे।

तुलसीदासजी ने भी ऐसे लोगो के लक्षण बता कर उनकी निन्दा की है। उन्होने कहा है–

ये जन्मे कलिकाल कराला, कर्तब वायस वेष मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के, किकर कंचन कोह काम के।।

अर्थात्– कराल कलियुग मे जन्मने वाले लोग, काम तो कौए के करते हैं। और वेष हस का रखते है। वे ठग राम के भक्त कहा कर भी काम, क्रोध एव द्रव्य के गुलाम बने रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मुनि वेश मे ऐसे लोगो की भी कमी नहीं है जो साधु कहला कर भी असाधुता के काम करते हैं। एक ही वेश मे दोनो प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, इसलिए पहिचान कठिन हो जाती है। उनकी पहचान के लिए ही सनाथी मुनि इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते हैं।

इस दूसरी अनाथता को समझना भी जनता का कर्तव्य है। इससे मुख्य लाभ तो यह है कि कुगुरु, सद्गुरु का निर्णय हो जाता है। यह वेशधारी वास्तव मे निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी, निर्ग्रंथ धर्म का पालन करने वाला है या नहीं– यह वात मालूम हो जाती हे। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति साधु–वेशधारी है। उस व्यक्ति का आचरण देखकर नहीं, किन्तु केवल वेश के कारण विश्वास किया गया, इसलिए उसके द्वारा किसी भी समय धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्म की हानि हो सकती है। यदि वेश के साथ ही उसके आचरण के सम्बन्ध मे भी विश्वास कर लिया जाए तो फिर ऐसी हानि की आशका नही रहती। इसलिए सनाथी मुनि द्वारा वर्णित दूसरी अनाथता के लक्षणो को ध्यान मे रख कर, इन लक्षणो पर से सयम वेशधारी अनाथ को पहचान लेना जनता के लिए प्रत्येक दृष्टि से हितकारी हे।

कुछ लोगो ने यह सिद्धान्त बना रखा है कि 'अपने–यानी साधु–साध्वियो के चरित्र सम्बन्धी शास्त्राज्ञा से गृहस्थ को परिचित न किया जावे। परिचित कर देने पर गृहस्थ लोग अपने को पद–पद पर टोकेंगे, इससे अपनी मनमानी न चल सकेगी।' इस प्रकार के विचार से कई लोग साधुओ के आचार से गृहस्थो को अपरिचित रखते हैं, लेकिन ऐसा करना उनकी सयम पाल सकने की अक्षमता के सिवा ओर कुछ नही कहला सकता। जो सयम पालने मे वीर होगा वह इस प्रकार का सिद्धान्त कभी न वनायेगा। वह तो सनाथी मुनि द्वारा वर्णित इस दूसरी अनाथता को जनता के सम्मुख विस्तृत रूप मे रख कर यह घोषणा करेगा कि अनाथता के इन लक्षणो मे से यदि कोई लक्षण हम पर

घटता हो तो हमे उलाहना दो और ऐसा उपाय करो कि हम मे से अनाथता का वह लक्षण मिट जावे।

कई आदमी गृह–ससार त्याग कर और सयम को अपना कर भी अनाथता मे पड जाते हैं। सयम लेकर भी अनाथता मे केसे पडते हैं और फिर अनाथता मे पडना कितना एव कैसा बुरा है? यह बताने के लिए सनाथी मुनि कहते हैं–

इमा हु अण्ण वि अणाहया निवा,
तमगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्म लहियाणा वी जहा,
सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा।।38।।

अर्थ– हे राजा, एक अनाथता और है जिसे तुम स्थिरचित्त होकर सुनो। सनाथ बनाने वाले निर्ग्रन्थधर्म को प्राप्त करके भी बहुत–से कायर लोग पतित हो जाते हैं और निर्ग्रन्थपने मे दु ख पाते हैं।

कुछ लोग कहते है– हम गुरु हैं, अतएव जो–कुछ भी करते हैं वही ठीक है। परन्तु अनाथी मुनि ऐसा नही करते। वह कहते हैं– कितनेक साधु कायर होकर अनाथ ही बने रहते है और निर्ग्रंथ अवस्था मे भी दु ख पाते हैं।

इस आलोचना को सुनकर, सम्भव है कुछ साधुओ और साध्वियो को अप्रसन्नता हो और वे रुष्ट भी हो जाए, किन्तु जो बात शास्त्र मे आई है वह तो कहनी ही पडेगी। जब हम दूसरो की टीका–टिप्पणी एव आलोचना करते है तो अपनी निज की टीका–टिप्पणी और आलोचना से क्यो डरना चाहिए? इस टीका को सुनकर साधुओ को तो ऐसा सोचना चाहिए कि ससार मे जो पाप होता है, उसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही है। अगर हम साधु पवित्र रहे तो ससार के समस्त पाप भस्मीभूत हो जाए। अगर हम अपने भीतर छिपे पापो को न रहने दे तो स्वय पवित्र हो जाए और दूसरो को भी पवित्र कर सके।

जैसे श्वेत चादर पर पडा हुआ काला धब्बा आखो को चुभता है उसी प्रकार साधुओ का सनाथता मे से निकल कर फिर अनाथ बन जाना महापुरुषो को चुभता है।

अनाथी मुनि कहते है– राजन्! अब मै तुम्हे एक दूसरे प्रकार की अनाथता बतलाता हू। तुम एकाग्र और निश्चलचित्त होकर सुनो।

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से यह बात कहकर एक महान सिद्धान्त की सूचना की है। इस सिद्धान्त तत्त्व को ध्यान मे रखने की आवश्यकता है।

लोग कहते हैं– इतना उपदेश सुनने पर भीहमे ज्ञान क्यो नही होता? उन्हे समझना चाहिए कि उपदेश श्रवण करने मे भी चित्त को एकाग्र और निश्चल करना पडता है। मन एकाग्र न हुआ तो उपदेश श्रवण का फल नहीं होता।

योगियो का चित्त एकाग्र होता है। योगशास्त्र मे क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरोध– ये पाच चित्तवृत्तिया बतलाई गई हैं। इन पाचो का विवेचन करने के लिए लम्बा समय चाहिए, परन्तु अभी बहुत विस्तार न करके सक्षेप मे ही कहता हू।

मन मे राग–द्वेष को बढाने वाली रजोगुणमयी जो वृत्ति होती है, अर्थात् मन जब राग–द्वेषवर्द्धक रजोगुण मे ही आनन्द मानता है, उस समय की मनोवृत्ति क्षिप्तवृत्ति कहलाती है।

तमोगुण–प्रधान वृत्ति मूढवृत्ति है। मादक पदार्थों का सेवन करने मे आनन्द मानना मूढवृत्ति का ही परिणाम है। कोई–कोई चित्त को निश्चल करने के लिए अफीम, भग, गाजा आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। इस प्रकार तामसिक पदार्थों का सेवन करके चित्त को निश्चल बनाना भी मूढवृत्ति है।

शब्द, रूप, रस गध आदि इन्द्रिय–विषयो मे आनन्द मानना चित्त की विक्षिप्त वृत्ति है। शास्त्र के कथनानुसार इन तीन वृत्तियो के पश्चात् की जो एक वृति है, उसका अवलम्बन करके धर्म श्रवण किय जाय तो शास्त्र का तत्त्व समझ मे आता है।

यह एकाग्र वृत्ति ही योगी की वृत्ति है और इसी मे योग–साधना होती है। जब तक चित्त मे एकाग्र वृत्ति उत्पन्न नही होती, तब तक शास्त्र की बात समझ मे नही आती।

आप यहा शास्त्र श्रवण करने के लिए आये हैं, तथापि अगर आप राग–द्वेष मे पडे हैं, रूप, रस, गध आदि की अभिलाषा का सेवन कर रहे हैं, अथवा निद्रा ले रहे हे तो आपका चित्त क्षिप्त, मूढ या विक्षिप्त वृत्ति मे ही रहा हुआ है और ऐसी स्थिति मे शास्त्र श्रवण करने पर भी ज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र की बात सुनकर ज्ञान तो तभी हो सकता है, जब चित्त मे एकाग्रता हो।

कदाचित् श्रोताओ का चित्त एकाग्र हो या न हो, परन्तु शास्त्र सुनाने वाले वक्ता का चित्त तो एकाग्र होना ही चाहिए। आजकल हम साधुओ पर भी आपकी क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त चित्तवृत्ति का प्रभाव पडा है। हम से भी

कहा जाता है कि जमाने को देखकर बोलना–चलना चाहिए। किन्तु जमाने को देखकर आपको खुश करने के लिए हम सत्य को दबा के रखे तो कहना चाहिए कि फिर तो हम भी पहले की तीन वृत्तियो मे ही रहे। हमारी चित्तवृत्ति भी एकाग्र हुई नही कही जा सकती। हम साधुओ को तो चित्त एकाग्र करके सत्य वस्तु–तत्त्व ही पकट करना चाहिए। उससे कोई पसन्न हो तो अच्छा और अपसन्न हो तो अच्छा।

मित्रो! आपसे भी यही कहना है कि आप भी चित्त को एकाग्र कर शास्त्र श्रवण करे! इस पकार मेरे कहने पर भी अगर आप एकाग्रतापूर्वक शास्त्र न सुने तो आपकी मर्जी, किन्तु मुझे तो एकाग्र होकर ही शास्त्र श्रवण कराना चाहिए। साधुओ का तो यही कर्तव्य है कि वे अपनी चित्तवृत्ति को बिखरी न रखकर एकाग्र करे।

कितनेक साधु अपनी चित्तवृत्ति को सयम मे स्थिर न करके सामाजिक सुधार के नाम पर सासारिक झझटो मे फस जाते हैं, किन्तु ऐसा करना उचित नही है। साधुओ को तो अपनी चित्तवृत्ति सयम मे ही स्थिर रखनी चाहिए। राजा श्रेणिक ने मुनि के उपदेश को एकाग्र भाव से सुना तो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। यह सम्पत्ति कुछ साधारण नही है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्य पकृति है और आत्मा का शाश्वत कल्याण करने का निमित्त है।

कह सकते हो कि ससार के झझटो मे मन को किस प्रकार एकाग्र किया जाय? किन्तु ससार के सकटो के समय तो मन और अधिक एकाग्र रहना चाहिए।

कुछ लोगो का खयाल है कि गृहस्थो के सामने साधु–आचार सम्बन्धी बाते कहना आवश्यक है। साधु–आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओ को ही आपस मे कर लेना चाहिए, गृहस्थो के सामने उन बातो को रखने से कोई लाभ नही है। परन्तु यह खयाल सही होता तो अनाथ मुनि को श्रेणिक राजा के सामने भी यह चर्चा नही करनी चाहिए थी। किन्तु हम देखते है कि अनाथ मुनि राजा के सामने साधु–आचार की चर्चा कर रहे है। इससे विदित होता है कि गृहस्थो के सामने साधु–आचार की चर्चा करना अयोग्य नही है। इसके अतिरिक्त साधु भीतर ही भीतर अपने आचार की चर्चा कर लिया करे और गृहस्थो के सामने न करे तो उन्हे कैसे पता चले कि कौन साधु है और कौन नही? इस पकार गृहस्थो के समक्ष साधु–सम्बन्धी की बाते रख कर यह प्रकट किया गया है कि जो साधु आगम के अनुसार आचरण [illegible]

हो, उन्हे साधु मानो और जो तदनुसार आचरण न करते हो, उन्हे साधु न मानो।

कहा जा सकता है कि आगम मे कथन होने पर भी यह कैसे निर्णय किया जाय कि यह साधु है या नही? क्योकि कितने ही साधु ऊपर से तो आगमानुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु गृहस्थो को क्या पता कि वे भीतर से भी वैसा ही करते हैं या नही? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आपको साधु की अपेक्षा आगम को अधिक प्रमाणभूत मानना चाहिए और देखना चाहिए कि आगम के विधान के अनुसार इसका आचरण है या नही? आप गृहस्थ भी निर्ग्रन्थ–प्रवचन के उपासक हैं। उसे जीवन–व्यवहार मे लाना तो अपनी–अपनी शक्ति और परिस्थिति पर निर्भर है, किन्तु श्रद्धा तो उस पर दृढ ही रखनी चाहिए और जो साधु हैं, उन्हे निर्ग्रन्थ–प्रवचन के अनुसार ही चलना चाहिए। जो शास्त्र के अनुसार नही चल सकता, उसके साधुपन त्याग कर चले जाने की शास्त्र निन्दा नही करता, किन्तु साधु–अवस्था मे रहकर शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वालो की तो अनाथ मुनि भी टीका कर रहे हैं।

मूल प्रश्न अभी कायम है। कोई साधु ऊपर–ऊपर से शास्त्रानुकूल व्यवहार करता हो और भीतर से न करता हो तो उस अवस्था मे कैसे निर्णय किया जाय कि वह वास्तव मे शास्त्र के अनुसार व्यवहार करता है या नही? इसका उत्तर यह हे कि भीतर–भीतर कुछ करना, यह भूतकाल मे हुआ है, वर्तमान मे होता है और भविष्य मे भी होगा। इस प्रवृत्ति को रोका नही जा सकता। अतएव आपको तो निर्ग्रन्थ–प्रवचन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए और देखना चाहिए कि व्यवहार मे साधु का आचरण उसके अनुकूल है या नही। आप पूर्ण नही है जिससे कि किसी के आन्तरिक भावो को या आन्तरिक वास्तविकता को जान सके। अपूर्ण के लिए तो व्यवहार देखना ही उचित हे। अतएव जो साधु व्यवहार मे निर्ग्रन्थ–प्रवचन का पालन करते हे, उन्हे साधु के रूप मे मानना चाहिए और जो पालन नही करते, उन्हे नही मानना चाहिए। आपको ध्यान रखना हे कि अपूर्णजनो के लिए निश्चय को जानने का कोई अचूक साधन नही हे। अपूर्ण तो व्यवहार से ही सब वाते जान सकते हैं।

उदाहरणार्थ– आपने किसी को अपनी दुकान पर मुनीम वना कर रखा। वह मुनीम व्यवहार मे वरावर जमा–खर्च का हिसाव रखता हे। ऐसी स्थिति मे आप उस पर विश्वास करेगे अथवा नही? निश्चय मे उसका हृदय कसा हे, यह वात आप नहीं जानते किन्तु व्यवहार का पालन वह वरावर कर रहा हे। ऐसी स्थिति मे आप उसे मुनीम मानेगे। इसके विपरीत, अगर किसी

का हृदय साफ हो, परन्तु व्यवहार मे काम बराबर न करता हो तो आप क्या करेगे? आप यही कहेगे कि जो मुनीम व्यवहार को नही जानता, उसकी हमे आवश्यकता नही। राज–शासन मे भी यही बात है। पुलिस विभाग हो अथवा न्याय विभाग हो, जो कायदे के अनुसार काम करता है, उससे कोई कुछ नही कहता। वहा कायदे का पालन करना आवश्यक है। हृदय कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यो न हो, पर जो कायदे का पालन नही करता, वह उपालभ का पात्र बनता है।

साराश यह है कि जब तक पूर्णता न आ जाय तब तक व्यवहार द्वारा ही किसी बात की परीक्षा हो सकती है। यद्यपि व्यवहार के साथ निश्चय की भी आवश्यकता है, किन्तु निश्चय तो आत्मसाक्षी से ही जाना जा सकता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

अर्थात् श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते है, दूसरे लोग भी उन्ही का अनुकरण करके आचरण करने लगते है, क्योकि व्यवहार मे आचरण ही देखा जा सकता है, निश्चय को देखना हमारे लिए शक्य नही है। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार का पालन करना ही चाहिए।

अनाथ भगवान भाग–2

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइ, सम्म च नो फासयइ पमाया।
अनिग्गहय्या य रसेसु गिद्दे, न मूलओ छिदइ बधण से।।39।।

अर्थात् जो पुरुष महाव्रतो को धारण करने की प्रतिज्ञा करके भी प्रमाद के वशीभूत होकर सम्यक् प्रकार से उनका पालन नही करता जो अपनी इन्द्रियो पर नियन्त्रण नही करता और रसलोलुप होता है, वह अपने बन्धन का समूल उच्छेदन नही कर सकता।

व्याख्यान– मुनि कहते है– राजन्! गृहस्थावस्था मे रह कर व्यवहार दृष्टि से जो आरम्भी तथा परिग्रही है, वह तो अनाथ है ही, किन्तु गृहस्थावस्था तथा आरम्भ–परिग्रह से छूटकर और साधु होकर भी जो निरारम्भता और निष्परिग्रहता का पालन नही करता, वह भी अनाथ ही है। यह अनाथता किस प्रकार की होती है, इसे मै समझाता हू। चित्त को एकाग्र करके सुनो।

चित्त की एकाग्रता क्यो अपेक्षित है, यह बात पहले कही जा चुकी है। जो वस्तु स्वरूप कहा जा रहा है, उसे समीचीन रूप मे समझने के लिए चित्त का एकाग्र होना अत्यन्त आवश्यक है।

पाच और पाच दस होते है, यह सभी को मालूम है। कोई विलायत जाकर और उच्च उपाधि लेकर आया हो और कहे कि पाच और पाच ग्यारह होते है तो क्या आप मान जाएगे? नही। क्योकि उसका कथन आपके अनुभव के विरूद्ध है।

मुनि कहते है– इसी प्रकार मै जो कहता हू उस पर विश्वास रख कर तुम इस बात को सुनो।

राजन्! बहुत–से लोग ऐसे कायर होते है जो निर्ग्रंथ धर्म का स्वीकार करके बाद मे फिर अनाथता मे पड जाते है और दुख पाते है।

अनाथ मुनि कह चुके हैं कि कायर जन सयम मे दुख का अनुभव करते है। अतएव सयम न पालने वालो को यही विचार करना चाहिए कि जो वास्तव मे सयम का पालन करते है वे धन्य हैं उनकी बलिहारी है! कोई–कोई लोग घोडे को काबू मे न रखने के कारण नीचे गिर पडते हैं। अतएव उन गिरने वाले

को यही देखना चाहिए कि घोडे से न गिरने वाले अपने घोडे को कावू मे रख कर किस प्रकार यथास्थान पहुच जाते हैं? इसी प्रकार सयम का पालन न कर सकने वालो को भी सोचना चाहिए कि सयमी जन किस प्रकार सयम का पालन करते हैं।

आप लोग अनाथता की वाते व्यवहार मे जल्दी देख लेते ओर अपना लेते हैं, परन्तु सनाथता की वात को नही देख पाते। आप देखते हैं कि भूत या भवानी की सौ–पचास आदमी मनौती मनाते हें। उनमे से एक–दो की अभिलाषा पूरी हो जाती है ओर शेष को निराश होना पडता है, परन्तु वे एक–दो आदमी, जिनकी अभिलापा पूर्ण हो गई हे, उन शेष को नही देखते जो निराश हुए है। वे अपनी अभिलाषा पूर्ण हुई है, इसी कारण बाजा बजवाते है ओर अपनी सफलता का ढिढोरा पीटते हैं और मनौती मनाते ही रहते हैं। इस प्रकार भूत–भवानी की उपासना करने वालो मे इतनी दृढता होती हे, किन्तु आप लोगो मे इतनी दृढता नही होती। जो सयम का पालन करते हैं, उन्हे तो आप देखते नही, किन्तु जो सयम से पतित हो जाते हैं, उनका सम्मान करते हैं। ऐसा करना क्या भूत–भवानी के भक्तो से भी हेय कर्म नहीं हे ? खैर, आप माने या न माने, परन्तु मुनियो पर तो यह उत्तरदायित्व है ही कि वे सयम का बरावर पालन करे ओर निर्ग्रन्थ धर्म से पतित होकर, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' जेसी गति न होन देने का ध्यान रखे।

प्रश्न हो सकता हे कि निर्ग्रन्थ धर्म मे ऐसा क्या दु ख हे कि आत्मा सयम धारण करके फिर उससे पतित हो जाता है? आखिर कोई–न–कोई दु ख तो होना ही चाहिए, जिसे सहन न कर सकने के कारण कई लोग निर्ग्रंथ धर्म को स्वीकार करके पुन गिर जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कतिपय मनुष्य अच्छे कार्यों मे भी दु ख का अनुभव करते हें और उन्हें आरम्भ करके भी बीच मे छोड भागते हें। कल्पना कीजिए – कोई कहता हे कि यहा से पचास कोस की दूरी पर धन का खजाना हे। जो वहा जायगा उसे वह खजाना मिल जायगा।

खजान का लोभ किसे नहा होता? धन पाने की आशा से वहुत लोग चल पडे, परन्तु कुछ लोग लक्ष्य तक पहुचे और कुछ थक कर आधे रास्ते से ही वापिस लोट आए।

इसी प्रकार कुछ मनुष्य मोक्ष–प्राप्ति के लिए सयम धारण करते हैं, परन्तु उनमे से भी कुछ ही लोग यथास्थान पहुँचते हैं और कितने ही लोग मार्ग मे ही थककर या प्रलोभनो से भ्रष्ट होकर विमुख हो जाते हैं। किन–किन कारणा से लोग सयम स भ्रष्ट हो जाते हैं, इस विषय पर ज्ञाता–सूत्र म खूव

विस्तार के साथ विचार किया गया है और एक उदाहरण भी दिया है। वह उदाहरण इस पकार है–

धनावह नामक एक सेठ था। वह नाम का ही सेठ नही था, वरन् पजा का दु ख दूर करने मे अपनी सेठाई का उपयोग करता था। वास्तविक सेठ वही है जो दूसरो का दु ख दूर करे और दूसरो पर कृपाभाव रखे।

सेठ ने एक बार नगर मे ढिंढोरा पिटवाया– मै सार्थ निकालना चाहता हू। जो भी चाहे, मेरे साथ चल सकता है। रास्ते मे सब व्यवस्था मैं करूगा। भोजन, पानी, कपडा–लत्ता आदि सब मै दूगा और कमाई करने के लिए किसी को पूजी की आवश्यकता होगी तो वह भी दूगा।

ऐसा भला अवसर कौन चूकना चाहता है ? बहुतेरे लोग सेठ के साथ जाने को तैयार हुए। सेठ ने सार्थ तैयार किया और सब व्यवस्था करके रवाना हुआ। चलते–चलते रास्ते मे एक बडा जगल आया। सेठ ने सार्थ के सब लोगो से कहा– आप सबका उत्तरदायित्व मेरे सिर पर है अतएव मै आपको एक सूचना करना चाहता हू। उस पर आप सबको विशेष ध्यान रखना होगा। सूचना यह है–

'इस जगल मे नन्दीफल नामक वृक्ष है। वे देखने मे बडे ही [illegible] पतीत होते है। उनकी गध भी मोहक है और छाया भी शीतल है। [illegible] आकर्षक है कि मनुष्य बलात् उनकी ओर खिच जाता है। उनके फल भी देखने मे अत्यन्त सुन्दर और खाने मे बहुत मीठे हैं मगर उन फलो [illegible] से परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। जो इन्हे खाता है प्राणो से हाथ धो बैठता है। सत्य यह है कि फल 'मीठा विष' है। अतएव आप सब [illegible] रहे। कटुक विष से बचना सरल है, किन्तु मधुर विष से बचना [illegible] है। अतएव आप लोग वृक्ष को सुन्दरता से छाया की शीतलता से [illegible] फल की स्वादिष्टता से लोभ मे न पड जाए। मेरा कहा मान कर मेरे पीछे–पीछे चले [illegible] तो सुख–पूर्वक जगल को पार कर सकोगे और यदि मेरी बात न [illegible] फलो के लोभ मे पड गये तो रास्ते मे मरण–शरण होना पडेगा। इसलिए नन्दीवृक्ष [illegible] फल के प्रलोभन मे मत पडना। मेरी इस सूचना को [illegible] से ध्यान मे रखना।

सेठ की वात नही मानी और फल तोड कर खा गये। फल खाते ही अनकी नसे खिचने लगी, तव उन्हे सेठ की शिक्षा याद आई। किन्तु 'फिर पछताये होत का जब चिडिया चुग गई खेत।' विषैले फल खा लेने के पश्चात् सेठ की सूचना याद आने पर भी कोई लाभ नही हो सकता था। वे लोग अपनी लोलुपता के शिकार हो गये।

विचारणीय बात यहा यह है कि सेठ ने खान–पान, कपडा–लत्ता आदि की व्यवस्था कर दी थी। इसके अतिरिक्त जगल के नन्दीफल खाने की मनाही भी कर दी थी। फिर भी उन लोगो ने सेठ की बात पर विश्वास नही किया और नन्दीफल का आस्वादन किया। यदि विचार किया जाय तो इसका कारण उन लोगो की कायरता ही है। कायरता के वशीभूत होकर ही उन्होने जानबूझ कर भूल की और अन्तत उन्हे अपनी भूल का भोग होना पडा। इसके विपरीत जो लोग वीर थे, उन्होने सेठ के कथन पर विश्वास किया। उन्होने नन्दीफल से वचकर सुखपूर्वक जगल को पार किया।

यह उदाहरण देकर भगवान महावीर स्वामी कहते हैं– मैं सबका सार्थवाह हू। मेरे अनुयायी–जन अगर मेरे पीछे–पीछे चलते चले और मेरे कथन की उपेक्षा न करे तो मैं सवको सकुशल ससार–अटवी से पार पहुचा कर मोक्षरूपी मजिल पर पहुचा दू। मगर यह तभी सम्भव है, जब साधु–साध्वी, श्रावक और श्राविका, सब मेरे आदेशो का पालन करे। जो नन्दीफल के समान ससार के प्रलोभनो मे पड जायगा और अपने–आप को सयम मे न रख कर रस लोलुपता के जाल मे फस जायगा, वह ससार–अटवी के पार नहीं पहुच सकेगा और दु ख का भागी होगा।

यद्यपि भगवान महावीर जैसे महान त्यागी, परम वीतराग और सर्वज्ञ पुरुष के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं हे फिर भी कतिपय लाग खान–दान की लालसा मे और मोज–मजे मे पड कर भगवान के आदेशो का उल्लघन करते हैं। अनाथी मुनि के कथनानुसार ऐसे लोग कायर हैं और अपनी कायरता के कारण ही वे अनाथ बन कर दु खो के पात्र बनते हैं।

जिस प्रकार सेठ के त्याग और ओदार्य को दृष्टि मे रखकर सार्थ के लोगो को उसकी वात पर विश्वास करना चाहिए था, उसी प्रकार भगवान के अपूर्व त्याग–वैराग्य के कारण भगवान पर भी पूर्ण विश्वास करना चाहिए। फिर भी जो लोग सेठ का ऊपर–ऊपर से तो 'सेठजी सेठजी' कहते हैं, परन्तु उनकी वाणी को मानत नही हैं उनकी रक्षा करने म सठ समर्थ नही हा

सकता। इसी पकार ऊपर–ऊपर से भगवान–भगवान करने वाले किन्तु व्यवहार मे उनकी आज्ञा न मानने वाले लोगो की भगवान भी रक्षा नही कर सकते। भगवान के तो वही हैं जो भगवान की आज्ञा मानकर नन्दीफल के समान विषमय काम–भोगो का त्याग करते हैं।

यह तो साधुओ की बात हुई । परन्तु आप श्रावक भी अपने विषय मे विचार कीजिए। आप क्या कर रहे है? आप कहते हैं– नाटक, सिनेमा वगैरह मे बडा आनन्द है फिर भी क्यो उसका त्याग कराया जाता है? परन्तु जिस त्याग के कारण तुम्हारा गार्हस्थ्य जीवन सकुचित बनता हो अथवा निभ न सकता हो, उस त्याग की निन्दा करो तो कुछ समझ मे भी आ सकता है किन्तु जिस त्याग के अभाव मे तुम्हारा जीवन अधिकाधिक बिगडता जाता है उस त्याग को अपनाना कैसे बुरा कहा जा सकता है? जो वस्तु जीवन को 'खत्म' कर देती है, उसके त्याग मे आपकी क्या हानि है? आप नाटक–सिनेमा या बीडी पीने का त्याग कर देगे तो आपके जीवन मे क्या कुछ खराबी आ जायगी? अगर खराबी नही आएगी और जीवन उत्तम बन जायगा तो फिर उसका त्याग क्यो नही करते?

आप भगवान की आज्ञा नही मानते तो आपकी मर्जी परन्तु हम साधु तो भगवान की आज्ञा का पालन करने के लिए ही निकले हैं। अतएव हमे तो भगवान की आज्ञा के अनुसार ही चलना चाहिए। भगवान किसी साधु को खाने–पीने का एकदम निषेध नही करते परन्तु उनका कथन यह है कि हे साधुओ! तुम खाने–पीने के पलोभन मे मत पडो। कदाचित प्रलोभन पर विजय प्राप्त करने मे तुम्हे कठिनाई पतीत हो तो उस कठिनाई का और कष्टो को सहनशीलता के साथ सह लो। इस प्रकार कष्टो को सहन करके पलोभनो पर विजय पाओगे तो तुम्हे मोक्ष की पाप्ति होगी। वास्तव मे त्याग मे दुख है ही नही किन्तु लोग कायरता के कारण उसमे दुख मानते है। अगर सहनशीलतापूर्वक कष्ट सहन कर लिए जाए तो घबराहट हो ही नहीं सकती

आप साधुता के पुजारी हैं, केवल साधुवेष या विद्वत्ता के पुजारी नहीं हैं। काशी मे अनेक पण्डित बहुत पढे–लिखे हैं, किन्तु क्या उन्हे साधु मानकर वन्दना करते हो? उन्हे आप वन्दना नहीं करते, क्योकि आप केवल पण्डिताई के पुजारी नही है, वरन् साधुता के ही पुजारी है। कहावत है–

भेष पूजा ते मत दूजा

भगवान महावीर का सिद्धात केवल वेषपूजा का नहीं है, गुण की ही पूजा करने का है। अतएव गुण की परीक्षा करके उसकी पूजा करनी चाहिए। किसी साधु मे वास्तविक साधुता का गुण नहीं है, केवल वेष है, तो उसे नहीं मानना चाहिए।

किसी साधु मे गुण है या नही, इस बात की साक्षी तुम्हारी आत्मा ही देगी। यह बात दूसरी है कि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा करे, मगर यदि आप अपनी आत्मा की सलाह की उपेक्षा न करो तो आपकी आत्मा आपको सच्ची सलाह और साक्षी अवश्य देगी।

वृक्ष ऊपर–ऊपर से ही दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल दृष्टिगोचर नही होता। फिर भी वृक्ष को ऊपर से अच्छा देखकर अनुमान किया जा सकता हे कि उसका मूल भी अच्छा ही होगा और वहा की भूमि भी अच्छी होगी। इसी प्रकार साधु की मुखमुद्रा और व्यवहार देखकर निर्णय किया जा सकता हे कि उसमे गुण हैं या नही? ऐसा होने पर भी अगर यही आग्रह रखा जाय कि हम तो अमुक को ही मानेगे, फिर भले ही वह कैसा ही क्यो न हो, तो यह जान–बूझकर गड्ढे मे गिरने के समान हे।

कहा जा सकता है कि कोई साधु ऊपर से साधुपन दिखला कर चालाकी से हमे ठग ले तो हमे क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही हे कि आप साधु को न पहचान सके तो बात जुदा हे, किन्तु आपकी अतरात्मा तो गुण का ही उपासक हे ओर आपका ध्येय कोरे वेष को साधु मानना नही है। अतएव आपको तो गुण का ही लाभ होगा। शास्त्र मे कहा है –

समयति मन्नमाणे समया वा असमया वा समया होई त्ति उवेहाए

–आचाराग सूत्र

अर्थात् तुम्हारा हृदय सम हे ओर तुम समता के ही उपासक हो तो तुम्हे समता का ही लाभ होगा। किन्तु यदि तुम्हारे हृदय मे असमता होगी, मलीनता हागी तो सच्च साधु का सम्पर्क पाकर भी तुम अपना कल्याण नही कर सकागे।

अतएव किसी साधु की चालाकी तुम्हारी समझ मे न आवे और तुम श्रमणोपासक होने के नात ऊपर से साधुता का प्रदर्शन करने वाल की

उपासना भी करो, तो भी तुम्हे किसी प्रकार की हानि नही हो सकती। तुम्हारा हृदय शुद्ध साधुता का उपासक होना चाहिए।

आप कह सकते है, हमे साधुता की बातो से क्या सरोकार है? हमे तो ऐसी बाते सुनाइये कि जिनसे ससार का सुधार हो।

इस कथन का उत्तर यह है कि ससार का सुधार तभी हो सकता है जब साधु को ही साधु माना जाय। जब तक असाधु को साधु माना जाता रहेगा, तब तक साधुओ का सुधार नही हो सकेगा और जब तक साधुओ का सुधार नही होगा तब तक ससार का सुधार होना कठिन है। अतएव पहले साधुओ का सुधार करो और साधुओ का सुधार करने के लिए अपना निज का सुधार करो।

अनाथ मुनि कहते है– राजन्! मैं केवल वेष से ही साधु नही हुआ वरन् द्रव्य और भाव, दोनो प्रकार से साधु हुआ। इस प्रकार मै अनाथता से मुक्त होकर सनाथ हो गया। जो लोग केवल वेष से ही साधु बनते है वे निर्ग्रंथ धर्म को स्वीकार करके भी दु ख भोगते और अनाथता का अनुभव करते है।

इसके आगे अनाथ मुनि जो कुछ कहते है वह भावमुनि के लिए कहते है। द्रव्य–मुनि के विषय मे तो पहले ही कह चुके है कि निर्ग्रंथ धर्म को स्वीकार करने के पश्चात् वेष धारण किया। इस प्रकार द्रव्य–साधु तो हो गये परन्तु भावसाधु हुए है या नही? और यदि नही हुए तो क्यो नही हुए इत्यादि बाते मुनि आगे बतलाते है।

पुलिस का सिपाही चोरी करे तो साधारण चोरी की अपेक्षा उसका अपराध गुरुतर माना जाता है। सरकार ऐसे अपराधी को विशेष रूप से दण्डित करती है। कदाचित् सरकार ऐसे अपराधी को क्षमा कर दे किन्तु जो साधु होकर साधुपन नही पालता शास्त्र उसकी निन्दा किये बिना नही रहता और उस पापश्रमण को अपराधी ही मानता है। शास्त्र स्पष्ट कहता है– 'अगर तू निर्ग्रंथ धर्म को अगीकार करके उसका यथायोग्य पालन नही करता तो अनाथ ही है तेरा गृहत्याग व्यर्थ है।' अनाथ मुनि कहते है–

सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा।

जाती है, उसी प्रकार जो साधु होकर भी साधु धर्म का पालन नहीं करता, वह अधिक कायर है।

कहा जा सकता है कि फिर तो साधु न बनना ही अच्छा है, किन्तु यह बात भी उचित नही है। जो मनुष्य सेना मे भर्ती नहीं होता और घर मे पडा रहता है, वह सेना मे भर्ती न होने के कारण वीर नही कहलाने लगता। वीर तो वही कहला सकता है जो सेना मे भर्ती होकर काम करता है। अलबत्ता जो सेना मे दाखिल तो होता है, परन्तु अवसर आने पर कायरता दिखलाता है, वह अधिक कायर है। अगर आपको सेना मे सम्मिलित होकर काम न करने के कारण कायर कहलाना पडेगा' इस भय से सम्मिलित ही न हो, तो यह आपकी कोई वीरता नही, कायरता ही है।

हा, सेना मे भर्ती होकर कायरता प्रदर्शित करने वालो की अपेक्षा, घर मे ही पडा रहने वाला एक प्रकार से अच्छा ही है। आप कहेगे– ऐसा क्यो? इसका उत्तर यह हे कि एक आदमी चोरी करने के लिए सेना मे दाखिल नहीं होता और दूसरा मनुष्य सेना मे भर्ती होने से चोरी करने मे सुविधा होगी, ऐसा सोचकर सेना मे भर्ती होता है। इन दोनो मनुष्यो मे से सेना मे भर्ती होकर चोरी करने वाले को अच्छा नही कहा जा सकता। पुलिस बनकर चोरी करने वाले की अपेक्षा, पुलिस मे दाखिल न होने वाला अच्छा कहा जायगा।

यह एक उदाहरण है। इस उदाहरण के अनुसार साधु न होना कायरता हे, किन्तु साधु होकर साधु धर्म का पालन न करना और बडी कायरता हे। एक प्रकार से जो साधु नही बनते, वे कम कायर हैं। तथापि यह नही कहा जा सकता कि साधु बनना बुरा है। जो लोग साधु–धर्म अगीकार करते हें, उनमे से साधुपन को पालने वाले सच्चे साधु भी निकलते हैं, किन्तु जो साधु–धर्म अगीकार ही नही करते, उनमे से साधु–धर्म का पालन करने वाले कैसे निकल सकते हैं? पुलिस के सिपाहियो मे से कोई चोरी करता हे, तो भी पुलिस के विना काम नही चल सकता। इसी प्रकार साधु वनने वालो मे से कोई–कोई खराब निकल जाते हैं, किन्तु साधुओ के बिना ससार का काम चल भी तो नहीं सकता। अतएव यह कहना अयुक्त हे कि साधु होना बुरा ही हे। अलबता जो लोग साधु होकर भी साधु–धर्म का पालन नहीं करते उन्हे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, मगर यह समझ लेना तो भूल ही हे कि साधुपन ही बुरा हे। आप लोग जिस दिन इस सुधार की ओर ध्यान देंगे, धर्म को अन्तकरण से अपनाएगे ओर धर्म के लिए आत्म–बलिदान देने के लिए भी तयार रहगे, उसी दिन ससार का सुधार हुए विना रहेगा नहीं।

मुनि कहते हैं– हे राजा! निर्ग्रंथ–धर्म शूरो द्वारा पाला जा सकता है। इसे कायर लोग नही पाल सकते, लेकिन बहुत–से कायर लोग, निर्ग्रंथ धर्म स्वीकार करके, घर–बार, कुटुम्ब, ससार आदि छोड भी देते हैं, सयति का वेष भी पहन लेते है और फिर कामनापूर्ण न होने पर साधुपने मे दुख पाते हैं।

कई लोग क्षणिक आवेश मे, सनाथ बनने की क्षणिक भावना से पेरित होकर सयम ले लेते हैं। कई ससार–व्यवहार का भार सहन न कर सकने के कारण, कमाकर खाने की अशक्तता के कारण, सयम ले लेते हैं। कई–

नारी मुई गृह सपति नासी।
मूड मुडाय भये सन्यासी।

इसके अनुसार, यानी स्त्री, सम्पत्ति आदि के नष्ट हो जाने से सयमी बन जाते है। कई साधुओ की प्रतिष्ठा देख कर वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए साधु–वेष पहन लेते है। इस प्रकार बहुत–से कायर लोग, भिन्न–भिन्न कारणो से सयम स्वीकार तो कर लेते हैं, लेकिन वास्तव मे उन्हे सच्चा वैराग्य नही होता, आकाक्षा–रहित सयम लेने की भावना नही होती सनाथ बनने के परिपक्व विचार नही होते, इसलिए सयम मे दीक्षित होने के पश्चात वे पश्चात्ताप करते है, सयम मे कष्ट अनुभव करते है और कीचड मे फसे हुए हाथी के समान दुखी रहते है। ऐसे लाग वीर नही, किन्तु कायर है। सयम लेकर सयम मे दुख मानना वैसी ही कायरता है, जैसी कायरता घर से लडाई के लिए निकल कर फिर मरने मे और घर से सती होने के नाम पर जीवित जलने के लिए निकल कर फिर अग्नि मे जलने से भय करने मे मानी जाती है। जिस प्रकार लडाई के लिए घर से निकला हुआ मृत्यु से भय न करने पर ही लोक–व्यवहार मे वीर माना जाता है उसी प्रकार सयम लेकर उसमे दुख न मानकर सुख मानने वाला ही वीर है।

राजा! सयम लेकर फिर सयम मे दुख अनुभव करने वाला व्यक्ति किसी भी ओर का नही रहता। न वह ससार–व्यवहार का ही रहता है न

कायर लोग सयम लेकर उसमे सासारिक सुखो की इच्छा करते हैं। वे अच्छा–अच्छा भोजन, मान–प्रतिष्ठा, अच्छे–अच्छे वस्त्र आदि चाहते हैं और जब इनकी प्राप्ति नही होती तब वे सयम मे दुःख मानते हैं। यद्यपि सयम लेने के समय सासारिक सुखो को त्याग चुके हैं, लेकिन कायर लोग सयम मे सासारिक सुख चाहते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए वे अपने सयन के ध्येय को भुला देते हैं। उन्हे यह ध्यान नहीं रहता कि हमारा ध्येय क्या है, हम किस भावना को लेकर उठे हैं, और सयम लेने के समय हमारा उद्देश्य क्या था? वे लोग एक ओर तो सासारिक सुख भी भोगना चाहते हैं ओर दूसरी और साधुपने की मान–प्रतिष्ठा भी। यानी यह भी चाहते हे कि हमे कोई असयमी भी न कहे, किन्तु सयमी मानकर सब हमारी पूजा–प्रतिष्ठा करे और यह भी चाहते हैं कि हमे ससार के समस्त सुख भी प्राप्त हो। इसके लिए वे प्रकट मे तो साधु का वेश रखते है और परोक्ष मे सासारिक सुख प्राप्त करने के उपाय करते रहते हैं तथा सासारिक सुख न मिलने पर अपने–आप को कष्ट मे मानते हैं। यदि वे सासारिक सुखप्राप्त भी कर लेते हैं, तब भी उन्हे दुःख घेरे ही रहता है। उन्हे सदा यह भय बना रहता है कि हमारे इस असयमपूर्ण कुकृत्य का कहीं भाडा न फूट जाये। भाडा फूट जाने पर हम अपमानित हो जायेगे, इस आशका से वे यह सोचते रहते हैं कि हमने सयम क्यो ले लिया? उनसे सयम का वेश त्यागते भी नहीं बनता। ऐसा करने मे अपमान एव निन्दा का भय हे। इस प्रकार के कायर लोग सयम को दुःख मानते हैं और सयम से पतित भी हो जाते हैं।

मुनि कहते हैं– राजन्! जो पुरुष निर्ग्रंथ धर्म को प्राप्त करके उसका पालन नहीं करता, वह कर्मबन्ध के मूल कारण का उच्छेद नही कर सकता। साधु–धर्म को अगीकार करने से आत्मा उसी भव मे या आगामी कुछ भवो मे मोक्ष प्राप्त करता हे, किन्तु जो साधु–धर्म अगीकार करके कायर बन जाता ह, वह कर्मबन्ध के मूल को छेद नही सकता। उसने साधु का वेष तो धारण किया हे ओर महाव्रतो के पालन की प्रतिज्ञा भी की हे, परन्तु प्रमादवशात या रसगृद्ध होने के कारण वह महाव्रतो का पालन नही करता। साधु बन कर भी कर्मबन्ध के मूल को न छेद सकने का कारण प्रमाद हे। अगर स्वय के हृदय मे प्रमाद न हो तो भले कोई स्वार्थी उसे महाव्रतो का पालन करन का निषेव करे फिर भी वह नही मानेगा। वह गृहीत माटव्रता का पालन करेगा ही।

महाव्रता के विषय मे विस्तार मे कहना चाहिए किन्तु इस समय अवकाश की कमी स सक्षेप म ही कहता हू। 'महा' शब्द सापक्ष है ओर वह

लघु की अपेक्षा रखता है। लघु न हो तो 'महा' भी नही हो सकता। लघु की अपेक्षा 'महा' और महा की अपेक्षा लघु किस पकार है, इस विषय मे मैंने एक पुस्तक मे एक उदाहरण पढा था। वह यह है–

एक बादशाह बाजार मे जा रहा था। रास्ते मे उसने लडको को खेलते देखा। उनमे वजीर का भी एक लडका था। बादशाह ने सोचा– इनमे वजीर का लडका कौन है और वह कैसा बुद्धिमान है, परीक्षा करके इस बात का निर्णय करना चाहिए। इस पकार विचार करके बादशाह ने अपनी लकडी से जमीन पर एक लकीर खीच दी। फिर उन लडको से कहा– देखो इस लकीर को मिटाये बिना छोटी कर दो।

सब लडके एक दूसरे के सामने देखने लगे। किसी की समझ मे न आया कि बिना मिटाये इस लकीर को छोटी कैसे करे। तब वजीर के लडके ने कहा– 'आप अपनी लकडी मुझे दे तो मै कर सकता हू।

बादशाह ने लडके को लकडी दे दी। वजीर के लडके ने बादशाह द्वारा खीची हुई लकीर के ठीक सामने एक नवीन और उससे ज्यादा लम्बी लकीर खीच दी। इस लकीर के खीचते ही पहली लकीर छोटी दिखाई पडने लगी। तब लडके ने बादशाह से कहा– देखिये आपकी लकीर छोटी हो गई है। अगर आप न माने तो किसी और से पूछ लीजिए कि आपकी खींची लकीर छोटी है या बडी?

बादशाह– ठीक है तुम किसके लडके हो?

बालक– मै वजीर का लडका हू।

बादशाह– इसी से यह इतना बुद्धिमान है।

अभिप्राय यह है कि महान् की अपेक्षा लघु है और लघु की अपेक्षा महान है। इस नियम के अनुसार महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत और अणुव्रत की अपेक्षा महाव्रत है।

श्रावक देवलोक का अधिकारी होता है। अगर आप अणुव्रतो का भलीभाति पालन करे तो खराब साधु आपके पास टिक ही नही सकते। पर अक्सर होता यह है–

गुरु लोभी चेला लालची, दोनो खेले दाव।
दोनो डूबे बापडे, चढ़ पत्थर की नाव।।

जब गुरु लोभी और चेला लालची होता है, तब दोनो समान ही बन जाते हैं। शिष्य सोचता है– गुरु का काम हमारे बिना नही चलता, अत हम इनका मतलब पूरा कर दे और ये हमारा मतलब पूरा कर देगे। गुरु भी यही सोचता है। दोनो अपनी–अपनी चाल चलते है और दोनो एक–दूसरे को धक्का देकर डुबोते हैं। परन्तु आप लोग अगर श्रावकव्रत का भलीभाति पालन करे और सच्चे साधुओ की ओर ही सद्भाव और श्रद्धा रख कर उनकी सहायता करे तो अनाथ मुनि और राजा श्रेणिक का जमाना आज भी उपस्थित हो सकता है।

अनाथ मुनि, राजा श्रेणिक से जो कुछ कह रहे है, वह राजा से ही नही, सभी से कह रहे है। अगर वह राजा से ही कहे और दूसरो से न कहे तो महानिर्ग्रंथ न रह जाए। शास्त्र मे साधुओ के लिए कहा है–

जहा पुन्नस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुन्नस्स कत्थइ।

–श्रीमदाचारागसूत्र

अर्थात् साधु सबको समान रूप से धर्म का उपदेश करते है। जिस प्रकार किसी महान् को धर्म सुनाते हैं, उसी प्रकार तुच्छ को भी सुनाते हैं और जिस प्रकार किसी तुच्छ को सुनाते हैं उसी प्रकार महान् को भी सुनाते हैं। मुनि की पक्षपातहीन नजरो मे राजा–रक, सधन–निर्धन सब समान हैं।

इस कथन के अनुसार महानिर्ग्रंथ के लिए तो सम्राट श्रेणिक और कोई दरिद्र समान ही थे। फिर भी उन्होंने राजा श्रेणिक को सबोधन करके ये बाते कही हैं। इसका कारण यह हे कि पात्र ही उपदेश को झेल सकता है। वीर पुरुष ही इस उपदेश को झेल सकता है। ढीली–ढाली धोती वाले बनिये इस उपदेश को नही झेल सकते। उन्हे तो मामूली त्याग भी बहुत कठिन जान पडता है।

महानिर्ग्रंथ, श्रेणिक को साधुओ के सबध मे बतलाते हुए कहते ह–राजन्! साधु दीक्षा लेकर के भी जो वणिक्वृत्ति का त्याग नही करता, वह अनाथ ही है। 'हम ऐसा करेगे तो लोग हमारी मान्यता करग', ऐसा सोचकर

दिखाने के लिए बाह्य क्रिया करना वणिक्वृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्य को साधु हो जाने पर भी अनाथ ही बनाये रखती है, सनाथ नही होने देती।

राजन्! जो कर्मबन्धन के अधीन है वह अनाथ है और जो कर्मबन्धन को तोडता है वह सनाथ है। द्रव्यसाधु कर्मबन्धन को तोडने मे समर्थ नही होता, अतएव वह अनाथ है। वह महाव्रतो का पालन करने की पतिज्ञा तो करता है, किन्तु प्रमाद के वश होकर महाव्रतो को जीवनस्पर्शी नही बनाता। अतएव वह अनाथ है।

महाव्रत, अणुव्रतो की अपेक्षा से है, अतएव महाव्रत के सबध मे जो-कुछ कहा जाता है, उसके साथ अणुव्रत की भी शिक्षा दी जाती हे। आपको साधुओ और उनके महाव्रतो का विचार करने से पहले अपने अणुव्रतो के विषय मे विचार कर लेना चाहिए।

जिन व्रतो मे किसी प्रकार की छूट रहती है, वे अणुव्रत कहलाते है और जिनमे किसी भी प्रकार की छूट नही होती, उन्हे महाव्रत कहते है। जैन शास्त्र मे पाच महाव्रत ओर योगदर्शन मे पाच यम कहे गये हैं। पर बलिहारी उनकी है जो पाच महाव्रतो या पाच यमो का यथोचित रूप से पालन करते है। योगशास्त्र मे कहा है कि अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच यम है। जैन शास्त्र मे भी यही कहा गया है कि किसी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना, अदत्त् न लेना, शीलव्रत का पालन करना और किसी भी वस्तु पर ममत्व न रखना, ये पाच महाव्रत है। अणुव्रतो मे थोडी छूट रहती है। जैसे मै अहिसा का पालन करूगा, किन्तु जो मेरा अपराध करेगा उसे मै दण्ड दूगा। इस प्रकार अहिसा-पालन मे छूट रख लेने के कारण यह व्रत अणुव्रत कहलाया। इस प्रकार छूट रखकर जो मनुष्य अपराधी के सिवाय किसी दूसरे को कष्ट नही देता, वह अणुव्रती कहलाता है। अणुव्रत और महाव्रत मे यही अन्तर है।

योगदर्शन मे पाच यमो की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि देश

देश सबधी अपवाद रखने का अर्थ यह कि मैं अमुक देश मे तो अहिसा आदि का पालन करूगा, किन्तु उससे वाहर नहीं। इस प्रकार की छूट महाव्रतो मे या पाच यमो मे नहीं हो सकती। इसी प्रकार अमुक जाति के जीवो की हिसा नही करूगा, ऐसी प्रतिज्ञा लेना अपूर्ण अहिसा है। जैन शास्त्र के अनुसार अहिसा महाव्रत मे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के जीवा की हिसा करने की छूट नही हो सकती। अतएव जिस अहिसा मे इस प्रकार की अपूर्णता है, वह अहिसा अणुव्रत के अन्तर्गत है, महाव्रत मे नही। महाव्रत मे तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवो की हिसा करने, कराने और अनुमोदन करने का मन, वचन, काय से त्याग किया जाता है।

आज महाव्रत की इस व्याख्या को न समझने के कारण बडी गडबडी उत्पन्न हो गई है। कुछ लोग कहते हैं, हम स्वय हिसा न करे, किन्तु दूसरे से करावे या हिसा का उपदेश दे तो क्या हानि है? मगर वास्तव मे जो दूसरो द्वारा की जाने वाली हिसा का अनुमोदन करता है, वह साधु नही। सच्चा साधु तो वही है जो स्वय हिसा करता नही, कराता नही और हिसा का अनुमोदन भी नहीं करता।

देश मे, अमुक देश मे अहिसा नही करूगा और अमुक देश मे करूगा, इस प्रकार की मर्यादा बाधी जाती है। यह मर्यादा अणुव्रत मे है। जैसे दिशाव्रत मे प्रतिज्ञा ली जाती हे कि मैं अमुक सीमा के वाहर की हिसा का त्याग करता हू। यह अणुव्रत के अर्न्तगत है। साधुओ के लिए तो महाव्रत है, जिसका पालन सव देशो मे समान रूप से करना अनिवार्य होता हे। साधु को कोई अढाई द्वीप के वाहर ले जाय तो वह वहा भी अहिसा आदि महाव्रतो का पालन, विना किसी अपवाद के, पूर्ण रूप से करेगा। ऐसा नही है कि अढाई द्वीप के वाहर कोई दूसरे व्रत हें ओर भीतर दूसरे। इस प्रकार देश या जाति सवधी किसी भी प्रकार का अपवाद महाव्रतो मे नही होता।

यह हुई देश ओर जाति की वात। अव काल की वात लीजिए। काल के सवध मे यह छूट रखी जाती हे कि सुकाल होगा ता मैं अहिसा व्रत का पालन करूगा, किन्तु जव दुष्काल या आपत्तिकाल होगा तव हमारा आपदधर्म अलग होगा। जेसे कोई स्त्री या पुत्र को सताता हो तब अहिसा का पालन नहीं हो सकता। ऐसे अवसर पर ता आतताई को दण्ड दिया जाता हे। इस प्रकार अहिसाव्रत मे छूट रखना महाव्रत नही। शास्त्र इस छूट के साथ व्रत लेन से रोकता नही किन्तु वह अणुव्रत होगा महाव्रत की कोटि म नही गिना जायगा। महाव्रत ता वही होगा जिसका अगीकार करने के पश्चात् किसी भी

अपराधी को दण्ड न दिया जाय,—हिसा न की जाय। जो महाव्रतो को स्वीकार तो करता है, किन्तु अहिसा का निरपवाद पूर्ण रूप से पालन नही करता, वह अनाथ ही है, सनाथ नही।

काल के पश्चात् समय का भी अपवाद बतलाया गया है। महाव्रतो मे समय का भी अपवाद नही रखा जाता। समय का अर्थ है— अवसर। मान लीजिए, कोई ऐसा अपवाद रखता है कि कदाचित् मुझे कोई भयकर रोग हो जाय और उसे दूर करने के लिए हिसा का आश्रय लेना पडे अथवा मुझे कोई जीव दृष्टिगोचर न हो, परन्तु रोगनिवारण के लिए उसकी हिसा हो जाय तो छूट है, तो यह छूट वाला व्रत महाव्रत मे नही गिना जायेगा। हा अणुव्रत मे इस प्रकार की छूट रखी जा सकती है। अतएव साधु ऐसी छूट नहीं रख सकते। अगर रात्रि मे चलना पडे तो चाहे कोई जीव हो या न हो, साधु तो ओघा से जमीन पूज—पूज कर ही चलते हैं। शास्त्र मे कहा है कि ओघा साधु से पाच हाथ दूर रहे तो उसे मासिक दण्ड आता है।

अभिप्राय यह है कि जिन व्रतो मे देश, काल, समय और जाति आदि का किसी भी प्रकार का अपवाद नही रखा जाता, वे महाव्रत कहलाते है। महाव्रत सार्वभौम हैं, अतएव उनमे किसी प्रकार की छूट की गुजाइश नही है।

मुनि कहते है, राजन्! जो लोग विपुल सम्पत्ति पाकर [illegible] इधर—उधर भटकते है, वे अविवेकी है। जो अवसर मिट्टी को चाक पर चढा कर घडा बनाने का है, उसी अवसर पर अगर मिट्टी को चाक से उतार कर फेक दिया जाय तो क्या यह अवसर को गवाना नही? इसी प्रकार मनुष्य—जन्म और निर्ग्रंथता प्राप्त होने पर भी जो दु खी होते है वे अनमोल अवसर गवाते है। ऊची स्थिति पर पहुचकर नीचे गिरने का यह कैसा ज्वलत उदाहरण है? इस प्रकार गिरने वाले लोगो पर ज्ञानीजन करुणा करते है।

आप किसी को नीचे गिरते देखेगे तो उस पर करुणा करेगे परन्तु दूसरो पर करुणा करने से पहले अपने ऊपर करुणा करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम अपनी आत्मा पर ही करुणा करनी चाहिए।

देश सबधी अपवाद रखने का अर्थ यह कि मैं अमुक देश मे तो अहिसा आदि का पालन करूगा, किन्तु उससे बाहर नहीं। इस प्रकार की छूट महाव्रतो मे या पाच यमो मे नहीं हो सकती। इसी प्रकार अमुक जाति के जीवो की हिसा नही करूगा, ऐसी प्रतिज्ञा लेना अपूर्ण अहिसा है। जैन शास्त्र के अनुसार अहिसा महाव्रत मे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के जीवो की हिसा करने की छूट नही हो सकती। अतएव जिस अहिसा मे इस प्रकार की अपूर्णता है, वह अहिसा अणुव्रत के अन्तर्गत है, महाव्रत मे नही। महाव्रत मे तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवो की हिसा करने, कराने और अनुमोदन करने का मन, वचन, काय से त्याग किया जाता है।

आज महाव्रत की इस व्याख्या को न समझने के कारण बडी गडबडी उत्पन्न हो गई है। कुछ लोग कहते हैं, हम स्वय हिसा न करे, किन्तु दूसरे से करावे या हिसा का उपदेश दे तो क्या हानि है? मगर वास्तव मे जो दूसरो द्वारा की जाने वाली हिसा का अनुमोदन करता है, वह साधु नही। सच्चा साधु तो वही है जो स्वय हिसा करता नही, कराता नही और हिसा का अनुमोदन भी नही करता।

देश मे, अमुक देश मे अहिसा नही करूगा और अमुक देश मे करूगा, इस प्रकार की मर्यादा बाधी जाती है। यह मर्यादा अणुव्रत मे है। जैसे दिशाव्रत मे प्रतिज्ञा ली जाती है कि मैं अमुक सीमा के बाहर की हिसा का त्याग करता हू। यह अणुव्रत के अर्न्तगत है। साधुओ के लिए तो महाव्रत है, जिसका पालन सब देशो मे समान रूप से करना अनिवार्य होता है। साधु को कोई अढाई द्वीप के बाहर ले जाय तो वह वहा भी अहिसा आदि महाव्रतो का पालन, बिना किसी अपवाद के, पूर्ण रूप से करेगा। ऐसा नही है कि अढाई द्वीप के बाहर कोई दूसरे व्रत हैं और भीतर दूसरे। इस प्रकार देश या जाति सबधी किसी भी प्रकार का अपवाद महाव्रतो मे नही होता।

यह हुई देश और जाति की बात। अब काल की बात लीजिए। काल के सबध मे यह छूट रखी जाती हे कि सुकाल होगा तो मैं अहिसा व्रत का पालन करूगा, किन्तु जब दुष्काल या आपत्तिकाल होगा तब हमारा आपद्धर्म अलग होगा। जेसे कोई स्त्री या पुत्र को सताता हो तब अहिसा का पालन नही हो सकता। ऐसे अवसर पर तो आतताई को दण्ड दिया जाता हे। इस प्रकार अहिसाव्रत मे छूट रखना महाव्रत नही। शास्त्र इस छूट के साथ व्रत लेने से रोकता नही, किन्तु वह अणुव्रत होगा, महाव्रत की कोटि मे नही गिना जायगा। महाव्रत तो वही होगा जिसको अगीकार करने के पश्चात् किसी भी

अपराधी को दण्ड न दिया जाय,—हिसा न की जाय। जो महाव्रतो को स्वीकार तो करता है, किन्तु अहिसा का निरपवाद पूर्ण रूप से पालन नही करता, वह अनाथ ही है, सनाथ नही।

काल के पश्चात् समय का भी अपवाद बतलाया गया है। महाव्रतो मे समय का भी अपवाद नही रखा जाता। समय का अर्थ है— अवसर। मान लीजिए, कोई ऐसा अपवाद रखता है कि कदाचित् मुझे कोई भयकर रोग हो जाय और उसे दूर करने के लिए हिसा का आश्रय लेना पडे अथवा मुझे कोई जीव दृष्टिगोचर न हो, परन्तु रोगनिवारण के लिए उसकी हिसा हो जाय तो छूट है, तो यह छूट वाला व्रत महाव्रत मे नही गिना जायेगा। हा, अणुव्रत मे इस प्रकार की छूट रखी जा सकती है। अतएव साधु ऐसी छूट नहीं रख सकते। अगर रात्रि मे चलना पडे तो चाहे कोई जीव हो या न हो, साधु तो ओघा से जमीन पूज—पूज कर ही चलते हैं। शास्त्र मे कहा है कि ओघा साधु से पाच हाथ दूर रहे तो उसे मासिक दण्ड आता है।

अभिपाय यह है कि जिन व्रतो मे देश, काल, समय और जाति आदि का किसी भी प्रकार का अपवाद नही रखा जाता, वे महाव्रत कहलाते हैं। महाव्रत सार्वभौम हैं, अतएव उनमे किसी प्रकार की छूट की गुजाइश नही है।

मुनि कहते है, राजन्! जो लोग विपुल सम्पत्ति प्राप्त करके भी इधर—उधर भटकते हैं, वे अविवेकी है। जो अवसर मिट्टी को चाक पर चढा कर घडा बनाने का है, उसी अवसर पर अगर मिट्टी को चाक से उतार कर फेक दिया जाय तो क्या यह अवसर को गवाना नहीं? इसी प्रकार मनुष्य—जन्म और निर्ग्रंथता प्राप्त होने पर भी जो दु खी होते हैं वे अनमोल अवसर गवाते हैं। ऊची स्थिति पर पहुचकर नीचे गिरने का यह कैसा ज्वलत उदाहरण है? इस प्रकार गिरने वाले लोगो पर ज्ञानीजन करुणा करते है।

आप किसी को नीचे गिरते देखेगे तो उस पर करुणा करेगे परन्तु दूसरो पर करुणा करने से पहले अपने ऊपर करुणा करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम अपनी आत्मा पर ही करुणा करनी चाहिए।

मुनि कहते है— 'राजा! कायर लोग अहिसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा करते है, लेकिन वे अग्नि, पानी आदि का आरम्भ भी करते हैं, लोगो से लडाई—झगडा एव निर्दयता का व्यवहार भी करते है, क्षमा को पास भी नही आने देते और बात—बात मे क्रोध करते रहते हैं। ऐसा करने वाले अहिसा महाव्रत का पालन करने वाले नही हैं। अहिसा महाव्रत का पालन करने वाला अपनी प्रतिज्ञा को कभी भी न भूलेगा, किन्तु यह ध्यान मे रखेगा कि मैं अहिसा

महाव्रत को स्वीकार करके सयम मे प्रव्रर्जित हुआ हू, मैंने ससार के सब जीवो को अपना मित्र माना है, फिर किसी जीव की हिसा कैसे करू? किसी जीव के शरीर या मन को कैसे दुखाऊ? किसी पर क्रोध करू? ऐसा करने पर मैं अहिसा महाव्रत का पालन करने वाला कैसे रह सकता हू?

राजा अहिसा महाव्रत का पालन करने वाला, किसी दूसरे जीव को भी दु ख नही देता है और अपने–आप को भी दु खी नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति को चाहे कोई मारे, गाली दे, अपमानित करे और घोर कष्ट देकर प्राण भी हरण करले, तब भी वह प्रसन्न ही रहता है। अपने–आप को दु ख मे तो मानता ही नही, न प्रतिहिसा या वैर–विरोध के भाव ही हृदय मे आने देता है। ऐसे मनुष्य मे, अहिसावादी विचारता है कि 'यह व्यक्ति जो मार रहा है या गाली दे रहा है, आत्म–स्वरूप को भूल कर, पतित हो रहा है तथा हिसा कर रहा है। यह दूसरे को दु ख देने वाला, अपने आत्मा को नीची दशा मे गिरा कर ही, दूसरे को दु ख देता है। यदि इसका आत्मा ऊर्ध्व दशा मे होता तो यह ऐसा करता ही क्यो? इसमे काम–क्रोध आदि दुर्गुण विद्यमान हैं, तभी तो ऐसा कर रहा हे। इसके साथ मै भी ऐसा करने लगू, मैं अपने आत्मा को दु खी करू, में भी अपने मे वैर–विरोध या क्रोध आने दू तो हिसा करने वाले मे और मुझ अहिसा का पालन करने वाले मे, क्या अन्तर रहा? फिर मैंने, प्राणीमात्र से मित्रता का क्या व्यवहार किया? मुझे दु ख देने के नाम पर, यह अपने आत्मा को दु खित कर रहा है। यदि मैं भी इसी तरह अपने आत्मा को दु खित करू, जिसे यह दु ख मान रहा हे, उसे ही मैं भी दु ख मानू तो मैं सनाथ कैसा? फिर तो मैं भी इसी की तरह अनाथ हुआ।' इस प्रकार के विचार रखकर, अहिसा महाव्रत का पालन करने वाला, आप स्वय भी दु खी नही होता न किसी दूसरे को ही दु खी करता हे। वह तो प्रत्येक दशा मे आनन्दित ही रहता हे। कायर लोग अहिसा महाव्रत के पालन की प्रतिज्ञा लेकर भी इसके विपरीत व्यवहार करते हैं। वे लोग, प्रकट या अप्रकट हिसा को भी अहिसा के ही अन्तर्गत वतलाते हैं और इस प्रकार अपने–आप को अहिसक घोपित करते रहते हैं।

सयम लेने के समय स्वीकार किये जाने वाले पाच महाव्रतो मे दूसरा सत्य है। इस सत्य महाव्रत का पूर्णतया पालन तभी होता है, जव मन वचन और काया से झूठ का त्याग किया जावे। सत्य महाव्रतधारी कभी और किसी भी दशा मे झूठ का प्रयोग नही करता। भय क्रोध हास्य आदि के वश होकर

झूठ नही बोलता। सयम मे प्रव्रजित व्यक्ति, झूठ तो बोलता ही नही, लेकिन ऐसा सत्य भी नही बोलता, जिसके कारण दूसरे को दु ख पहुचे।

सनाथी मुनि कहते है– राजन्! कायर लोग प्रतिज्ञा करके भी इस सत्य महाव्रत का पालन नही करते, झूठ को काम मे लाने से किचित् भी नही हिचकिचाते और ऐसा करके भी अपने–आप को, सत्य महाव्रत का पालन करने वाला बतलाते है।

तीसरा महाव्रत अदत्तादान त्याग है। कोई वस्तु, चाहे वह किसी के अधिकार मे हो या न हो, बिना किसी के दिये लेना, अदत्तादान है। तीसरे महाव्रत का पालन करने वाला, ऐसी कोई भी वस्तु ग्रहण नही करता, जो किसी के द्वारा दी हुई नही हो। उसे यदि मार्ग पर की धूल की आवश्यकता होगी तो वह भी किसी–न–किसी की स्वीकृति से लेगा, बिना स्वीकृति न लेगा। वह विचारेगा, ससार की समस्त वस्तुओ पर से मै अपना अधिकार उठा चुका हू। मेरे अधिकार मे केवल वे ही वस्तुए है, जो सयम की रक्षा के लिए आवश्यक है। इसलिए मै अपने अधिकार से परे की कोई वस्तु, बिना किसी के दिये, नही ले सकता। इस प्रकार के विचार से, वह अपने अधिकार से बाहर की छोटी से छोटी और आवश्यक से आवश्यक वस्तु भी, बिना किसी के दिये, न लेगा। यहा तक कि वह अपने सहधर्मी एव साथी सगी के अधिकार की वस्तु भी, बिना उसकी स्वीकृति के, अपने काम मे, या अपने अधिकार मे न लेगा। वह ऐसा कोई कार्य नही करता, जो शास्त्राज्ञा के विरुद्ध हो। उसको यह ध्यान रहता है कि कही मुझे देव, गुरु, सहधर्मी और गाथापति का अदत्त न लगे।

जिस काम के करने से शास्त्र रोकता है, उसे करना और जिसके करने को कर्तव्य बताता है, उसे न करना, देव–अदत्त है। गुरु जो नियम बनावे या जो आज्ञा दे, उसका पालन न करना, और उसके विरुद्ध करेगा, गुरु–अदत्त है। अपने साथी साधुओ के साथ विचर रहे है, उस समय भिक्षा मे भोजन की कोई अच्छी वस्तु मिल गई और उसे अकेले ही खा लिया, साथी सहधर्मियो को उस वस्तु से वचित रख दिया या उनकी स्वीकृति के बिना उनकी कोई वस्तु ले ली, तो यह सहधर्मी–अदत्त है। राजाज्ञा का भग करना, यह राजा का अदत हे और किसी सार्वजनिक या व्यक्ति–विशेष के स्थान या पदार्थ को गृहस्थ की आज्ञा बिना काम मे लेना गाथापति (गृहपति) का अदत्त है।

नाथी मुनि कहते हैं— राजन्! सयम लेकर भी कायर लोग इस तीसरे महाव्रत का पालन नही करते और फिर भी अपने— आप को अदत्तादान का त्यागी वतलाते हैं।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। इस महाव्रत के पालन में अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करना पडता है। सयम में प्रव्रजित एव इस महाव्रत का धारक, किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन नहीं करता। वह इससे सवधित उन समस्त नियमों के पालन का पूरा ध्यान रखता है, जो शास्त्र में वतलाये गये हैं। इस महाव्रत को धारण करने वाला केवल शरीर से नहीं, किन्तु मन ओर वचन से भी, मैथुन का चितन या सेवन नहीं करता।

सनाथी मुनि कहते हैं—राजन्! कायर लोग, सयम लेकर भी इस चोथे महाव्रत का पालन नहीं करते। वे किसी—न—किसी रूप मे मैथुन का सेवन करते रहते हैं, ब्रह्मचर्य की रक्षा के नियमो की अवहेलना करते हैं ओर ऐसा करके भी अपने—आप को पूर्ण ब्रह्मचारी वतलाते हैं।

पाचवा महाव्रत अपरिग्रह है। इस महाव्रत मे परिग्रह का बिलकुल त्याग किया जाता है। किसी वस्तु पर ममत्व रखने का नाम ही परिग्रह है, फिर वह चाहे सोना—चादी हो या कपडा—कागज आदि। छोटी से छोटी एव वडी से वडी वस्तु— यदि उस पर ममत्व रखा तो वह परिग्रह मे है। इस महाव्रत का पालन करने वाला और किसी वस्तु पर ममत्व रखना तो दूर रहा, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। उसके शरीर को चाहे कोई क्षत—विक्षत कर डाले या नष्ट कर डाले, तव भी उसे चिन्ता नही होती। वह किसी भी छोटी या बडी, ऐसी वस्तु को अपने पास नहीं रखता, जिसकी सयम पालने मे आवश्यकता न हो।

सनाथी मुनि कहते हैं— राजन्, सयम लेकर भी कायरो से वस्तु का ममत्व नहीं छूटता। अपरिग्रह व्रत लेकर भी वे घरवार, स्त्री, पुत्र या शिष्य—शिष्या से ममत्व रखते हैं। उनसे स्वीकार किये हुए अपरिग्रह व्रत का पालन नहीं होता। फिर भी वे अपने—आप को अपरिग्रही ही कहते हे।

राजा! सयम लेने के समय पाच महाव्रत को तीन करण ओर तीन योग से पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती हे ओर हिसा, झूठ, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य ओर परिग्रह का तीन करण, तीन योग से त्याग किया जाता हे। गृहस्थो द्वारा स्वीकार किये जाने वाले पाच अणुव्रतो मे जो सकुचितपना रहता हे, इन महाव्रतो मे वह सकुचितपना नही है, किन्तु इनमे विशालता हे। गृहस्थ लोग इन व्रतो को स्थूल रूप मे स्वीकार करते हैं और स्थूल व्रत मे भी आगार

रखते है। वे स्थूल अहिसा व्रत स्वीकार करके, अपराधी को दण्ड देने, स्थूल सत्यव्रत स्वीकार करके बिना जानी बात के लिए झूठ का प्रयोग हो जाने, स्थूल अदत्तादान व्रत स्वीकार करके अपने मित्र, भाई आदि की वस्तु बिना दिये लेने, स्थूल ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करके मर्यादित परिग्रह का आगार रखते है। लेकिन सयम लेने वाले किसी भी प्रकार का आगार नही रखते। गृहस्थो के व्रत मे स्थूल एव आगार की जो सकुचितता है, साधु उस सकुचितता से निकल जाता है। वह इन व्रतो को सूक्ष्म रूप से स्वीकार करता है। गृहस्थ दो करण, तीन योग आदि भेदो से व्रत स्वीकार करता है लेकिन साधु तीन करण, तीन योग से व्रत स्वीकार करते हैं।

राजा! पचमहाव्रत को स्वीकार करके फिर उनका भली प्रकार पालन न करने वाले, उनके पालन मे प्रमाद करने वाले पासत्था कहलाते हैं। पासत्था लोग पचमहाव्रत के पालन मे शिथिलता करते है, अर्थात् भली प्रकार पालन नही करते। किन्तु सासारिक सुखो की चाह करते हैं और ऐसा करके भी अपने–आप को साधु बतलाते है। यदि कोई उनसे पूछता है कि तुम अपने आपको साधु कैसे कहते हो? तो वे कहते है कि हमने पचमहाव्रत धारण किये है। लेकिन राजा! पचमहाव्रत धारण करने मात्र से साधु नही होता, साधु तो पचमहाव्रत का पालन करने से होता है। सनाथ तभी तो हो सकता है जब पचमहाव्रत का भली प्रकार पालन करे, प्रमाद न करे। पचमहाव्रत धारण करके भी जो उनका पालन नही करता है, वह पासत्था, एक अनाथता से निकल कर दूसरी अनाथता मे पड जाता है।

राजा! पासत्था का मन स्थिर नहीं रहता है। महाव्रतो का पालन तभी हो सकता है, जब मन चचल न हो, किन्तु स्थिर हो। महाव्रतो का धारण तथा अव्रतो का त्याग मन से किया जाता है। जब मन ही अस्थिर हो, तब की हुई प्रतिज्ञा का ध्यान एव उसका पालन कैसे हो सकता है? मन के अस्थिर रहने से वह पासत्था, जानबूझ कर भी महाव्रतो का उल्लघन करता है, फिर भी वह स्वय महाव्रत का उल्लघन नही समझता।

आउत्तया जस्स य अत्थि कोई, इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगुछणाए, न वीरजाय अणुजाइ मग्ग ।।40।।

अर्थ–वह कायर, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और परिष्ठापनिका समिति मे तनिक भी यतना नही करता, अर्थात् चलने, बोलने, आहारादि लेने, किसी उपकरण को धरने–उठाने और परठने मे किचित् भी सावधानी नही रखता। ऐसा करने वाला कायर वीरो के मार्ग पर नही चल सकता।

व्याख्यान– मुनि पहले एक प्रकार की अनाथता बतला चुके हैं। यहा दूसरे प्रकार की अनाथता बतला रहे हैं। वे निर्ग्रंथ धर्म को प्राप्त करके पतित हो जाने वालो की बात कह रहे है। इसको कहने का उद्देश्य यह है कि एक मनुष्य दूसरे को पतित हुआ देखकर साहसहीन हो जाता है और दूसरा उसी को पतित देखकर साहसहीन हो जाता है।

पचमकाल की विषमता देखकर अज्ञानी डर जाते है, किन्तु ज्ञानी उन्हे देखकर नवीन ही विचार करते है। वे सोचते हैं– यह पचम आरा तो है ही, इसमे विषमता होना आश्चर्य की बात नही। इस विषमता से बचने के लिए हमे अधिक दृढ होना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी और अधिक दृढ होते हैं और अज्ञानी जीव शिथिल बनते है। परन्तु वास्तव मे इस प्रकार पतित होने वाले लोगो को देखकर प्रत्येक को अधिक सावधान होना चाहिए।

एक आदमी पत्थर की ठोकर खाकर गिर जाता है तो दूसरा आदमी उसे गिरा देखकर स्वय भी गिरता है या अधिक सावधान बनता है? वह यही सोचता है कि यह आदमी ठोकर खाकर गिर गया है तो मुझे अधिक सावधान होकर चलना चाहिए और ऐसा सोचकर वह सावधानी के साथ चलता है। इसी प्रकार एक को सयम से पतित हुआ देखकर दूसरे को अधिक सतर्क होना चाहिए।

महाव्रतो मे किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस सबध मे पातजल योगदर्शन मे कहा है –

वितर्क बाधने प्रतिपक्षभवनम्

इस कथन का सरल अर्थ यही है कि वितर्कों को दूर करने के लिए प्रतिपक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। वितर्क क्या है और उसकी प्रतिपक्ष भावना क्या है यह विचार बहुत लम्बा है। यहा तो सक्षेप मे ही बतलाता हू।

वितर्क का अर्थ है उलटा तर्क। जैसे पाच महाव्रतो से विपरीत हिसा असत्य चोरी मैथुन और लोभ–तृष्णा है। महाव्रत धारण कर लिए पर उनसे विपरीत हिसा आदि के वितर्क जब आड़े आए तो उस समय क्या करना चाहिए? इस विषय मे कहा है कि वितर्कों को दूर करना चाहिए हटा देना चाहिए। तब प्रश्न खड़ा होता है कि उन्हे किस प्रकार दूर किया जाय? उस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि प्रतिपक्ष भावना के द्वारा उन वितर्कों को दूर करना चाहिए।

यहा महाव्रतो के विषय मे कहा गया है किन्तु अणुव्रतो के विषय मे भी यही बात है। अणुव्रतो मे भी जब वितर्क खडे हो तो प्रतिपक्षी भावनाओ द्वारा उनका निवारण करना चाहिए।

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाच महाव्रत है। अहिसा का साधारण अर्थ है– हिसा न करना। कई लोग कहते है कि अहिसा तो कायरो का सहारा है, किन्तु अहिसा कायरो की नही, वीरो की वस्तु है। सच्चा वीर ही अहिसा का पालन कर सकता है। सच्चा अहिसक इतना वीर होता है कि वह इन्द्रो को भी हरा सकता है। वह निरन्तर लडता ही रहता है, विपक्ष का विनाश करता ही रहता है। आप कह सकते है– अहिसक के हाथ मे तलवार तो होती नही, फिर वह किस प्रकार लडता है? इसका उत्तर यह है कि उसके पास जीवरक्षा का साधन जो रजोहरण होता है, वह अहिसक की तलवार है। यह रजोहरण भी एक द्रव्यचिह्न है। अहिसक के पास सच्चा और अमोघ शस्त्र तो उसकी भावना ही है। अहिसा के विपक्ष को हटाने की जो भावना है, वही अहिसक का शस्त्र है।

अभिप्राय यह है कि विपक्ष को हटाने के लिए प्रतिपक्षी भावना का सेवन करना चाहिए। अहिसा का वितर्क हिसा है। इस वितर्क को दूर करने के लिए हिसा की प्रतिपक्षी भावना– अहिसा को अपनाना चाहिए। अर्थात् हिसा के वितर्क को दूर करने के लिए मैत्री, पमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का अवलम्बन लेना चाहिए। बालभाषा मे भी कहा –

गुणीजनो को वन्दना, अवगुण–जन मध्यस्थ।
दुखी देख करुणा करे, मित्र भाव समस्त।

ये चार भावनाए है। पद्य मे पहली प्रमोद भावना बतलाई है, अर्थात् गुणीजनो को देखकर वन्दना करके प्रमोद प्राप्त करना चाहिए। यहा गुणीजनो के गुणो का अभिप्राय व्यावहारिक गुण नही है। क्योकि व्यावहारिक गुण जितने ज्यादा होते है, उतनी ही धमाल ज्यादा होती है। व्यावहारिक गुण की दृष्टि से ससार मे जो गुणी है, देव उन सबसे गुणी है। वे तीन ज्ञान के स्वामी होते है, मगर उन्हे वन्दना नही की जा सकती। यहा वे ही गुणीजन समझने चाहिए जो तीन गुप्तियो और पाच समितियो का पालन करते हैं। इस प्रकार सयम गुण को धारण करने वाले के प्रति प्रमोद भावना रखकर वन्दना करनी चाहिए।

दूसरी मध्यस्थ भावना है। जो खराब है, हिसक है उसके प्रति भी मध्यस्थ भाव रखकर विचार करना चाहिए– यह आत्मा हिसा करता है इसी

कारण खराब है, अगर यह हिसा का त्याग करके अहिसक बन जाय तो मेरे लिए वन्दनीय–पूजनीय बन सकता है। अर्जुनमाली हिसक था, परन्तु जब वह भगवान् का शिष्य बनकर अहिसक बन गया, तब वह भी वन्दनीय हो गया। सुदर्शन ने भी उसे वन्दना की। क्या ऐसे अवगुणी को वन्दना करना उचित था? सुदर्शन का उसे गुरु मानना क्या अचित था? पर गुणो के ग्राहक पहले की बातो को भूल कर गुणो को ही ग्रहण करते है।

इस प्रकार हिसक अहिसक बन जाए, ऐसी भावना रखनी चाहिए। भावना रखने पर भी अगर उनकी हिसा न छूटे तो उनके प्रति मध्यस्थ भावना तो अवश्य ही रखनी चाहिए। किसी भी स्थिति मे उनके प्रति क्रोध नही करना चाहिए।

कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए देव पिशाच का रूप धारण करके, तलवार लेकर आया था। फिर भी कामदेव ने उस पर क्रोध नही किया। उसने तो यही विचार किया कि यह पिशाच मेरी परीक्षा करने आया है कि मुझे परमात्मा के प्रति प्रीति है या नही? इसके सिवाय इस पिशाच ने मुझे 'अप्पत्थिपत्थिया' अर्थात् अनिष्ट की कामना करने वाला बतलाया है, सो उसका यह कहना ठीक ही है। जो वस्तु अवाछनीय है, उसकी वाछा नही करना चाहिए। इस प्रकार देव का कथन है तो सत्य, मगर अन्तर यही है कि यह धर्म को अवाछनीय मानता है और मैं पाप को अवाछनीय समझता हू। धर्म को अवाछनीय समझने के लिए इसे इतना कष्ट भोगना पड रहा है। इस बेचारे मे इतना दु ख भर गया है कि इसका दु ख इसके शरीर से बाहर निकल कर मेरे समीप तक आ पहुचा है। यह बडा ही दु खी है। अतएव इस पर करुणा करनी चाहिए। प्रभो! यही अभ्यर्थना है कि इसका भी कल्याण हो।

बहुत बार ऐसा होता है कि दूसरो मे कोई बुराई देखकर मनुष्य ऐसा कर बैठता है कि अपने अन्दर भी बुराई उत्पन्न हो जाय या अपने सद्गुण भी नष्ट हो जाए! आप ऐसा न कर बैठे, इस बात का ध्यान रखिए। महापुरुषो के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है कि सद्गुणो के द्वारा दुर्गुणो पर विजय प्राप्त हो जाय। सुदर्शन सेठ ने अर्जुनमाली को प्रतिपक्षी भावना द्वारा ही जीता था। भाव की बात अलग है, पर ऊपर का श्रम तो अर्जुनमाली को ही अधिक पडा था, फिर भी विजय सुर्दशन को ही प्राप्त हुई। इसी प्रकार कामदेव को धर्मच्युत करने के लिए देव को कितना अधिक श्रम करना पडा था। उसे पिशाच का रूप धारण करना पडा था परन्तु जब आसुरी प्रकृति के सामने दवी प्रकृति प्रकट हुई तव देव पराजित होकर भाग गया। दैवी प्रकृति के

प्राकट्य से आसुरी प्रकृति विलीन हो गई। अत हिसा का मुकाबला करने के लिए अहिसा की भावना भानी चाहिए।

तीसरी करुणा भावना है। जिनके हृदय मे करुणा होती है, वे कदापि यह विचार नही करते कि दूसरा मरता है तो भले मरे, हमे तो अपने आनन्द से मतलब। करुणा भावना वाला तो दूसरो के हित के लिए अपने शरीर का भी उत्सर्ग कर देता है। वह दूसरो को दु खी देखकर स्वय दु ख का अनुभव करता है। अनुकम्पा का अर्थ ही यह है– 'अनुकूल कम्पन चेष्टनम् इति अनुकम्पा।' अर्थात् दूसरे को जो दु ख है, वह दु ख मुझे ही है, इस प्रकार की भावना उत्पन्न होना अनुकम्पा है।

आप लोग अहिसक कहला कर भी अगर घर के लोगो पर और नौकरो–चाकरो पर भी अनुकम्पा न रखे तो क्या यह ठीक कहलायेगा ? कोई नौकर बीमार हो, फिर भी उससे काम लेना अथवा उसका वेतन काट लेना अहिसक को शोभा नही देता। अग्रेज लोग भी अपने बीमार नौकरो की सार–सम्भाल रखते है और बीमारी की अवस्था मे उनका वेतन नही काटते तो फिर आप अहिसक होकर ऐसा करे, वह क्या आपको शोभा देता है ? कदापि नही।

जिनके हृदय मे अनुकम्पा या करुणा है, वे दूसरो के दु ख को अपना दु ख मानते हैं और दूसरो को दु खमुक्त करने के लिए सभी शक्य प्रयत्न करते हैं। पर आप क्या करते हैं, इस पर विचार करो। मानलो आपके पास दो कोट है, और आपको सिर्फ एक कोट की आवश्यकता है। एक कोट बेकार पडा है। ऐसी स्थिति मे कोई गरीब आदमी तुम्हारे सामने कडकडाती हुई सर्दी मे थर–थर काप रहा है। क्या तुम अपना कोट उसे दे सकोगे? यह तो नही कहोगे कि मरे तो भले मरे, मुझे क्या मतलब? अगर तुम ऐसा कहते या सोचते हो तो तुम्हारे हृदय मे करुणा नही है। सच्चा करुणावान तो वही है जो दूसरो के दु ख का प्रतिकार करने के लिए या उन्हे दु ख न होने देने के लिए स्वय दु ख सहन कर लेता है। धन्य है वे धर्मरुचि अनगार, जिन्होने चीटियो की अनुकम्पा करने के लिए स्वय कटुक तूम्बे का शाक खा लिया और अपने प्राण दे दिए, परन्तु चीटियो की रक्षा कर ली। और धन्य हैं भगवान् अरिष्टेनेमि, जिन्होने पशुओ की रक्षा के लिए राजीमती जैसी सन्नारी का भी परित्याग कर दिया। इन महापुरुषो ने तो करुणा के लिए ऐसा अपूर्व और अद्भुत त्याग किया मगर आप से गरीबो की करुणा के लिए फैंसी कपडे भी नहीं त्यागे जाते।

सच्चा दयालु सदैव यही विचार करता है कि मेरे किसी भी काम से किसी को तनिक भी दुःख नहीं होना चाहिए।

चौथी मैत्री भावना है। इस भावना के अनुसार ससार के समस्त प्राणियो को अपना मित्र बनाना चाहिए। आप प्रतिक्रमण मे तो प्रतिदिन यह पाठ बोलते है–

मित्ती मे सव्वभूएसु

अर्थात् समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव है।

सद्भाग्य से आपको यह पाठ तो याद है, परन्तु पाठ का उच्चारण करने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मत समझो, किन्तु उस पाठ को जीवन मे उतारकर सब जीवो को अपना मित्र बनाओ।

इस प्रकार उपर्यक्त चार भावनाओ से अहिसा के विषय मे उत्पन्न होने वाले कुतर्कों का नाश होगा और अहिसा भाव प्रकट होगा। ये चार भावनाए महाव्रतो को अगीकार करके पुन उनसे पतित होने से बचाती है।

महाव्रतो मे किस प्रकार स्थिर रहा जा सकता है, इस सवध मे थोडा कहा जा चुका है, अब भी उसी सबध मे कुछ कहना है।

यद्यपि गृहस्थ महाव्रतो को स्वीकार नही करते, किंतु अणुव्रतो को स्वीकार करते हैं, फिर भी अणुव्रतो के आधार पर महाव्रतो की सिद्धि होती है। अणुव्रत स्वय गृहस्थो के लिए तो लाभदायक हैं ही, साथ ही दूसरो के लिए भी लाभप्रद हैं। इसी प्रकार महाव्रत भी अपने ही लिए नही, किन्तु दूसरो के लिए भी लाभप्रद हे। अणुव्रत या महाव्रत का खण्डन करने वाला अपनी हानि तो करता ही हे, दूसरो की भी हानि करता हे। अतएव महाव्रत क्या है ओर उन्हे किस प्रकार स्थिर रखा जा सकता हे, यह बात समझने योग्य हे। कुछ लोगो को सत्य को समझना भी कठिन मालूम होता हे, पर सत्य बात को समझने से ओर सत्य को स्वीकार करने से भी वहुत लाभ होता है।

राजा श्रेणिक सत्य को स्वीकार करने मे सकोच नहीं करता था। इसी कारण अनाथी मुनि की बात समझने मे उसे देर नहीं लगी। अनाथी मुनि कहते हैं– राजन्! जो कायरता के कारण महाव्रतो का पालन करना छोड देता हे, वह अनाथ ही हे।

महाव्रतो की रक्षा प्रतिपक्षी वस्तु का नाश करने से होती हे। जिसके द्वारा एक पक्ष को बाधा पहुचती हे, वह उसका प्रतिपक्षी कहलाता हे। विल्ली को दूध आर कोवे को दही की रक्षा का काम सोंपा जाय तो वे उन वस्तुओ को विगाडेगे ही। विल्ली से चूहे की रक्षा करवाई जाय तो केसे होगी ?

बिल्ली चूहे की पतिपक्षी है। इसी पकार महाव्रत के जो प्रतिपक्षी है, उनसे महाव्रतो को बचाते रहोगे तो ही उनकी रक्षा होगी। अहिसा से विरुद्ध हिसा, सत्य से विरुद्ध असत्य, अस्तेय से विरुद्ध स्तेय (चोरी), ब्रह्मचर्य से विरुद्ध मैथुन और अपरिग्रह से विरुद्ध ममत्वभाव है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि हिसा करने से अहिसा व्रत का नाश होता है या हिसा कराने से अथवा हिसा का अनुमोदन करने से ? इस प्रश्न के उत्तर मे जैन शास्त्र मे और पातजल योगदर्शन मे भी कहा गया है कि तीनो बाते अहिसा से विरुद्ध समझनी चाहिए। हिसा करने से, हिसा कराने से और हिसा का अनुमोदन करने से भी अहिसा का नाश होता है।

कुछ लोगो का कथन है कि यदि स्वय हिसा न की जाय और दूसरो से कह कर कराई जाय तो क्या बाधा है? परन्तु जैसे हिसा करना अहिसा का प्रतिपक्ष है, उसी प्रकार हिसा कराना और उसका अनुमोदन करना भी प्रतिपक्ष है। अतएव तीनो कारणो से अहिसा का नाश होता है।

एक प्रश्न और उठता है। वह यह कि स्वय हिसा करने से अधिक पाप होता है या कराने से? इस प्रश्न का एकात रूप मे कोई उत्तर नही दिया जा सकता। इस सबध मे गम्भीर विचार करने से प्रतीत होगा कि स्वय अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य मे जो यतना की जा सकती है, वह दूसरो से करवाने पर नही हो सकती। इसके अतिरिक्त अपने हाथ से होने वाले कार्य मे मर्यादा की जितनी रक्षा हो सकती है, उतनी दूसरो के हाथो कराने मे नही हो सकती। इस दृष्टि से देखा जाय तो कभी–कभी स्वय करने की अपेक्षा कराने मे अधिक हिसा हो जाती है और कभी–कभी अपने हाथ से करने मे भी, विवेक न रहने पर, अधिक हिसा हो सकती है। अतएव एकात रूप से नही कहा जा सकता है कि स्वय करने मे अधिक पाप है या कराने मे अधिक पाप है। परन्तु देखा जाता है कि लोग स्वय आलस्य मे पडे रहते है और दूसरो से काम कराते हैं, इस कारण ससार मे आलस्य बढ गया है। शास्त्र मे बहत्तर कलाओ को बतलाने का अभिप्राय यही है कि लोग आपस मे सघर्ष न करे और विवेकपूर्वक अपना कार्य करे।

साराश यह है कि साधु स्वय हिसा न करे, किन्तु दूसरो से करावे तो क्या बाधा है, ऐसा कहने वालो को समझना चाहिए कि हिसा करना कराना और हिसा का अनुमोदन करना, ये तीनो अहिसा के प्रतिपक्षी है और इस कारण तीनो ही वर्ज्य है।

पातजल योगसूत्र मे आगे कहा है– क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत होने से हिसा होती है। यहा यद्यपि मोह को अन्त मे गिनाया है तथापि ज्ञानियो के कथनानुसार हिसा आदि जितने भी पापकर्म होते हैं, सब मोह से ही होते हैं। सत् वस्तु को असत् और असत् को सत् मानना मोह है। जैन शास्त्र मे इसी को मिथ्यात्व कहा है।

स्वय हिसा करना, दूसरे से कराना ओर हिसा का अनुमोदन करना, इस प्रकार हिसा के तीन भेद हुए। फिर क्रोध लोभ और मोह से हिसा करना, कराना और अनुमोदन करना, इस प्रकार हिसा के नौ भेद हो जाते हैं। क्रोध, लोभ और मोह भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से, तीन–तीन प्रकार के हैं। इनमे उत्कृष्ट (अतितीव्र) क्रोध होता है वह जघन्य हिसा करता है और मध्यम क्रोध वाला मध्यम हिसा करता है। इस तरह पूर्वोक्त नौ भेदो के भी तीन–तीन भेद हो जाते हैं, अतएव हिसा सताईस प्रकार की है। यह सताईस प्रकार की हिसा मन से भी की जाती है, वचन से भी की जाती है और काय से भी की जाती है। अतएव हिसा के 27X3=81 भेद होते हैं।

ये सब भेद जीवो को दु ख देने वाले हैं और जन्म–मरण को बढाने वाले हैं। इस अनर्थ से बचने के लिए हिसा की प्रतिपक्षी भावना भानी चाहिए। जो हिसा की प्रतिपक्षी भावना नही भाता, वह स्वय भी पतित होता है और दूसरे को भी पतित करता है। इसी कारण ऐसे मनुष्य अनाथ मुनि के कथनानुसार अनाथ हैं।

यह मुख्य रूप से साधुओ की बात हुई। श्रावको के विषय मे भी विचार करे। जब अणुव्रतो के विषय मे आपके चित्त मे वितर्क उठे उस समय आप प्रतिपक्षी भावना का अवलम्बन लेगे तो आपका भी कल्याण होगा और साथ ही दूसरो का भी कल्याण कर सकोगे।

मन मे वितर्क उत्पन्न होने से हृदय मे बहुत उदासीनता आ जाती है। प्रतिपक्षी भावना का आश्रय लेने से उन वितर्कों का नाश हो जाता है और अन्त करण मे एक प्रकार का अनूठा तेज प्रस्फुटित होता है। महाभारत के युद्ध मे अर्जुन के मन मे उदासीनता आ गई थी ओर उदासीनता के कारण शिथिल होकर उसने धनुष एक ओर फेक दिया था, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उसे बोधप्रद वचन सुनाये तो उसमे पुन तेज का सचार हुआ और वह पूर्ववत् तेजस्वी बन गया। इसी प्रकार श्रावक जब तक साधु के सद्वचन नही सुनता तब तक वह उदासीन रहता हे? सद्वचन सुनने से उसकी उदासीनता हट जाती हे और नूतन तेजस्विता आ जाती है।

जब महाभारत युद्ध होना निश्चत हो गया तब कौरव और पाण्डव दोनो विजयलाभ की कामना करने लगे। भावना तो दोनो की ही विजय–लाभ की थी, किन्तु एक पक्ष सत्य के द्वारा विजयलाभ करना चाहता था और दूसरा पक्ष सत्य से विमुख होकर भी विजय प्राप्त करना चाहता था।

दुर्योधन ने सोचा–कृष्ण बडे ही दूरदर्शी और नीतिज्ञ है। वह हमारे पक्ष मे आ जाए तो हमारी विजय असदिग्ध हो सकती है। उधर अर्जुन ने भी यही सोचा– यदि कृष्णजी हमारी ओर हो तो हमारी विजय मे कोई सशय ही न रहे। इस प्रकार कृष्ण को अपने–अपने पक्ष मे दोनो लाना चाहते थे। दोनो उन्हे युद्ध का आमन्त्रण देने गये। कृष्ण उस समय शयन कर रहे थे। उन्हे सोया देख दुर्योधन विचार करने लगा– कृष्ण सो रहे हैं, तब तक मुझे कहा बैठना चाहिए? मैं राजा हू और विजय का अभिलाषी हू, अतएव मुझे अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार इनके सिरमौर बैठना चाहिए। यह सोचकर वह उनके सिर की ओर बैठ गया। परन्तु अर्जुन कृष्णजी के प्रति दास भाव– नम्रभाव रखता था। उसने सोचा– मुझे कृष्णजी को अपने पक्ष मे लेना है तो उनके प्रति नम्रता प्रदर्शित करनी चाहिए। यह विचार कर वह उनके पैरो की ओर खडा हो गया।

कृष्ण यथासमय जागे। मनुष्य जब सोकर उठता है तब उसका शरीर स्वाभाविक रूप से पैरो की तरफ होता है। कृष्णजी सोकर उठे तो उनका मुख अर्जुन की ओर फिरा और पीठ दुर्योधन की तरफ हुई। यह देखकर दुर्योधन सोचने लगा– अर्जुन पहले आमन्त्रण दे देगा और सम्भव है कि ये उसके आमत्रण को स्वीकार भी कर ले, अतएव मुझे भी अपने आने का प्रयोजन बता देना चाहिये। यह सोचकर वह बोला– महाराज! मै भी आपकी सेवा मे उपस्थित हू। मै भी आपके मस्तक की सेवा कर रहा था?

दुर्योधन की आवाज सुनकर कृष्णजी ने उसकी ओर नजर फेरी और कहा– अच्छा, तुम भी आये हो?

इसके बाद उन्होने दोनो के आने का प्रयोजन पूछा। दोनो ने अपना–अपना प्रयोजन कह सुनाया। कृष्ण ने कहा –दोनो मेरे पास आये हो और दोनो को ही सतुष्ट करना चाहता हू। देखो, एक ओर मेरी यादवी सेना है ओर दूसरी ओर अकेला मै हू। इनमे से जिसे तुम चाहो, पसन्द कर सकते हो। लेकिन अर्जुन तुम अभी शात रहो। पहले दुर्योधन को माग लेने दो। दुर्योधन के मागने से जो शेष रहे, उसी मे तुम सतोष कर लेना।

कृष्ण का कथन सुनकर दुर्योधन प्रसन्न हुआ और सोचने लगा– युद्ध मे सेना की आवश्यकता होती है। वहा अकेले कृष्ण क्या काम आएगे? मुझे

सेना माग लेनी चाहिए। यह सेना पाण्डवो को पराजित करने मे काम आएगी। मेरा भाग्य प्रबल है कि कृष्ण ने पहला अवसर मुझे दिया है। आखिर मेरी शक्ति का प्रभाव इन पर भी पड ही गया।

इस प्रकार मन ही मन विचार कर दुर्योधन बोला— आप मुझे यादवी सेना दे दीजिए।

कृष्ण— ठीक है। यादवी सेना तुम्हारे पक्ष मे युद्ध करने आएगी। इसके बाद कृष्ण ने अर्जुन से कहा— तुम्हारे पक्ष मे तो मैं रह गया। अर्जुन की प्रसन्नता का पार नही था। उसने कहा— मैं जो सोचता था, वही हुआ।

कृष्ण ने अपनी सेना को दुर्योधन के साथ जाने का आदेश दिया और स्वय अर्जुन के साथ जाने को तैयार हुए। उन्होने अर्जुन से कहा— तूने सेना का मोह छोड कर मुझे खरीद लिया है। मै तेरे साथ हू।

क्या आप लोग भी इश्वर को खरीदना चाहते हैं? अगर खरीदना चाहते है तो बदले मे क्या देना चाहते हैं? किस वस्तु का त्याग करना चाहते है? मीरा ने कहा है —

माई! मैने गिरिधर लीनी मोल,
कोई कहे हलको, कोई कहे भारी,
कोई कहे अनमोल ।।माई०।।
कोई कहे महगा, कोई कहे सस्ता,
कोई कहे अनमोल ।।माई०।।

जिसे परमात्मा के प्रति प्रीतिभाव हे, वह सस्ते और महगे की चर्चा मे उतरेगा ही नही। वह तो उसे खरीद ही लेगा। परमात्मा को खरीदने के लिए क्या मूल्य चुकाना पडता हे, इस विषय मे कहा है —

पास न कौडी मुफ्त खुदा को मोल लिया, ऐसा सौदा किया।

पास मे जब एक कोडी भी नही होती, तभी परमात्मा को खरीदा जा सकता हे।

लडाई के समय इस प्रकार एक की आज्ञा मे रहना कोई सामान्य बात नही हे। हम द्रव्य—युद्ध को ठीक नही समझते ओर गीता भी उसे ठीक नहीं कहती। लोग गीता को लडाई की पुस्तक कहते हैं, किन्तु हमारी दृष्टि मे तो उसमे भी अहिसा का ही निरूपण हे। गीता मे जिस युद्ध का वर्णन हे, वह युद्ध देवी प्रकृति ओर आसुरी प्रकृति का युद्ध हे। परन्तु यही बतलाना हे कि भोतिक युद्ध मे भी अर्जुन ने कहा था— भले इस समय सेन्य या राज्य चला जाय किन्तु म कृष्ण को नही छोड सकता। इसी प्रकार अगर आप

परमात्मा को अपने पक्ष मे लेना चाहते है तो निश्चित कीजिए कि भले ही सारे ससार की सम्पत्ति चली जाय, परन्तु मै सत्य का परित्याग नही करूगा। शास्त्र मे भी कहा है –

त सच्च खु भयव।

अर्थात् सत्य ही भगवान् है।

अर्जुन चाहते तो कृष्ण से कह सकते थे कि मैं भी आमत्रण देने के लिए आया हू। आधी सेना मुझे भी मिलनी चाहिए। पर उन्होने ऐसा नही कहा। अर्जुन ने सेना का त्याग करके कृष्ण को ही अपने पक्ष मे लेना श्रेयस्कर समझा। इसी कारण कृष्ण ने अर्जुन से कहा था– हे अर्जुन तू दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है। मैं सोचता था कि ससार मे कोई दैवी सम्पत्ति का भोक्ता है या नहीं? पर अब दैवी सम्पत्ति का भोक्ता तू मुझे मिला है तो मैं सारे ससार को तेरे समक्ष उपस्थित कर सकता हू।

अर्जुन और कृष्ण की जोडी नर–नारायण की जोडी कहलाती है। अर्जुन ने डर का और कृष्ण ने नारायण का पक्ष लिया है।

गीता मे दैवी सम्पत्ति के लक्षणो मे निर्भयता और अहिसा भी गिनी गई हैं। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि गीता हिसा की शिक्षा देने वाली पुस्तक नही है। अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए दैवी सम्पत्ति के गुणो को अपनाने की आवश्यकता है। केवल बाह्य स्नान से कुछ होता–जाता नही, पर ज्ञानयोग से पवित्र होने से ही आत्मकल्याण होता है। आत्मा को पहचान लेने का फल प्राणी मात्र पर अनुकम्पा रखना है। जब तुम्हारी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान से आलोकित होगी तो प्राणियो के प्रति स्वत करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– तूने चतुराई से मुझे अपने पक्ष मे ले लिया है, अतएव मै कहता हू कि तू दैवी सम्पत्ति का उपभोक्ता है। दैवी सम्पत्ति आत्मा का अभ्युदय–साधन करती और आसुरी प्रकृति आत्मा के अध पतन का कारण बनती है।

साराश यह है कि दैवी सम्पत्ति को अपनाना ईश्वर को ही अपनाना है। फिर उसे चाहे ईश्वर कहो अथवा और कुछ कहो। शब्द का भेद होने पर भी वास्तविक भेद कुछ नही है।

मुनि राजा श्रेणिक से यही बात कह रहे है। वे कहते है– जो केवल शब्दो को ही पकड रखता है और लक्ष्य को नही पकडता, वह नाथ को नही भूलता। अतएव आपको नाथ बनना है तो सदैव लक्ष्य को अपने सम्मुख रखो।

कदाचित् आप सनाथ न वन सके तो सनाथ के सेवक वनकर रहिये तव भी आपका वेडा पार हो जायगा। जैसे रेलगाडी के डिब्बो मे पावर नहीं होता, एजिन मे होता है। परन्तु जब डिब्बो की साकल एजिन के साथ जोड दी जाती हे तो एजिन के साथ डिब्वे भी लक्ष्य स्थान तक पहुच जाते हैं। इसी प्रकार अगर आप स्वय सनाथ नही वन सकते तो सनाथ के साथ अपना सबध जोड लो। ऐसा करने से आपको भी वही लाभ होगा जो अनाथ मुनि के साथ सबध जोडने से राजा श्रेणिक को हुआ था।

अनाथ मुनि ने राजा से कहा– राजन्! केवल साधु–दीक्षा लेने मात्र से कोई सनाथ नही बन जाता। सनाथ वनने के लिए तो साधु का आचार समीचीन रूप से पालन करना आवश्यक हे। जो साधु के आचार समीचीन रूप से पालन नही करता, वह अनाथ का अनाथ ही बना रह जाता है।

जैन दर्शन मौलिक ओर परिपूर्ण है, इसीलिए वह साधु के आचार–विचार की रीति स्पष्ट बतलाता है। वह साधु के आचार की कोई बात गुप्त भी नही रखता। जो लोग साधु के आचार को दबा कर रखना चाहते हैं और सोचते है कि अगर कोई हमारा घर और हमारी रीति–नीति जान जाएगा तो इसे उपालम्भ देगा, वे भी अनाथ ही हैं। सत्य का आचरण करने वाला और सत्य को प्रगट करने वाला ही सनाथ कहलाता है।

अनाथ मुनि ने कहा– राजन्! जो महाव्रतो को स्वीकार तो कर लेता है किन्त उनका बराबर पालन नही करता, वह अनाथ है। जो महाव्रतो को अगीकार करके भी उनका स्पर्श नही करता, वह महाव्रती नही कहला सकता।

आप सब यही कहते हैं कि पाच महाव्रतधारी ही हमारे गुरु हैं। किसी जेन बालक से पूछा जाय तो वह भी यही कहेगा। शास्त्र भी यही कहता हे। इस प्रकार जब आप महाव्रतधारी को ही गुरु मानते हे तो आप को महाव्रतधारी का लक्षण भी जानना चाहिए। एक उदाहरण द्वारा वह लक्षण वतलाया जाता हे।

कल्पना करो, किसी आदमी ने पहले गाय नही देखी हे। अब वह पहली बार ही गाय को देख रहा हे। ऐसी स्थिति मे गाय को देखने पर भी कह नहीं सकता की वह गाय हे। गाय को गाय कहने के लिए गाय का लक्षण जानना आवश्यक हे।

पदार्थ की ठीक पहचान उसके लक्षण से ही होती हे। परन्तु लक्षण दूषित नहीं होना चाहिए। लक्षण ही गलत हुआ तो पदार्थ की पहचान ठीक

तरह नही हो सकती। मान लीजिये किसी ने कहा– जिस पशु के सीग और पूछ हो, उसे गाय कहते हैं। मगर यह लक्षण सही नही है, क्योकि यह लक्षण तो भैस मे भी पाया जाता है। इस प्रकार जो लक्षण लक्ष्य मे रहने के साथ अलक्ष्य (लक्ष्य से भिन्न) मे भी रह जाय, वह अतिव्याप्ति दोष से दूषित कहलाता है।

अगर कोई कहे कि जिसका रग काला हो उसे गाय कहते हैं, + तो यहा अव्याप्ति दोष होगा, क्योकि यह लक्षण सब गायो मे नहीं मिलता। कोई गाय सफेद, कोई पीली भी होती है। कदाचित् यह कहा जाय कि जिस पशु के छह पैर होते है, उसे गाय कहते हैं, तो यह लक्षण असभवदोष वाला होगा, क्योकि छह पैर किसी भी गाय मे नही पाये जाते।

इस प्रकार लक्षण के तीन दोष है। सच्चा लक्षण वही है कि जिसमे इन तीन दोषो मे से एक भी दोष न हो। जो लक्ष्य मे ही रहे, वही निर्दोष लक्षण कहलाता है। इस नियम के अनुसार गाय का लक्षण क्या है? कहना होगा कि जिस पशु के गले की चमडी को गलकबल कहते है और यह गलकबल पत्येक गाय मे अवश्य होता है और साथ ही गाय के सिवाय किसी अन्य प्राणी मे नही होता। इस निर्दोष लक्षण से गाय पहचानी जा सकती है।

इसी प्रकार पाच महाव्रतधारी को पहचानने के लिए भी कोई लक्षण होना चाहिए, जिससे उनकी पहचान हो सके। पाच महाव्रतधारी ही गुरु–पद का अधिकारी होता है, इस कथन के साथ किसी का मतभेद नही हो सकता। परन्तु यहा देखना यह है कि जो महाव्रतो को स्वीकार करता है वह गुरु है अथवा महाव्रतो का पालन करने वाला गुरु है?

जैन शास्त्र और पातजल योगदर्शन, दोनो मे ही कहा है कि प्रतिपक्षी भावना द्वारा वितर्कों का विनाश करने वाला ही महाव्रतो का पालन कर सकता है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई हिसा को तो रोकता नही और कहता है कि मै महाव्रतो का पालन करता हू, तो उसका यह कथन सत्य नही हो सकता। इस प्रकार बातो से महाव्रतो का पालन करने वाले बहुत मिल जाएगे, ऐसे लोग भी कम नही मिलेगे जो अपने–आप को महाव्रतधारियो से भी बढा–चढा बतलाएगे। परन्तु सच्चे परीक्षक के सामने ऐसी बातो की कोई कीमत नही होती, जैसे रत्नो के परीक्षक कुशल जौहरी के सामने कृत्रिम रत्नो का कुछ भी मूल्य नही होता।

+ यद्यपि यहा अतिव्याप्ति दोष भी है, पर यह विवक्षित नहीं है।

सभी लोग पाच महाव्रतधारी की परीक्षा नहीं कर सकते। अतएव इसके सबध मे किसी प्रकार की भूल न हो जाय, यह बात ध्यान मे रखकर शास्त्र मे आचार्य, उपाध्याय, गणी और गणवच्छेदक आदि की व्यवस्था की गई है और बतलाया है कि जिनके विषय मे आचार्य, उपाध्याय आदि साक्षी दे कि ये महाव्रतो का पालन करते हैं, उन्ही को महाव्रती मानना चाहिए। इसलिए जिनकी परीक्षा आप नही कर सकते, उनके विषय मे आपको आचार्य, उपाध्याय आदि की सम्मति मान्य करनी चाहिए। हा, अगर आचार्य आदि ही इस विषय मे गलत आदेश दे तो वे अपराधी हैं। आचार्य आदि महाव्रतियो की पहचान कराने वाले एजेन्ट हैं। जब आप किसी वस्तु की परीक्षा करके बाजार से स्वय नही खरीद सकते, तब दलाल की मार्फत खरीदते हैं। कोई दलाल खराब चीज को अच्छी कहकर दिला दे तो वह उसका अपराधी है। इसी प्रकार कोई आचार्य अगर महाव्रतो का पालन न करने वाले को महाव्रती कहकर पुजवाता है, तो वह अपने उतरदायित्व को विस्मृत करता है और अपराध का पात्र बनता है। महाव्रती न स्वय हिसा करता है, न कराता है और न हिसा करने वाले को अनुमोदन देता है। न असत्य बोलता है, न असत्य बोलवाता है और न असत्य बोलने वाले का अनुमोदन करता है। इसी प्रकार चोरी, मैथुन–सेवन और परिग्रह न स्वय करता है, न कराता है और न करने वाले का अनुमोदन करता है।

आज कहा जाता है कि अमुक साधु ने शिष्य बनाने के लिए किसी छोकरे को उडा लिया, परन्तु शास्त्र कहता है कि साधु बिना आज्ञा लिये एक तिनका भी नही ले सकता तो शिष्य बनाने की बात ही दूर रही। अगर कोई ऐसा करता हे अर्थात् चोरी से किसी को शिष्य बनाता है तो वह शिष्य–चोरी का अपराधी हे। ऐसे साधु को नई दीक्षा लेनी पडती है। वह आठवे प्रायश्चित्त का पात्र है।

जब मुझे वैराग्य हुआ तो मेरे मामा को साधुओ के प्रति बहुत नाराजगी हुई। यहा तक कि उन्होने उपाश्रय मे जाना भी छोड दिया। एक दिन मेरे गुरु मगनलालजी महाराज भिक्षा के लिए निकले। रास्ते मे उन्हे मामाजी मिल गये। महाराज ने उनसे कहा– जडावचन्द्रजी! आजकल तो आपने उपाश्रय मे आना भी छोड दिया!

मामाजी– केसे आए? आपने मेरे भागिनेय को भरमा लिया। आपने यह भी नहीं सोचा कि वह कितना दुबला है! उससे पेदल विहार किस प्रकार

हो सकेगा? और उसके माथे मे कितने फोडे हैं! ऐसी स्थिति मे वह केशलोच का कष्ट कैसे सहन कर सकेगा?

महाराज– यह सब ठीक है, परन्तु आपको पता है कि हम आज्ञा लिये बिना एक तिनका भी नही ले सकते तो आपके भागिनेय को कैसे ले जाएगे?

दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि अणु या स्थूल, जड या चेतन किसी भी वस्तु को जो आज्ञा के बिना नही लेता, वही महाव्रतो का पालन करने वाला कहलाता है।

साधु का चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करने के लिए केवल स्त्रीप्रसग की ही मनाही नही है, किन्तु मन, वचन, काय से स्त्रीप्रसग करना नही, कराना नही, करने वाले का अनुमोदन करना नही, ऐसा विधान किया गया है। इतना ही नही, ससार की समस्त स्त्रियो को– देवागनाओ और अप्सराओ को माता के समान समझना होता है। भगवान् ने इस व्रत की रक्षा के लिए नौ बाड और दशवा कोट बतलाया है।

इसी प्रकार परिग्रह भी नही रखना चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व नही होना चाहिए और कोई भी अनावश्यक वस्तु अपने पास नही रखनी चाहिए। काल के अनुसार अनेक आचार्य मिलकर जो नियम बनाते हैं, वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार व्यवहार करना भगवान् की आज्ञा मे माना जाता है। अतएव जिताकार मे जिन वस्तुओ को रखने की अनुज्ञा दी गई है, उनसे अधिक कोई भी वस्तु साधु के पास नही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ शास्त्रो मे लकडी की कामी रखने का विधान नही है, किन्तु जब से शास्त्र लिपिबद्ध हुए तब से जिताचार के अनुसार उसे पास रखने की आवश्यकता हो गई है। अतएव जिताचार और शास्त्र मे प्ररूपित वस्तुओ के अतिरिक्त कोई भी चीज नही रखनी चाहिए और जो वस्तुए रखी हैं उनके प्रति ममता न रखना, यह साधुओ का अपरिग्रह व्रत है। साधु ज्ञान को उत्तेजन दो, इतना तो कह सकता है, परन्तु यह नही कह सकता कि ज्ञान के प्रचार के पैसे दो।

मान लीजिए, किसी के पास दो शास्त्र है। एक शास्त्र को वह स्वय काम मे लाता है और दूसरा काम मे नही आता। फिर भी शिष्य या और किसी साधु के मागने पर भी अगर वह नही देता तो समझना चाहिए कि उस पर उसका ममत्व है। शास्त्र के भण्डार भर रखना और उन्हे कीडो का भक्ष्य

ाना भी ममत्व का ही परिणाम हे। अपरिग्रह महाव्रत के पालन के लिए इस कार का ममत्व भाव सर्वथा त्याज्य है।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्! इस प्रकार महाव्रत की प्रतिपक्षी वना को जो दूर नही करता, वह महाव्रतो का पालन नहीं कर सकता। सके अतिरिक्त जो रसगृद्ध है, वह भी अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं– मुनि के दो मार्ग हैं– समिति का मार्ग और गुप्ति का र्ग। यद्यपि मुनि का लक्ष्य गुप्ति ही है, परन्तु समिति लक्ष्य तक पहुचाने का धन है। जो इस साधन का त्याग कर देता है वह अपने–आप को साधुता दूर रखता है। सच तो यह है कि समितियो का अवलम्बन लिये विना अपने य तक पहुच ही नही सकता।

पाच समितियो और तीन गुप्तियो मे साधुता की समस्त क्रियाओ का ावेश हो जाता है। जो साधु ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, दाननिक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति का पालन नहीं करता, वह रो के मार्ग पर नहीं चल सकता, वह तो अनाथ के मार्ग पर भटकता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 24वे अध्याय मे पाच समितियो और तीन प्तियो का विस्तृत वर्णन दिया गया हे। पाच समितियो मे पहली ईर्यासमिति ईर्यासमिति का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विवेक वतलाया गया है। हा गया हे कि साधु जब चलने लगे तो यही विचार करे कि मैंने सब काम ड दिये हें, इस समय मुझे केवल चलने का ही काम करना है। इस प्रकार यार कर चलते समय साधु को अपना मन एकाग्र रखना चाहिए। जेसे पानी परिपूर्ण घट मस्तक पर रखकर पनिहारी चलते समय सावधानी रखती है, ी प्रकार मुनि को भी चलते समय सावधानी रखनी चाहिए।

कल्पना कीजिए, राजा का कोई नोकर राजा के काम के लिए वाहर कला। राजा ने उससे कहा था– काम वहुत आवश्यक हे, जल्दी लोट ना।

नाकर जव काम के लिए वाहर निकला तो रास्ते मे नाटक हो रहा । एक नटी हाव–भाव दिखा कर नाच रही थी। नोकर खेल देखना चाहता । आप वहा हो तो नोकर को क्या सलाह देगे? यही न कि खेल–तमाशे न अटक कर पहले मालिक का काम करना चाहिए। परतु वह नोकर खेल खने के लिए रुक गया। इतने मे कोई उसका हितेषी आया और उसने हा– अरे तू यहा क्यो अटक गया? पहले राजा का काम कर। राजा प्रसन्न जायगा तो इस प्रकार का खेल तो अपने घर पर ही करा सकता है।

यही बात मुनि के विषय मे समझो। मुनियो ने स्वेच्छापूर्वक अपना नाम भगवान् के सेवको मे लिखाया है। उन्होने किसी की जोर–जबर्दस्ती से नही, आन्तरिक इच्छा से ही चारित्र ग्रहण किया है। भगवान् ने साधुओ को आज्ञा दी है कि साधुओ के लिए लक्ष्य तो तीन गुप्तिया ही है, किन्तु उन्हे समितियो की किचित् भी उपेक्षा नही करनी चाहिए। भगवान् की इस आज्ञा के अनुसार मुनि गुप्तियो, समितियो का पालन करने को तैयार हुए है। किन्तु अगर हम मुनि इस आज्ञा की उपेक्षा करके नाटक की तरह ससार के झझट मे पड जाए तो आप हमारे हितैषी होकर हमे क्या सलाह देगे? हम ईर्यासमिति का ध्यान न रखे तो आप हमसे क्या कहेगे? यही तो कहोगे कि छलागे भरते क्यो चलते हो? इधर–उधर नजर फिराते क्यो चलते हो? क्या साधु इस प्रकार चल सकता है? क्या आप हमसे यही नही कहेगे? भले ही आप विनय और नम्रता के साथ कहेगे, मगर हमारे हितैषी होने के नाते यह तो कहेगे ही कि 'आप भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार हुए है, अतएव मन को एकाग्र करके ईर्यासमिति का ध्यान रखते हुए चलिए।'

सेठ अमरचन्दजी (पीतलिया) समितियो का इतना ध्यान रखते थे कि वे देखते ही जान लेते थे कि अमुक साधु ईर्यासमिति और भाषासमिति का ज्ञाता और पालनकर्ता है या नही? उन्हे किसी भी प्रकार की त्रुटि दिखाई देती तो वे स्पष्ट कह देते थे।

एक बार पूज्य श्रीलालजी महाराज विहार करते–करते जा रहे थे। रास्ते मे उन्हे महासती मोताजी मिली। उनकी ईर्यासमिति देखकर पूज्यश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे– महासतीजी ईर्यासमिति का बराबर ध्यान रखती है।

जैसे सेना का अपना एक निशान होता है, उसी प्रकार ईर्यासमिति साधुओ का चिह्न है। अत साधुओ–साध्वियो को ईर्यासमिति का खूब ध्यान रखना चाहिए। उन्हे सदैव खयाल रखना चाहिए कि हम ससार की घमाल देखने मे या किसी के साथ बाते करने मे ईर्यासमिति की अवहेलना न कर बैठे। अगर हम ससार की धमाल देखने मे न पडे और भगवान् की आज्ञा को यथावत पालने का ही ध्यान रखे तो राजा की आज्ञा मानने से नौकर को जितना लाभ होता है, उससे भी अधिक लाभ हमे होगा।

आजकल प्राय देखा जाता है कि कोई साधुओ से कुछ कहता है तो वे उलटे दबाने लगते हैं। साधु की भूल बतलाने पर साधु उसे स्वीकार करके प्रतिक्रमण करके और शुद्ध हो जाय और साथ ही भविष्य मे ऐसी भूल

न करने का ध्यान रखे तो ठीक है, किन्तु अगर कोई साधु कहे– 'हम साधुओ से कहने वाले तुम कौन होते हो?' और यह कह कर नाराज हो जाय तो समझना चाहिये कि वह साधु सुधर नही सकता। शास्त्र मे कहा है कि साधु को अगर कोई त्यक्त घर मे पानी भरने वाली दासी भी शिक्षा दे तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये, उसकी अवहेलना नही करनी चाहिए। उससे भी नही कहना चाहिए कि 'तू हमसे कहने वाली कौन है?'

कहा जा सकता है कि अगर साधु ईर्यासमिति का ध्यान न रखे और कहना भी न माने तो ऐसी अवस्था मे क्या करना चाहिए? साधुओ के बिना काम भी तो नही चल सकता! इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर आप अपनी आत्मा को शुद्ध रखे और दृढता का परित्याग न करे तो साधुओ को रास्ते पर आना ही पडेगा। तुम किसी साधु को सावधान करो और वह तुम्हारा कहना न माने तो तुम्हे समझ लेना चाहिए कि यह साधु ईर्यासमिति का परिपालन करने वाला नही है, किन्तु अनाथता मे पडा है। इस प्रकार तुम अपनी आत्मा को दृढ रखो तो साधुओ को सुधरने के सिवाय और कोई मार्ग ही नही है।

दूसरी भाषासमिति है। दूसरे को व्यथा पहुचाने वाली कटु अथवा सावद्य भाषा बोलने का मुनि को अधिकार नही है। आज साधुओ मे भाषा सबधी विवेक बहुत कम देखा जाता है। साधुओ के लेख देखो तो उनकी भाषा से जानना कठिन होगा कि यह लेख साधु का है या गृहस्थ का ? कदाचित् कहा जाय कि मुनि का आशय पवित्र होता है तो क्या गृहस्थ का आशय पवित्र नही होता? आशय भले पवित्र हो, फिर भी भाषा सबधी विवेक तो होना ही चाहिए। श्री दशवैकालिक–सूत्र, श्री आचाराग सूत्र और श्री पन्नवणा सूत्र मे विस्तार से विवेचन किया गया है कि साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए और कैसी भाषा नही बोलनी चाहिए।

साधु भाषासमिति का ज्ञाता हो तो अपने सयम की रक्षा करने के साथ ससार का सुधार भी कर सकता है। उदाहरणार्थ कोई कहे कि साधु विवाह पद्धति मे सुधार कर सकता हे या नही? साधारणतया यही कहा जायगा कि विवाह से साधुओ का क्या सरोकार? परन्तु जानकार साधु विवाह पद्धति का सुधार करने के लिए तुम्हारे सामने मेघकुमार जेसे का चरित्र उपस्थित करेगा जिससे कि विवाह पद्धति मे सुधार किया जा सके। मेघकुमार के चरित्र मे 'सरिसवया, सरिसतया आदि का जो उल्लेख पाया जाता है और इन उल्लेखो द्वारा जो विवाह पद्धति निर्दिष्ट की गई है, उसे

समझा कर साधु क्या विवाह पद्धति मे सुधार नही कर सकता? विवाह पद्धति की ही तरह गर्भ–क्रिया मे भी सुधार किया जा सकता है। इसके लिए भी किसी का चरित्र उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु साधु को यह नही भूलना चाहिए कि उसे अपने सयम की रक्षा करनी है। अतएव उसकी भाषा मे किसी पकार का दूषण न आ जाय। साधु को ध्यान रखना चाहिए कि मैं ससार के पवाह मे न बह जाऊ, वरना ससार से पार उतर सकू। अभिप्राय यह है कि शास्त्र, साधु को बोलने की मनाही नही करता, परन्तु विवेकपूर्वक बोलने के लिए कहता है।

तीसरी एषणासमिति है। साधुओ को इस समिति का पालन करने मे भी बहुत ध्यान रखना चाहिए। एषणासमिति का धारक मुनि जैसी निर्दोष वस्तु मिले, वही ले लेता है। जिन्होने भक्ति कराने के लिए, पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से माथा मुडाया है, उनकी बात तो छोड ही दीजिए, किन्तु जिन्हे साधु–धर्म का पालन करना है, उन्हे ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् ने एषणा सबधी जो नियम बतलाये है, वे व्यर्थ नही है। आत्मा सुख का अभिलाषी है और सदा सुख की ही खोज करता है। किन्तु सुख पाने की इच्छा का त्याग करके साधु को इसी बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम कही साधु–धर्म से च्युत न हो जाए।

शास्त्र यो तो बहुत गहन है, किन्तु साथ ही वह ऐसी सरल और लाभप्रद बाते सरलता से समझाता है कि साधारण से साधारण मनुष्य को भी समझने मे कठिनाई नही होती। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है –

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगायसाइस्स।
उच्छोलणायहोअस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स।।

जो श्रमण सदेव सुख के पीछे पडा रहता है, इनमे सुख मिले, यहा आराम मिले, इस प्रकार सोचा करता है और अनेक चाले चलता रहता है कि लोगो की भक्ति भी कम न हो और सुख का मार्ग भी बन्द न हो जाय। भगवान कहते है कि ऐसा साधु धर्म की अवहेलना करने वाला है। वह इस लोक मे भी सुन्दर परिणाम नही ला सकता और परलोक मे भी अच्छा काम नही पा सकता।

जिसकी आत्मा अपने वश मे नही है और जो रसलोलुप है, वह एषणासमिति को भग करता है। किन्तु उचित मार्ग यह है कि जिससे एषणासमिति का बराबर पालन न होता हो उसे साफ कहना चाहिए कि मेरी यह अपूर्णता है कि मै इस समिति का ठीक तरह पालन नही कर सकता।

ऐसा कहने से उसकी अपूर्णता प्रकट होगी, किन्तु सिद्धात का तो विरोध नही होगा। इसके विपरीत जो अपनी अपूर्णता छिपाता है और एषणा को पाखण्ड कहता है, वह निर्ग्रंथ–प्रवचन की अवहेलना करता है। ऐसे श्रमण को सद्गति मिलना कठिन है।

सुखशील बनकर मौज करना और मोज करने के कार्य को भी उज्ज्वल नाम देना और भावुक भक्तो की श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाना साधुओ का धर्म नही है। साधुओ का धर्म तो यह है कि वे स्पष्ट कह दे कि शास्त्र का विधान तो ऐसा है, परन्तु मैं अपनी अपूर्णता के कारण उसका पालन करने मे असमर्थ हू। जो पूर्ण रूप से एषणासमिति का पालन करता है, उसे मैं नमस्कार करता हू।

एषणासमिति का बराबर पालन करने वाला महात्मा ही स्व–पर का कल्याण कर सकता है। जो साधु इस प्रकार अपनी अपूर्णता को स्पष्ट स्वीकार कर लेता है और शास्त्र की अपूर्णता नही बतलाता, शास्त्र उसकी उतनी निन्दा नही करता जितनी शास्त्र–विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले की निन्दा करता है। जो लोग सयम का शास्त्रोक्त रीति से पालन नही करते और अपनी अपूर्णता स्वीकार करते हैं, वे किसी–न–किसी दिन तो सयम का पालन कर सकेगे और अपनी अपूर्णता दूर कर सकेगे, किन्तु जो अपनी अपूर्णता ही नही मानता, उसका सुधार होना कठिन हे।

चौथी आदान–निक्षेपणसमिति है। साधुओ को इसका भी ध्यान रखना और पालन करना चाहिए। भडोपकरणो को यतना से धरना–उठाना चाहिए। प्रथम तो साधु को धर्मोपकरण के सिवाय और कोई वस्तु अपने पास रखनी ही नही चाहिये और जो धर्मोपकरण हें उनके रखने–उठाने मे भी बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

पाचवी उच्चारप्रस्रवणसमिति का पालन करने मे भी साधु को यतनावान् होना चाहिए। मल–मूत्र आदि को इस प्रकार परठना चाहिए कि जिससे लोगो को जुगुप्सा न हो। जो आहार करता हे, उसे निहार करना ही पडता है, किन्तु इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि निहार किस प्रकार किया जाय ओर कहा किया जाय?

मैं जगल जाते–आते समय म्युनिसिपेलिटी की कचरे की गाडिया, जो सामने पड जाती हें, देखता हू, उनमे वह दुर्गन्ध कहा से आई? आप लोगो ने अपने–अपने घर मे जो गन्दगी की वही उस गाडी मे आई। आप गन्दगी साफ करने वाले लोगो की निदा करते ह उन्हे घृणा की दृप्टि से देखते हें,

नीचा समझते है और अपने–आप को ऊचा मानते है, किन्तु विचारने योग्य बात है कि गन्दगी फैलाने वाले ऊचे और गन्दगी की सफाई करने वाले नीचे, यह किस प्रकार उचित कहा जा सकता है?

शास्त्र मे साधुओ को चेतावनी दी गई है कि जब तुम जगल मे जाओ तो कैसी जगह देखनी चाहिए? जिस ग्राम मे तुम्हे चातुर्मास करना है, वहा जगल जाने की जगह पहले देख लो। अगर उपयुक्त जगह न दिखाई दे तो समिति का सम्यक् प्रकार से पालन न हो सकने के कारण वहा चौमासा करने से इनकार कर दो। इस पकार समिति की रक्षा के लिये दूसरे ग्रामो मे चातुर्मास करने वाला साधु आराधक है। इसके विपरीत यह सोचकर कि शहरो मे तो यो ही धमाल रहती है, समिति की उपेक्षा करने वाला विराधक है।

पाचवी समिति का पालन करने का साधुओ को बहुत ध्यान रखना चाहिये। ऐसा नही सोचना चाहिए कि समिति का पालन तो ग्राम मे रहकर ही किया जा सकता है, नगर मे रहने वाले साधु नही कर सकते। समिति तो ग्रामो मे रहने वाले साधुओ का आचार है। शहर मे रहने वाले साधुओ से समिति का यथावत् पालन नही हो सकता। इस कथन का अर्थ तो यह हुआ कि नगर मे विचरने वाले साधुओ का शास्त्र अलग होना चाहिये।

कई लोग द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव का बहाना करके समिति की उपेक्षा करते हैं। उनके अनुसार महाव्रतो का पालन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख–देखकर करना चाहिए। परन्तु जो लोग इस प्रकार बच निकलने का रास्ता खोजते हैं, वे शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नही हैं। जो शास्त्र के मार्ग पर चलने वाले नही है, वे धीर–वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले नही हैं। वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाला शास्त्र के मार्ग पर चलता है।

कोई कह सकता है– शास्त्रो की रचना हजारो वर्ष पहले हुई है। आज बदली हुई परिस्थितियो मे उनके अनुसार किस प्रकार चला जा सकता है? और ऐसा कहकर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर शास्त्र–विरुद्ध व्यवहार करता है, वह भी वीरो के मार्ग पर नही चलता। शास्त्र तो त्रिकालज्ञ द्वारा कथित है। उन्हे वर्तमान का, आज की परिस्थितियो का ज्ञान नही था यह नही कहा जा सकता। फिर भी जो द्रव्य, क्षेत्र काल भाव का आश्रय लेकर शास्त्र की मर्यादा का उल्लघन करता है, वह 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्ट, की कहावत के अनुसार पतित हो जाता है।

नगरो की रचना से किसी प्रकार का लाभ नही हुआ है। यही नही, बल्कि हानि हुई है। यूरोप के लोग भी यह मानने लगे हैं कि बहुत लोगो के एकत्र होकर रहने मे अनेक हानिया हैं, शरीर मे रक्त यथास्थान न रह कर एक जगह इकट्ठा हो जाय तो व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार ग्राम उजड–उजड कर नगर बस रहे हैं और इससे अनेक हानिया उत्पन्न हो गई है।

विचारणीय बात है कि नागरिक लोग ग्रामो के सहारे जीवित हैं या ग्रामीण शहर पर निर्भर हैं? दूध, घी और अन्न आदि कहा से आता है? ग्राम न होते तो क्या शहरो मे दूध, घी आदि पदार्थ आवश्यक परिणाम मे उपलब्ध हो सकते थे। शहरो मे तरह–तरह के खिलौने मिल सकते हैं, मगर जीवन की आवश्यक वस्तुए तो ग्रामो मे ही मिलती हैं। शहरो मे जो घी–दूध आदि मिलता है, नकली मिलता है। चरबी का घी कहा मिलता है? नगरो मे या ग्रामो मे? नगर के लोग अकसर ऐसी वस्तुओ का उत्पादन करते हैं, जिनसे जीवन मे और अधिक सकट उत्पन्न होता है। जिदगी को टिकाये रखने वाली वस्तुए ग्रामो मे ही उत्पन्न होती है। अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थ ग्रामो मे ही पैदा होते है। अतएव नगरनिवासियो को ग्रामवासियो का उपकार मानना चाहिए।

हा तो अभिप्राय यह है कि नगर के मनमोहक वायुमण्डल से आकर्षित न होकर साधुओ को ऐसे स्थानो मे ही विचरण करना चाहिए, जहा उनकी समिति मे बाधा न आती हो। जिस स्थान पर रहने से चरित्र मे बाधा हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए। ऐसा करने पर ही साधु पुन अनाथता से बच सकता है।

अनाथ मुनि कहते हैं– पहले–पहल मनुष्य अनाथ होकर भटकते हैं। सोभाग्य से जब उन्हे अनाथता से निकल कर नाथ बनने का अवसर मिलता है तो उनमे से कई लोग कायरता के वशीभूत होकर पुन अनाथ बन जाते हैं। वस्तुत आत्मतत्त्व को आत्मा मे स्थिर रखना बहुत ही कठिन है। परन्तु जो इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करता हे, वही निहाल हो जाता हे।

आज विकारी लोगो को देखकर सभी को विकारी समझ लिया जाता है। कतिपय साधुओ को साधुता से पतित देखकर सब साधुओ की निन्दा की जाती हे, मगर ऐसा करना भूल हे। विश्वविद्यालय की परीक्षा देने वालो मे से क्या सभी उत्तीर्ण हो जाते हैं? कोई अनुत्तीर्ण नही होता ? लेकिन विद्यार्थियो

के अनुत्तीर्ण होने से क्या विश्वविद्यालय या दूसरे विद्यालय बन्द कर दिये जाते हैं? नही, क्योकि जो पढता है वह भूलता भी है।

साधुता भी भगवान् अरिहन्त का एक विश्वविद्यालय है। इसमे अभ्यास करने वालो मे से कोई भूलता भी है और कोई अनुत्तीर्ण भी होता है। पर शास्त्र, भूलने एव अनुत्तीर्ण होने वाले को ठीक नही समझता, उनकी निन्दा करता है। ऐसी स्थिति मे अनुत्तीण होने वालो को लेकर साधुता की शाला की ही निन्दा करना या इस शाला मे अभ्यास करने वाले सब लोगो को बुरा समझना कैसे ठीक कहा जा सकता है? यद्यपि अभ्यास करने वालो से भूल भी होती है, तथापि साधुओ को सावधान रहना चाहिए। यह तो व्यवहार की बात है इसमे क्या पडा है? ऐसा कहने वालो को सोचना चाहिए कि हम अभी व्यवहार मे ही हैं, वीतराग नही हुए हैं। भगवान् भी व्यवहार द्वारा ही निश्चय मे गये थे। अतएव व्यवहार की अवहेलना करना उचित नही। व्यवहार का पालन करके निश्चय मे जाना ही अनाथता मे से निकल कर सनाथ बनना है।

अभ्यास करने वाला विद्यार्थी भूल जाय तो क्षम्य हो सकता है, परन्तु शिक्षक ही भूल जाय तब तो गजब ही हो जाय! इसी प्रकार दूसरे भूले तो भूले, पर जिन्होने महापुरुषो की सूची मे अपना नाम लिखवाया है, उन्हे नही भूलना चाहिए। उन्हे तो बहुत सावधानी रखनी चाहिए और सावधानी रखते ही भूल हो जाय तो उस भूल को भूल मानकर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन! जो लोग साधु होकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे वीर के मार्ग पर चलने वाले नही हैं। प्रश्न होता है– मुनि ने ऐसा क्यो कहा? कई लोगो का कहना है कि साधु का आचार गृहस्थ से नहीं कहना चाहिए। गृहस्थ के सामने साधु का आचार कहने की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु आप लोग साधारण गृहस्थ नही है। श्रमणोपासक हैं, अतएव आपको अपने उपास्य का लक्षण समझना चाहिए। मुनि, राजा श्रेणिक को सबोधन करके समस्त ससार को समझा रहे हैं कि साधुओ को धीर–वीर पुरुष का मार्ग अपनी दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए। नाम त्यागियो मे लिखाना और काम त्यागियो का न करना, उचित नही है।

कायरो के मार्ग पर चलने वाला कौन है? इस सम्बन्ध मे अनाथ मुनि कहते हैं कि जो समितियो आदि का ध्यान नही रखता, वह कायरो के मार्ग पर चलने वाला है।

सनाथी मुनि कहते है– राजन्! कायर लोग इन पाच समितियो के पालन मे असावधानी रखते हैं। कार्य का अभ्यास करने मे गलती होना दूसरी बात है। किसी वीर से यदि इस प्रकार गलती हो भी जावे, तो वह अपनी गलती निकालने की चेष्टा करेगा और भविष्य मे सावधानी रखेगा। अभ्यास मे गलती होने मात्र से कोई साधु, कायर नहीं कहलाता, क्योकि छद्मस्थ अपूर्ण है, लेकिन बहुत–से लोग जानबूझ कर पाच समिति की अवहेलना करते हैं, समिति की उपेक्षा करते हैं और दिन–प्रतिदिन इस ओर से पतित होते जाते हैं। ऐसा करने वाले कायर लोग, वीर मार्ग के पथिक और पचमहाव्रत के पूर्ण आराधक नही है। यद्यपि कायर लोग समितिया न पालने मे पचमहाव्रत भग नही समझते, लेकिन वास्तव मे, पचमहाव्रत भग हो जाते हैं, क्योकि पचमहाव्रत का सूक्ष्म रूप से पालन किया जावे। यद्यपि पचमहाव्रत एव पचसमिति का पूर्णतया पालन तो यथाख्यात चरित्रवाला ही कर सकता है, लेकिन इस ओर गति करना, प्रमाद न करना, प्रत्येक साधु का कर्तव्य है। अपने इस कर्तव्य को समझ कर, जो साधु सावधानी रखता है, उससे यदि कभी गलती हो भी जावे, तो वह पतित नही कहलाता। पतित तो तभी कहलाता है, जब जानबूझ कर उपेक्षा की जावे और जो गलती हुई है, उसे सुधारने की चेष्टा करने के बदले और वढने दे।

हे मुनियो! तुम्हारा पद चक्रवर्ती राजाओ एव देवताओ से भी वडा है। देवता लोग, चक्रवर्ती के सामने अपना मस्तक नही झुकाते, लेकिन तुम्हारे आगे अपना मस्तक झुकाते हैं, चक्रवर्ती राजा भी तुम्हारे दर्शन को लालायित रहता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद को पाकर भी पाच समिति के पालन मे सावधानी न रखने पर तुम्हारी गणना कायरो एव पतितो मे होगी। इसके साथ ही, जिस उद्देश्य से तुमने घर–बार छोडा है, जिस ध्येय को लेकर सासारिक सुख त्याग, सयम मे प्रव्रजित हुए हो, समिति पालन मे असावधानी रखने पर, उसकी भी पूर्ति नही होगी। तुम्हारे पद की प्रतिष्ठा, तुम्हारे ध्येय की पूर्ति एव गृहससार छोडने से लाभ तभी है, जब तुम पचमहाव्रत के साथ ही पचसमिति के पालन मे सावधानी रखो। यदि तुमसे कोई गलती भी हो जावे, तो उसका परिशोधन करो, लेकिन उसको वढने मत दो। पहाड पर से एक पाव फिसला और दूसरे पाव से उसी समय सम्हल गया, तब तो गिरने से रुक जाता है ओर यदि दूसरे पाव को भी ढील दे दो तो लुढकता हुआ नीचे ही चला जाता है। इसी प्रकार पाच समिति के पालन मे कोई गलती हो जावे ओर उसी समय अपनी गलती को मान कर भविष्य के लिए सम्हल जाओगे,

तब तो तुम्हारी गणना कायरो मे न होगी, तुम दूसरी अनाथता मे न पडोगे, अन्यथा सनाथी मुनि के कथनानुसार तुम कायर एव अनाथ के अनाथ ही माने जाओगे। तुम्हारे लिए इससे अधिक लज्जा की बात क्या होगी? इसलिए पचमहाव्रत एव पचसमिति के पालन मे किंचित् भी असावधानी या प्रमाद मत करो। एक कदम आगे बढाने वाला वीर माना जाता है और एक कदम पीछे हटाने वाला कायर माना जाता है। तुम अधिक आगे न बढ सको तब भी, पीछे तो कदम मत हटाओ! यानी तुमने जिस चारित्र को स्वीकार किया है, उसके पालन मे तो प्रमाद मत करो। तुम्हे समिति–गुप्ति के पालन मे किस प्रकार एकाग्रचित्त रहना चाहिए, इसके लिए एक दृष्टात दिया जाता है।

एक पारधी, शिकार की ताक लगाये बैठा था। उसके पास होकर एक बरात निकली। थोडी ही देर बाद उसी बारात के कुछ आदमियो ने पारधी के पास आकर, पाधरी से पूछा कि क्या इस तरफ से बरात निकली है? पारधी ने उत्तर दिया कि मैंने नही देखी। उनने पूछा– तुम यहा कितनी देर से हो? पारधी ने उत्तर दिया–सुबह से। उन लोगो ने कहा कि जब तुम यहा सुबह से हो तो तुमने बरात अवश्य ही देखी होगी क्योकि उस बरात के जाने का मार्ग यही था। पारधी ने उत्तर दिया कि यदि गई भी हो तो मुझे पता नहीं। मैं शिकार की ताक मे बैठा था, बरात की ओर ध्यान क्यो देने लगा!

हे मुनियो! वह पारधी, रुद्रध्यान मे था। उस ध्यान से उसे हिसा करना अभीष्ट था। उस रुद्रध्यान मे भी वह ऐसा एकाग्रचित्त रहा कि उसे पास से गाती–बजाती हुई बरात निकल जाने की भी खबर न हुई तो तुम्हे धर्मध्यान मे अपना चित्त कैसा एकाग्र रखना चाहिए, इसका विचार करो।

चिरऽपि से मुम्डरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिरऽपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु सपराए।।41।।

अर्थ– अपने स्वीकृत व्रतो मे स्थिर न रहने वाला और तप तथा नियम से भ्रष्ट हो जाने वाला चाहे चिरकाल तक सिर मुडित रखे और आत्मा को क्लेश मे डालता रहे, फिर भी ससार से पार नही होता।

व्याख्यान– अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं– राजन्! जो सिर मुडाता है और कष्ट सहन करता है, किन्तु समितियो का पालन नहीं करता और व्रतो मे अस्थिर होकर तप–नियमो से भ्रष्ट हो जाता है वह कष्टो को सहन करता हुआ भी ससार–सागर का पार नही पाता, वह सनाथ नहीं वन सकता।

प्रश्न हो सकता है– जब वह व्रत, तप एव नियम का पालन करने मे अस्थिर रहता है तो फिर मस्तक क्यो मुडाता है? इसका उत्तर यह है कि

वह व्रत–नियम आदि का पालन न करके भी लोगो को अपने आगे नमाने के लिए और अपनी महिमा बढाने के लिए मस्तक मुडाता है। यह उसकी एक प्रकार की चालबाजी है। आजकल प्राय देखा जाता है कि चालबाजी करने वाला दूकानदार अपनी दूकान का भबका अधिक रखता है। पूज्य श्रीलालजी म कहा करते थे– दुनिया को ठगने वाले लोग यह कहावत चरितार्थ करते हैं–

रोटी खाना शक्कर से, दुनिया ठगना मक्कर से।

इस प्रकार कई लोग अपनी महिमा बढाने के लिए मस्तक मुडाते हैं और लोगो को ठगते हैं। ऐसे ठग तप–नियमो की अवहेलना करते हैं और कहते हैं– उपवास करना भूखा मरने के समान है। उपवास करने मे रखा ही क्या है? वे व्रतो और नियमो के विषय मे भी यही कहते हैं कि व्रतो और नियमो से कोई लाभ नही है। इस प्रकार व्रत– नियम आदि को कष्टकर एव व्यर्थ समझते हुए भी वे लोग अपनी महिमा बढाने के लिये साधु–वेष धारण करते हैं और सिर मुडाते हैं। ऐसे लोगो की सद्‌गति दुर्लभ है।

कहा जा सकता है कि ससार के समस्त जीव सुखसाता चाहते हैं, तो फिर सुख–साता की इच्छा करने वाले साधु की ही टीका–टिप्पणी क्यो की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यदि वह साधु सयम का बराबर पालन करे तो उसे अपूर्व सुख–साता की प्राप्ति होगी। शास्त्र मे कहा है कि एक महीने का दीक्षित साधु व्यन्तर देवो के सुख को मात कर देता है और एक वर्ष का दीक्षित साधु सर्वार्थसिद्ध विमान के सुख को लाघ जाता है। ऐसा होने पर भी जो साधु उस सुख को भूल जाता हे ओर सासारिक सुख–साता मे पड जाता है, वह अपनी ही हानि करता है।

किसी डाक्टर ने बीमार को दवा देकर कहा– अमुक काल तक दवा का सेवन करना ओर इन–इन चीजो का परहेज रखना। बीमार अगर डाक्टर के कथनानुसार नियमित रूप से ओषध का सेवन और पथ्य का पालन करे तो उसका रोग चला जाता हे ओर वह स्वस्थ होकर सभी चीजो को खाने–पीने के योग्य बन जाता हे। ओर यदि रोगी औपध का सेवन न करे ओर खान–पान मे परहेज न रखे तो डाक्टर उसके लिए क्या कहेगा? यही न कि इसने मेरी दवा की अवहेलना की है।

इसी प्रकार महात्मा कहते हें– हे मुनियो! तुम सयम का बराबर पालन करो और कष्टो को सहन करो तो तुम्हे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। अगर सयम का यथाचत् पालन न करोगे तो डाक्टर की दवा के समान सयम

को भी व्यर्थ गवा देना होगा।' इसी प्रकार वे कहते हैं– 'जो सुख–साता का गवेषक है, अर्थात् सुखशील बनकर हाथ पैर धोने मे लगा रहता है और सयम का पालन नही करता, वह धर्म रूपी औषध को वृथा गवा बैठता है। साधुओ ! तुम्हे किसी ने जबर्दस्ती करके साधु नही बनाया है। स्वय उच्च भावना से प्रेरित होकर तुम साधु बने हो। अतएव साधुता का यथावत् पालन करके अपना और जगत् का कल्याण करो। सयम के पालन मे ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण है।'

केवल केश लोच आदि बाह्य क्रिया करने से कोई जन्म–मरण से मुक्त नही हो सकता। जन्म–मरण से मुक्त होने के लिए, ससार के समस्त कष्टो से छूटने के लिए और अनाथता से निकलकर सनाथ बनने के लिए आवश्यक है कि सयम ग्रहण करते समय लिये गये व्रत–नियम आदि मे प्रमाद न करे, बल्कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ, सावधान और सतर्क रह कर उनका पालन करे।

केश लोच करने मे कितना कष्ट होता है, यह जानने के लिए अगर आप अपने मस्तक का एक केश उखाड देखे तो आपको अनुभव हो जाएगा। इस प्रकार का कष्ट सहन करने पर भी व्रत–नियम का पालन न किया जाय तो ससार को पार नही किया जा सकता।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि केशोत्पाटन करने से कष्ट भी होता है और मस्तिष्क की शक्ति को हानि भी पहुचती है। ऐसी स्थिति मे उस्तरे से सिर क्यो न मुडवा लिया जाय? मैं जब छोटा था तो बदनावर ग्राम मे एक मुसलमान ने ऐसा प्रश्न किया था। उसने कहा था– जब आपका धर्म दयामय है तो केश–लोच करने से क्या हिसा नही होती है? जिसका केश–लोच किया जाता है, उसे कष्ट होता है अत यह हिसा का कार्य है।

इस प्रश्न को सुनकर मैंने उससे प्रश्न किया–तुम हजामत क्यो करवाते हो? अच्छे दीखने के लिए ही तो? हजामत कराते–कराते नाई की असावधानी से कभी–कभी चमडी कट जाती है और रक्त निकल आता है और कष्ट होता है। फिर भी अपनी शौक के लिए तुम उस कष्ट से नही डरते और हजामत करवाते हो। मगर अपनी कायरता के कारण केश–लुचन मे हिसा होने की बात कहते हो। तुम तो शौक के लिए इतनी तकलीफ सह लेते हो और हम धर्म के लिए सहते है, इसमे हिसा की बात कहते हो? वास्तव मे हम केशलुचन मे कष्ट नही मानते। हा केश खीचते समय थोडा सा कष्ट जान

पडता है, लेकिन हम उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेते है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि तुम हजामत का कष्ट सहन कर लेते हो।

रह गई मस्तक को हानि पहुचाने की बात। सो केश–लोच से मस्तक को हानि पहुचती तो भगवान् कदापि यह मार्ग न बतलाते। यही नही, मेरा अनुभव तो यह है कि केशलोच के पश्चात् यदि बादाम आदि का तेल मला जाय तो मस्तक की शक्ति और आखो की ज्योति बढती है।

उस्तरा से बाल बनवाने पर बाल ज्यादा बढते हैं, परन्तु भगवान् ने केशलोच का ऐसा उपाय बतलाया है कि जिससे धीरे–धीरे केशो का उगना ही बन्द हो जाता है।

केश लोच करने से कष्ट होता है, मगर उघाडे पैर चलने से भी कष्ट होता है! तो जैसे केश लोच के कष्ट से बचने के लिए उस्तरा रखने की आवश्यकता की जाती है, उसी प्रकार पैरो को कष्ट से बचाने के लिए पालकी की आवश्यकता पडेगी। उसी प्रकार शील का पालन करने मे भी कष्ट भोगने पडते हैं। उन कष्टो से बचने के लिए स्त्री की आवश्यकता अनुभव की जायगी। इस प्रकार कष्ट से बचने के लिए छूट ली जायगी तो धीरे–धीरे दीक्षा का ही उच्छेद हो जायगा।

इन्द्र ने नमिराज से कहा था– क्यो धर्म के पीछे पडे हो? देखते नही, रनवास मे कितना रुदन हो रहा है! हिसा का कैसा पाप हो रहा है! फिर आप इस पाप को क्यो दूर नही करते?

इस प्रकार के उत्तर मे नमिराज ने कहा था– मेरी दीक्षा के कारण कोई नही रो रहा है, सब अपने–अपने स्वार्थ के लिए रो रहे हैं। दीक्षा लेने से पहले तो मैं दूसरो को दण्ड भी देता था ओर हाथ मे तलवार लेकर दूसरो को भयभीत भी करता था, मगर दीक्षा लेने के बाद अगर कोई मेरे सामने तलवार लेकर आ जाय तो में आख भी लाल नही करूगा। ऐसा करने पर मे सयम से गिर जाऊ! इस प्रकार ये सब मेरी दीक्षा के लिए नही, अपने स्वार्थ के लिए रोते हैं।

अभिप्राय यह हे कि इस प्रकार अहिसा को आगे किया जाय तो दीक्षा का ही उच्छेद हो जाय। साधुओ के लिए वर्ष मे एक बार केश–लोच करना अनिवार्य हे, यो कोई–कोई तीन बार ओर कोई–कोई चार बार केश–लोच करते हैं। केश–लोच करते समय कोई–कोई साधु स्वाध्याय भी करते जाते हैं ओर प्रसन्नतापूवर्गक केश–लोच करते हैं। परन्तु आज लोगो म

कायरता आ गई है और इसी कारण दया के नाम पर इस प्रकार का प्रश्न किया जाता है।

अहिसा की रक्षा के लिए ही साधुओ को केश–लोच करना आवश्यक बतलाया गया है। भगवान् का कथन है कि मस्तक पर केश रहेगे तो जीवो की उत्पति भी होगी और अहिसा का पालन भी नही हो सकेगा। अहिसा की दृष्टि से केश–लोच का विधान न किया गया होता तो बाल सवारने और तेल मालिश करने आदि की प्रवृत्ति भी बढ गई होती। इसी से भगवान् ने यह उपाय बतलाया है। मगर उस्तरे के साथ काच भी रखना पडता, तेल भी रखना पडता और इस प्रकार आरम्भ की प्रवृत्ति बढ जाती। धीरे–धीरे साधु अपने ध्येय से विलग हो जाते।

मुनि कहते है– साधुओ! अगर तुम तप–नियम की आराधना न करोगे तो शास्त्र तुम्हे अनाथ की कोटि मे रखता है। इस दशा मे तुम साधु नही हो। चारित्रनिष्ठ बने बिना केवल सिर मुडा लेने या केश–लोच कर लेने से ससार को पार नही किया जा सकता। अतएव चारित्रवान् बनो और सयम पालकर जन्म–मरण का उच्छेद करो।

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूड कहावणे वा।
राढामणि वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होई हु जाणएसु।।42।।
कुसीललिगं इह धारइत्ता,
इसिज्झय जीविय वूहइत्ता।
असंजए सजय लप्पमाणो,
विणिग्घायमागच्छइ से चिरपि।।43।।

अर्थ– जिस प्रकार बद की हुई भी खाली मुट्ठी निस्सार है और मणि के समान चमकता हुआ भी काच का टुकडा असार है तथा खोटा सिक्का भी सारहीन है। जानकार के सामने इनका कुछ भी मूल्य नही है। उसी प्रकार व्रत–नियम से रहित किन्तु साधु का वेष धारण करने वाला भी वास्तव मे असयमी होता हुआ भी अपने आपको सयमी बतलाने वाला, चिरकाल तक दु ख भोगता है।

व्याख्यान– महानिर्ग्रंथ मगध सम्राट् से कहते है– राजन! मैं तुम्हे सनाथ–अनाथ का भेद समझाता हू। अनाथता को समझ लेने पर सनाथता को समझना सरल है। नकली रत्न को पहचान लेने पर सच्चे रत्न की परीक्षा

करना सरल होता है। कोई मनुष्य खाली मुट्ठी बद करके किसी को बतलावे तो देखने वाला यही समझेगा कि अवश्य इसमे कुछ होगा। पर जिसने मुट्ठी बन्द की है, वह तो भलीभाति जानता है कि मेरी मुट्ठी खाली है। फिर भी यह जानबूझ कर दूसरो को ठगने के लिए मुट्ठी बद करता है, सोचता है– दूसरो को क्या पता चलेगा कि मेरी मुट्ठी खाली है। मगर उसे समझना चाहिए कि मैं लोगो को ठगता हू, यह मेरी निर्बलता है।

राजन! जैसे खाली मुट्ठी को बन्द करके ठगना ढोंगी आदमी का काम है, उसी प्रकार व्रत–नियमो का पालन न करना और ऊपर से साधु–वेष पहन कर अपने–आप को साधु कहना भी ढोगियो का काम है। सच्चा और भद्र पुरुष खाली मुट्ठी बद करके किसी को ठगेगा नहीं, इसी प्रकार साधु–धर्म का पालन न कर सकने वाला भद्र पुरुष जो ढोगी नहीं है, स्पष्ट कह देगा कि मुझसे साधुता का पालन नहीं हो सकता। वह खाली मुट्ठी बन्द करके लोगो को ठगने का ढोग कदापि नहीं करता।

कहा जा सकता है कि साधुता का पालन न हो सके तो खाली मुट्ठी को बद रखना अच्छा है या खोल देना अच्छा है? अर्थात् साधुता का ऊपरी दिखावा रखना अच्छा या न रखना अच्छा है? इसका उत्तर यह है कि किसी कूप को ऊपर से ढक देना, जिससे कि दूसरे लोग उसे कूप न समझकर गिर जाए, अच्छा नही है। इससे तो कूप को खुला रखना ही अच्छा है। ऐसा होने से कोई भ्रमवश कूप मे नहीं पडेगा। इसी प्रकार जब साधुता का पालन न हो सकता तो स्पष्ट कह देना उचित है, ढोग करना उचित नहीं। भगवान् ने कहा हे कि लोग असाधु की पूजा करे और उसे साधु माने तो समझना चाहिए कि वह विषम काल है।

आजकल इन्द्रजाल के खेल कम होते हैं, पहले बहुत होते थे। उन खेलो मे क्षण–भर मे ककरो के रुपये बना दिये जाते थे। खेल करने वाला रुपये बना–बनाकर फेकता जाता है। फिर भी देखने वाले तो समझते हैं कि यह रुपया केवल दिखलाने के लिए ही हे। अगर सचमुच ही इस प्रकार रुपये बनाये जा सकते तो बनाने वाला पैसे–पैसे की भीख क्यो मागता?

जिस प्रकार इन्द्रजाल का खेल करने वाला कोतुक करके जगत् को ठगता है, उसी प्रकार वे भी जगत् को ठगने वाले हैं जो वास्तव मे साधुता का पालन नहीं करते, फिर भी साधुता का ढोग करते हें। ऐसे ढोगियो की बदौलत ही नवयुवको का धर्म के प्रति श्रद्धाभाव कम होता जा रहा है। इन्हीं

के कारण लोग कहते सुने जाते है कि धर्म ने बहुत आडम्बर फैलाया है और दुनिया मे हाहाकार मचाया है, अतएव धर्म की आवश्यकता नही है।

धर्म पर ऐसा आरोप करने वाले युवक भी बहुत उतावल करते है। उन्हे समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर अगर आडम्बर हो रहा है तो इसमे धर्म का क्या दोष है? कोई भी धर्म आडम्बर का समर्थन नही करता– अपने भीतर उसे प्रश्रय नही देता। और जब तुम आडम्बर को ही दूर करना चाहते हो तो यह क्यो नही कहते हैं कि हम अधर्म का विरोध करते है? तुम आडम्बर को दूर करना चाहते हो तो धर्म को क्यो बदनाम करते हो? धर्म का विरोध क्यो करते हो? आडम्बर के कारण धर्म का विराध करना कितनी भूल–भरी बात है! यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझिए –

किसी मनुष्य ने एक रीछ के साथ मित्रता की। दोनो एक–दूसरे के पक्के मित्र बन गये। एक बार रीछ सो रहा था। उसका मित्र उसके शरीर पर बैठने वाली मक्खियो को उडाने लगा। थोडी देर बाद रीछ जगा और अपने मित्र से कहने लगा– अब तुम सो जाओ। मै मक्खिया उडाऊगा। वह मनुष्य सो गया और रीछ मक्खिया उडाने लगा, परन्तु मक्खियो का तो स्वभाव होता है– एक जगह से उडकर दूसरी जगह बैठना। अतएव वे अपने स्वभाव के अनुसार एक जगह से उडकर दूसरी जगह बैठने लगी। रीछ ने विचार किया, ये मक्खिया बडी दुष्ट है। इन्हे मार डालना चाहिए। यह विचार कर मक्खियो को मारने के लिए वह बडी–सी लाठी उठा लाया। उसे ज्ञान नही था कि लाठी से मक्खियो को मारूगा तो मेरे मित्र पर भी मार पडेगी।

रीछ तो अज्ञानी प्राणी ठहरा। अतएव उसने मक्खियो को मारने के उद्देश्य से अपने मित्र को ही लाठी जमा दी। पर आप तो मनुष्य हैं, समझदार हैं। आपको ऐसी मूर्खता नही करनी चाहिए। आडम्बर के कारण धर्म की अवहेलना न हो, इस बात की सावधानी रखना आवश्यक है। आप ढोग का नाश करना चाहते हैं, यह बहुत ठीक है। शास्त्र भी ढोग को दूर करने का आदेश देता है। किन्तु ढोग को दूर करने के नाम पर धर्म का विनाश करने का प्रयत्न मत करो। ऐसा करना मक्खियो को मारने के लिए अपने मित्र को मारना होगा। धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है –

धारयतीति धर्म

जो पतित होने से बचाता है, वह धर्म है। परन्तु आज भूल से लोग पतित करने वाले को, पीछे हटाने वाले को धर्म समझते हैं।

एक लेखक ने लिखा है कि मेरी चले तो मैं धर्म को ताक मे रख दू और गरीवो को महलो मे बसा दू। पर मैं पूछता हू कि गरीबो को महलो मे बसाने वाले अमीरो को कहा बसाएगे? उन्हे झोपडो मे बसाओगे? क्या यही समस्या का समाधान है? एक को गिरा कर दूसरे को ऊचा चढाना क्या उचित है? धर्म इस प्रकार का राग–द्वेष करने से रोकता है। वह सब का समान भाव से अभ्युदय चाहता है। किसी के साथ पक्षपात नही करता।

फिर भी जो धर्म के अनुयायी है, जो धर्म को जगत् का कल्याणकर्ता मानते हैं, उन्हे सावधान रहना चाहिए। उन्हे समझना चाहिए कि नवयुवको को धर्म के प्रति द्वेष उत्पन्न होने के कारण धर्मात्मा कहलाने वालो का ढोग है। अगर धर्मात्मा कहलाने वाले धर्म का बराबर पालन करे और किसी के प्रति राग–द्वेष न रखे तो कोई धर्म की निन्दा नही कर सकता, कोई धर्म का विरोध नही कर सकता।

अनाथी मुनि ने दूसरा उदाहरण खोटे सिक्के का दिया है। खोटे सिक्के का कोई सग्रह नही करता। उसे चलाने की कोशिश करने वाला सरकार का अपराधी समझा जाता है और दण्ड का पात्र होता है।

एक पुस्तक मे खोटे सिक्के के सवध मे एक कहानी पढी थी। उसमे लिखा था– वादशाह और औरगजेब धर्म का बडा कट्टर था। उसकी इस अभिलाषा का पता इस उक्ति से भी लगता है –

शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सब की।

औरगजेब का समय धार्मिक कट्टरता का समय था। एक बार उसने विचार किया सब को मार–पीट करके भी इस्लाम मे लाना चाहिए। अगर मैं इतना भी न कर सका और अल्लाह ताला के धर्म को न फैला सका तो मेरा बादशाह होना ही बेकार हो गया।

बादशाह के मित्रो मे एक लालदास नामक बाबा भी था। वह दरवार मे भी आता–जाता था। वादशाह ने सोचा– अगर यह बाबा मेरी इच्छा का समर्थन कर दे तो मेरी मुराद पूरी हो जाय और सब काम सरल हो जाय। ऐसा सोचकर उसने वावा लालदास से पूछा– बाबाजी, मुझे दुनिया की बन्दगी करनी चाहिए या खुदा की?

बावा–इसमे पूछने की बात ही क्या हे? बन्दगी तो खुदा की ही करनी चाहिए।

बादशाह–यह ता ठीक हे मगर बादशाह को अपनी हेसियत के मुआफिक ही खुदा की वन्दगी करनी चाहिए न?

बाबा– यह भी ठीक है।

बादशाह– तो खुदा की बन्दगी के लिए मैने यह विचार किया है कि जो लोग राजी–खुशी मुसलमान होने को तैयार नही, उन्हे मारपीट करके जबरदस्ती कलमा पढवा दिया जाय और मुसलमान बना लिया जाय। कहिए, मेरा यह विचार ठीक है या नही?

बाबा–आपके मन मे जो विचार आया है, उसे देवदूत भी नही बदल सकता। दूसरो की तो बात ही क्या है?

बादशाह– ठीक है, सबसे पहले आपको ही मुसलमान बनना होगा।

बाबा– मै आपसे कहा दूर हूं? जब मै आपको सलाह दे रहा हू और आप जबर्दस्ती ही मुसलमान बना रहे है, तो मैं कैसे बच सकता हू?

इस प्रकार वार्तालाप होने के पश्चात् लालदास अपने स्थान पर चले गये और सोचने लगे बादशाह को किस प्रकार समझाना चाहिए? आखिर उन्होने एक उपाय सोच लिया और वह उपाय करने के लिए अपने चेले को समझा दिया।

दूसरे दिन बाबाजी बादशाह के पास बैठे थे कि उसी समय उनका चेला वहा आया और बाबाजी से कहने लगा– यहा के सराफ बहुत ही बदनाम हो गए है।

बाबा–क्यो, क्या हुआ?

चेला–कहते है, रुपया खोटा है। इसके पैसे नही मिल सकते। उन्होने यह भी कहा कि तुम बाबाजी के चेले हो, इसी से छोड देते हैं। अन्यथा रिपोर्ट करके दड दिलाते। अब अपना रुपया लेकर चुप–चाप चले जाओ।

बादशाह यह बात सुन रहा था। उसने बाबाजी से पूछा– क्या बात है?

बाबाजी– यहा के सराफ इतने बदमाश हो गये हैं कि बादशाह के सिक्के को भी नही मानते। देखिये, मेरा चेला रुपया लेकर वापिस लौटा है। इस पर बादशाह की छाप है, फिर भी सराफो ने उसे खोटा कह कर फैंक दिया।

आलमगीर का कायदा प्रसिद्ध है। कहते है– अग्रेजो ने भी उस कायदे का बहुत–सा हिस्सा अपने कायदे मे लिया है।

बादशाह ने बाबाजी से रुपया लेकर देखा और पूछा– यह रुपया आपको किसने दिया है? आपको मेरे कानून का पता नही है? यह रुपया खोटा है और खोटा रुपया चलाने वाले को मैं सख्त दण्ड देता हू। मैं जानता

हू कि आपने यह रुपया बनाया नहीं होगा, पर आपको यह रुपया दिया किसने है?

बाबा– यह खोटा है तो क्या हो गया? इस पर बादशाह की छाप तो है ही।

बादशाह– मेरा सिक्का सच्चा होना चाहिए। मेरी छाप होने पर भी खोटा सिक्का बनाना और चलाना गुनाह है।

बाबाजी–ऐसा? तो खुदा के नाम पर किसी पर जुल्म गुजारना और मार–मार कर मुसलमान बनाना क्या गुनाह नही है। ऐसा करना क्या खोटा सिक्का चलाने के समान अपराध नही है?

बादशाह समझ गया। उसने पूछा– तब क्या करना चाहिये? बाबा बोले– कोई अपनी मर्जी से मुसलमान बने तो बात अलग है, परन्तु धर्म के लिए सबको स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अनाथ मुनि तीसरा उदाहरण देते हैं। कहते हैं– काच का टुकडा कितना ही क्यो न चमकता हो और हीरा–पन्ना जैसा क्यो न दृष्टिगोचर होता हो, फिर भी वह रत्न नही है और उसकी रत्न जितनी कीमत नही आकी जाती। कोई व्यक्ति काच के टुकडे को रत्न कह दे तो अज्ञानी ही उसे सत्य मान सकता है। जानकार उसे रत्न नही मान सकता।

मुनि ये तीन उदाहरण देकर कहते हैं–जैसी खाली मुट्ठी, खोटा सिक्का और काच का टुकडा असार है, उसी प्रकार व्रत–नियमो के अभाव मे कोरा साधुवेष ओर बाह्य क्रिया भी असार हे। जो बाहर से साधुता का प्रदर्शन करता हे और अन्दर दूसरा ही भाव रखता है, साधुता के पालन का भाव नही रखता, वह भी असार हे।

इन उदाहरणो को किसी भी दृष्टि से घटाया जा सकता है। कहावत प्रसिद्ध हे –

ऊची–सी दूकान, फीके पकवान
पाच सो की पूजी पर, पन्द्रह सौ का दिवाला है।

अर्थात् पूजी तो थोडी है, पर ऊपरी दिखावा बहुत हे जिससे कि लोग उसे धनवान् समझकर अपना धन सौंप जाए।

यही बात उन साधुओ के लिए भी समझनी चाहिए जो साधुपन की पूजी न होने पर भी ऊपर से ढोग दिखलाते हैं। सच्चा तत्त्वज्ञानी अन्दर कुछ ओर रखकर तथा वाहर से कुछ ओर बतलाकर किसी को ठगने का प्रयत्न नही करेगा।

यद्यपि अनाथी मुनि ने जो कुछ कहा है, साधुओ को लक्ष्य मे रखकर कहा है, तथापि उनका कथन सभी पर लागू होता है। श्रावको को भी भीतर कुछ और बाहर कुछ बतलाने से बचना चाहिए। शास्त्र मे कहा है –

माया मिच्छादिट्ठी, अमायी सम्मदिट्ठी।

अर्थात् जो अन्दर कुछ रखता है और बाहर कुछ और ही दिखलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि तो वह है जो कपटभाव न रखता हुआ भीतर–बाहर एक–सा होता है।

कदाचित् कोई कहे–यद्यपि हम श्रावक है, फिर भी आखिर तो गृहस्थ ठहरे। ऊपर का भभका न रक्खे तो काम कैसे चले? हमे 'पालिस' रखनी पडती है। परन्तु इस विषय मे ज्ञानी कहते है–

उघरे अन्त न होई निबाहू कालनेमि जिमि रावण राहू।

तुलसीदासजी कहते है– रावण साधु बना था, परन्तु साधु–धर्म का पालन करने के लिए नही, किन्तु राम और सीता को ठगने के लिए। वह सोचता था कि इस वेष से उन्हे ठगने मे सहुलियत होगी। अपना मतलब गाठने के लिए जो भी उपयुक्त उपाय हो, करना चाहिये। इसी दृष्टि से वह साधु बना था, किन्तु अन्त मे कलई खुल कर ही रही। आखिर परिणाम क्या आया? उसने धर्म के नाम पर ठगाई जरुर की, पर ठगाई क्या चल सकी ? नही। ऐसा विचार कर समझदार लोग ढोग नही करते और जनता को धोखा नही देते। वे तो आत्मा को शान्त और सरल बनाने मे दत्तचित रहते हैं।

एक योगी ने योगसाधना सीख लेने के पश्चात् दूसरे योगी से कहा– देखो, योगसाधना मे मैने जो सफलता प्राप्त की है, उसका चमत्कार अभी आपको बतलाता हू। दूसरे ने कहा– योगसाधना मे सफलता पाने वाला कभी अपने मुह से ऐसी बात नही निकालता। तुम्हारे कहने से जान पडता है कि तुमने योग नही सीखा। तब पहला योगी कहने लगा– आपका यही विचार हे तो लीजिए अभी बतलाता हू कि मैने कैसा योग सीखा है।

इतना कहकर उस योगी ने सामने से आते हुए एक हाथी पर दृष्टि फेकी। हाथी मूर्च्छित होकर जमीन पर ढह पडा। तब वह मुस्कराता हुआ कहने लगा–देखा, मेरे योग का प्रभाव।

दूसरा योगी– इसमे क्या योग है? यह बात तो दूसरी तरह से भी हो सकती हे। अपने मनरूपी मतग को गिरा देने और उसका दमन करने मे योग की सफलता है। इस प्रकार के चमत्कार दिखाने मे योग की सफलता नही है।

साधु पुरुष ऐसे चमत्कार दिखलाने और लोगो को ठगने मे कदापि प्रवृत्त नही होते। कुछ लोगो के कथनानुसार चमत्कार को नमस्कार होता है, अतएव चमत्कार अवश्य दिखलाना चाहिए, किन्तु साधुओ को तो अहकार को जीतने का ही चमत्कार दिखलाना चाहिए। इसी मे उनका श्रेय है।

अनाथ मुनि कहते है– राजन! साधुपन दुनिया को ठगने के लिए तथा लोगो को अपने चरणो मे झुकाने के लिये नही है। साधुपन लेकर उसका बराबर पालन न करना और लोगो को झुकाने के लिए ऊपर से ढोग करना तो खाली मुट्ठी को बन्द करके दूसरो को बतलाने के समान है। खाली और बन्द की हुई मुट्ठी को दूसरा भले भरी हुई समझ ले, पर मुट्ठी बन्द करने वाला तो भलीभाति समझता है कि मेरी मुट्ठी खाली है। इसी प्रकार दिखावटी साधुपन से भले ही दूसरे धोखे मे आ जाए, परन्तु वह स्वय तो समझता ही है कि मैं वास्तव मे साधु नही हू। फिर इस प्रकार की ठगाई करने से क्या लाभ है? धर्म के नाम पर लोगो को ठगने की नीचता के समान और क्या नीचता हो सकती है? कहा है –

जीम सफाई करके भाई धर्मी नाम धरावे।
पोली मुट्ठी जहा असार यो बतलावे।।

हृदय मे कुछ रखना और ऊपर से कुछ और दिखलाना एक प्रकार की ठगाई है।

कहा जा सकता है– तो फिर साधु न बनना ही अच्छा है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मान लीजिए, एक आदमी कहता है कि पाठशाला मे आने वाले कितने ही लोग मूर्ख भी होते है अथवा मूर्ख भी कहलाते हैं, अतएव मे पाठशाला मे नही जाता और इसलिए मूर्ख भी नही कहलाता। यो कह कर वह पाठशाला मे नही जाता। दूसरा आदमी पाठशाला मे जाता तो है पर बराबर पाठ याद नही करता और शिक्षक के हाथो मार खाता है। शिक्षक उसे मूर्ख भी कहता है। तीसरा पाठशाला जाता है और बराबर पाठ तैयार करता हे।

इन तीन प्रकार के आदमियो मे से आप किसे अच्छा समझते हैं ? आप यही कहेगे कि पाठशाला न जाने वाला पहला आदमी तो नालायक ही हे। उसका भविष्य सदेव अन्धकारमय रहेगा। उसके सुधार की कोई सभावना नही ह। हा, दूसरा मनुष्य, जो पाठशाला जाता है पर बराबर अभ्यास नही करता किसी–न–किसी दिन सुधर सकता हे। तीसरा मनुष्य तो उत्तम है ही।

साधुपन के विषय मे भी यही समझना चाहिए। ससार मे कोई–कोई तो ऐसे होते हैं जो कहते हैं– धर्म का नाम भी मत लो! ऐसे लोग धर्म स्वीकार नही करते, धर्म का पालन नही करते और धर्म का नाम–निशान भी नही रहने देना चाहते। दूसरे प्रकार के लोग धर्म को स्वीकार तो करते है, परन्तु बराबर पालन नही करते। तीसरी श्रेणी वाले धर्म को स्वीकार भी करते है और पालते भी है। इसी तरह ससार मे तीनो तरह के लोग है। विचारणीय बात यह है कि जिन्होने धर्म को स्वीकार ही नही किया, उन्हे धर्म की टीका करने का क्या अधिकार है? जो पाठशाला मे गया नही और जाता भी नही, उसे पाठशाला की बुराई करने की क्या आवश्यकता है? परन्तु आज धर्म तो बिना बाप का बेटा–अनाथ हो रहा है। कौन उसकी हिमायत करे? जो चाहता है, वही उसकी बुराई करने लगता है।

अभिप्राय यह है कि जो धर्म की शिक्षा को ही स्वीकार नही करता, फिर भी धर्म की टीका–टिप्पणी करता है वह अयोग्य और अभव्य के समान है। दूसरे प्रकार का मनुष्य वह है जो धर्म की शाला मे जाता है, धर्म को अगीकार करता है और लिग को धारण करता है, किन्तु धर्म का पालन नही करता। ऐसा व्यक्ति यद्यपि धर्म का पालन करने वाले से निम्न कोटि का है, फिर भी पहले व्यक्ति से अच्छा है। वह धर्म को अगीकार न करने वाले की अपेक्षा भी बुरा नही कहा जा सकता। भावना तो यही होनी चाहिए कि मै निरपवाद धर्म का पालन कर सकू, फिर भी कोई ऐसा न कर सकता हो तो उसे अपनी दुर्बलता मानना चाहिए और किसी भी प्रकार के दम्भ का आश्रय नही लेना चाहिए।

अनाथ मुनि खोटे रुपये का उदाहरण देकर कहते है– जैसे खोटे रुपये का कोई सग्रह नही करता, साहूकार उसे अपनी तिजोरी मे स्थान नही देता, उसी प्रकार ज्ञानीजनो की दृष्टि मे वे साधु आदर नही पाते, जो वास्तव मे साधुपन नही पालते, किन्तु ऊपर से साधु होने का दिखावा मात्र करते हैं।

आप एक रुपया लेते है तो भी परख कर और बजा कर लेते हैं। जानबूझ कर खोटा रुपया नही लेते। यही नही, साहूकार लोग खोटे रुपये को उसी समय काट डालते हैं।

इसी प्रकार काच कितना ही चमकदार क्यो न हो, जानकार उसे हीरा नही मानता। यही बात साधुओ के विषय मे भी समझ लो। हा जैसे आज काच और हीरा परखने वाले भी कम हैं, फिर भी जो परखने वाले है

उनके सामने साधुता का पालन न करने वाले किन्तु साधु का वेष पहनने वाले प्रतिष्ठा नही पा सकते।

अनाथ मुनि कहते हैं– जैसे खोटे रुपये की और काच की कोई कीमत नही, उसी प्रकार कुशील–लिग साधु की भी कोई प्रतिष्ठा नही।

शास्त्र मे पाच प्रकार के कुशील कहे गये हैं, जो अवन्दनीय हैं। शास्त्र मे उनका वर्णन करते कहा गया है कि कुशीलो को वन्दना–नमस्कार करने से प्रायश्चित्त आता है। कुशील का अर्थ है **'कुत्सितं शील यस्य स कुशील ।'** अर्थात् जिसका आचार निन्दित हो, वह कुशील कहलाता है।

बाजार मे सडी नारगी भी मिलती है और अच्छी नारगी भी मिलती है। नारगी तो दोनो कहलाती हैं, परन्तु पैसा देकर खरीदने वाला कैसी नारगी खरीदेगा? आकार–प्रकार मे तो सडी नारगी भी अच्छी जैसी दिखाई पडती है, फिर भी खरीददार अच्छी ही खरीदेगा, सडी नही। उसी प्रकार शास्त्र कहता हे कि वेशभूषा वगैरह मे कुशील–लिगी भी साधु जैसा ही दिखाई देता है, मगर साधुता–असाधुता का पारखी कुशील–लिगी को आदर नही दे सकता।

मुनि कहते है– साधु का लिग– मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि ऋश्वरो का चिह्न ही देखा जाता है और उसी से साधु की पहचान होती हे। सिद्धात मे भी कहा है–

लोगे लिगपओयण

अर्थात् लोक मे लिग का भी प्रयोजन हे। यद्यपि निश्चय मे लिग की आवश्यकता नही रहती, पर लोक मे तो लिग की आवश्यकता रहती ही हे। लिग के अभाव मे मर्यादा भग हो जाती है। उदाहरणार्थ – आवश्यकता तो तालाब के पानी की हे, लेकिन पाल के बिना पानी नही रह सकता। इसी प्रकार आवश्यकता तो धर्म की हे, मगर ससार मे धर्म चलाना हे, अतएव लिग की भी आवश्यकता हे। तालाब की पाल बाधने मे जितनी मेहनत पडती हे, उतनी पानी लाने मे नही पडती। तालाब मे पानी आ जाय, किन्तु पाल न हो तो वह टिक नही सकता। कोई मनुष्य पाल तोडने लगे तो उससे यह नहीं कहा जाता कि तू पाल को हानि पहुचाता हे, मगर यही कहा जाता है कि तू पानी को हानि पहुचा रहा हे।

इसी प्रकार दीक्षा देने मे मेहनत नही करनी पडती। दीक्षा तो हृदय मे ही होती हे। परन्तु दीक्षा देना और मुहपत्ती बाधना या वेष पहनना दीक्षा की पाल बाधने के समान ह। निश्चय मे तो पगडी पहनने वाले मे भी साधुता

हो सकती है, परन्तु वेष की पाल बाधी न होने से वह साधुता टिक नही सकती। अतएव वेष भी काम की वस्तु है और साधुता को टिकाये रखने मे सहायक है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान से विचलित हो गये थे, किन्तु जब उन्होने मस्तक पर हाथ फेरा, तब खयाल आया कि– अरे, मैं तो साधु हू! यह क्या कर रहा हू? यह ख्याल आते ही वे फिर ध्यान मे स्थिर हो गये। अगर उन्होने मस्तक न मुडाया होता और मस्तक पर मुकुट धारण किया होता तो क्या वे फिर ध्यान मे स्थिर हो गये होते? इस प्रकार वेष साधुता की पाल है और उसकी आवश्यकता भी है। हा, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाल केवल पाल ही न रह जाय! किसी तालाब के पाल तो बाध दी गई, पर उसमे पानी नही आया तो केवल पाल ही पाल रह जायेगी– तालाब खाली कहलाएगा। इसी प्रकार कोरा वेष ही धारण किया जाय और साधुता का पालन न किया जाय तो वह खाली तालाब के समान है। पानी की आवश्यकता होने पर भी पाल की आवश्यकता है। इसी प्रकार साधुता की आवश्यकता के साथ लिग की भी आवश्यकता है। शास्त्र मे अनेक स्थानो पर पाठ आता है –

तहारूवाण समणाणं निग्गंथाण।

यहा 'तहारूवाण' पद देकर सबसे पहले लिग को आवश्यक बतलाया गया है। यहा कहा गया है कि साधु 'तथारूप' होना चाहिए क्योकि पहले रूप दिखाई देता है ? साधुपन तो बाद मे मालूम पडता है।

इस प्रकार जो रूप साधुओ का परिचायक है और ऋषीश्वरो का चिह्न है, उसे भी कुशील–लिगी लोग अपनी आजीविका का साधन बना लेते है और असयमी होने पर भी अपने–आप को सयमी कहलवाते हैं। अनाथ मुनि कहते है –ऐसा करने वाले अनत काल तक ससार मे भटकते हैं।

जो पाठशाला मे अभ्यास करने ही नही जाता, वह मूर्ख है। अतएव उसके सम्बन्ध मे कुछ कहना ही नही है। शिक्षक उसी को दण्ड देता है जो पाठशाला मे जाकर भी अभ्यास नही करता। यद्यपि शिक्षक का दिया दण्ड भोगना पडता है, लेकिन दण्ड भोगने वाला एक दिन विद्वान बन जाता है। परन्तु चतुर विद्यार्थी तो पहले ही सोच लेता है कि मै शाला मे जाता हू तो मुझे बिना दण्ड भोगे बराबर अभ्यास करना चाहिये। मैं क्यो दण्ड सहन करू ? इसी प्रकार सजा भुगते बिना, पहले ही निर्दोष सयम का पालन करने वाला श्रेष्ठ गिना जाता है।

विस तु पीय जह कालकूड, हणाई सत्थ जह कुगहीय।
एसोवि धम्मो विसओवन्नो, हणाई वेयाल इवविवन्नो ।।44।।

अर्थ– जैसे पीया हुआ कालकूट विष मार डालता है, बुरी तरह पकडा हुआ हथियार काट डालता है अविधि से जपा हुआ मत्र प्राणनाशक होता है उसी प्रकार विषय–भोग–मिश्रित यतिधर्म (व्रत–नियम से रहित साधुवेष) भी अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करता है।

व्याख्यान– अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक के समक्ष जो उद्‌गार निकाले हैं और जिन्हे गणधरो ने अपने हित के लिए शास्त्र मे गूथा है, उन्हे सुन कर आप भी अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ। अनाथ मुनि ने जो कहा है, साधुओ को लक्ष्य करके कहा है, लेकिन आप मुनियो के साक्षीरूप हैं। उन्होने राजा श्रेणिक को साक्षी बनाया था, लेकिन आजकल कई लोग लाच लेकर साक्षी देने को तैयार हो जाते हैं। आप ऐसी साक्षी न बने। आप सच्चे साक्षी बने तो मुनियो का भी कल्याण होगा और आपका भी कल्याण होगा।

इस गाथा मे मार्मिक उपदेश दिया गया है। मुनिराज कहते हैं– जो अनाथता से छूटकर सनाथ बनने को तैयार हुआ है और जिसने धर्म का आश्रय लिया है, फिर भी अगर उसकी विषय–वासना छूटी नही है, वह विषय–वासना की पूर्ति के लिए ही धर्म को धारण करता है तो वह ऐसे मनुष्य के समान है जो जीवित रहने की इच्छा से कालकूट का पान करता है। जीवित रहने की अभिलाषा करना और कालकूट विष का पान करना परस्पर विरोधी बाते हैं। इसी प्रकार ऊपर से तो धर्म का उपदेश देना और अन्तरग मे विषय–वासना को आश्रय देना जीवन की इच्छा से विष–सेवन करने के ही समान है।

मुनिराज इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, एक मनुष्य शत्रु को मारने के लिए तलवार लेकर घर से निकला। मगर उसने तलवार उलटी पकडी है, अर्थात् मूठ की ओर से न पकड कर नोक की तरफ से पकडी है। इसी तरह उलटी तलवार पकडने वाला मनुष्य आपको दिखलाई दे तो आप उसे कैसा समझेगे? उसे मूर्ख ही समझेगे न! आप कहेगे – यह शत्रु को मारने जा रहा है अथवा अपने–आप को मारने जा रहा है?

तो जिस प्रकार जीवित रहने की इच्छा से कालकूट विष को पान करने वाला और शत्रु को मारने के लिए निकलने पर भी उलटा शस्त्र पकडने वाला अपनी मृत्यु का ही कारण बनता हे, उसी प्रकार जो अपनी विषय–वासना को पोषण करने के लिये ही धर्म का ढोग करता है, वह भी अपना ही अहित करता है।

अनाथ मुनि इसी विषय मे तीसरा उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण उस समय की स्थिति का तथा उस समय की जनता मे फैले भ्रम का द्योतक है। मुनिराज कहते है— जैसे कोई मनुष्य दूसरो का भूत भगाने के लिए तैयार होता है, परन्तु अपना रक्षण नही करता और परिणामस्वरूप वह भूत उसी को खाता है। इसी प्रकार जो दूसरो को अहिसा, क्षमा आदि का उपदेश देता है, परन्तु उन्हे स्वीकार करने की पतिज्ञा करके भी उनका स्वय पालन नही करता, उसकी भी ऐसी ही गति होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे उपर्युक्त तीनो पुरुष जो चाहते हैं उससे विपरीत कार्य करते हैं, उसी प्रकार जो सयम लेकर उसका पालन नही करते, वरन् सयम के सहारे अपनी आजीविका चलाते हैं, वे भी विपरीत ही आचरण करते है।

इस ससार मे कौन अपना कल्याण नही चाहता? सब अपना कल्याण चाहते हैं, फिर भी बहुत–से कल्याणकारी कार्य नही करते। ऐसे लोगो के प्रति शास्त्रकार अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता हो और फिर भी जहर पीना चाहता हो तो दूसरा मनुष्य उससे कहता है— यह प्राणहारी विष है, इसे छोड दे और दूध पी ले। फिर भी वह जहर पीने का ही दुराग्रह करे तो उसे क्या कहना चाहिए? इसी प्रकार एक मनुष्य साधुता को कल्याणकारी मानता है, परन्तु विपरीत मार्ग पर जा रहा है। उसे दूसरा सावधान करता है–तुम धर्म को उत्तम मानते हो सो ठीक है, पर विपरीत मार्ग पर चल रहे हो।' इस प्रकार सावधान करने पर भी अगर वह विपरीत मार्ग को न छोडे और कहे कि हम कुछ भी करे, तुम्हे बीच मे पडने की क्या आवश्यकता है? तो ऐसे लोगो के सम्बन्ध मे यही कहना पडेगा कि वे मोह मे पडे हैं। कदाचित् भूल बतलाने वाला भ्रम मे हो और भ्रम के कारण ही उसके द्वारा असत्य कहा गया हो, तो भी जो मोह मे नहीं पडा है, वह क्रोध नही करेगा। वह नम्रतापूर्वक समझायेगा कि तुम भ्रम मे हो। परन्तु जो समझाने के बदले क्रोध करता है, उसके विषय मे तो यही समझना होगा कि वह अपना मार्ग भूला है।

नासिरुद्दीन महमूद नामक एक बादशाह हो गया है। यद्यपि वह गुलाम खानदान का था, पर कहा जाता है कि उसका हृदय उदार था। वह अच्छा लेखक था और उसके अक्षर बहुत सुन्दर थे, वह राज्य के पैसे का उपयोग नही करता था, वरन् कुरान आदि पुस्तके लिख–लिख कर बेचता था और उसी से अपनी आजीविका चलाता था।

एक बार उसने अपने हाथो लिखी कुरान की पोथी एक मौलवी को बतलाई। मौलवी ने कहा– इस जगह अनुस्वार (नुकता) होना चाहिए। यह भूल रह गई है।

बादशाह ने अनुस्वार लगा दिया। जब मौलवी चला गया तो उसने वह अनुस्वार हटा दिया। सरदारो ने पूछा–ऐसा करने का प्रयोजन? अगर अनुस्वार नही होना चाहिए तो पहले क्यो बढाया? और यदि होना चाहिए तो बाद मे उसे हटा क्यो दिया?

बादशाह ने कहा–यद्यपि भूल न थी, पर मौलवी ने भूल बतलाई तो मैंने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसा न करता तो मौलवी का चित्त दु खी होता। वह बहुत दूर से चलकर आया था। मैं उसकी बात न मानता तो मेरी भूल मुझे कोन बतलाता? मैं भूल बतलाने के लिए उसका उपकार मानता हू। मैं उसकी बात न मानता तो वह मुझे कोई शिक्षा ही न देता। परिणामस्वरूप मैं अपराधी हो जाता।

तात्पर्य यह है कि बादशाह ने अवास्तविक शिक्षा देने वाले पर भी क्रोध नही किया, उलटा उसका उपकार माना। ऐसी स्थिति मे जो मुनि होकर भी शिक्षा देने वाले पर नाराज होता है, वह 'इतो भ्रस्टस्ततो भ्रष्ट' की कहावत चरितार्थ करता है। हा, जो क्रोध नहीं करता और अपनी वास्तविकता शातिपूर्वक समझा देता हे, मानना चाहिए कि वह सन्मार्ग पर है।

जो प्रतिज्ञा जिस रूप मे अगीकार की हो, उसे अन्त तक उसी रूप मे पालना वीरो का मार्ग हे। इसके विपरित घोटाला करने वाले पतित हैं। अनाथ मुनि के कथनानुसार विषय–वासना के पोषण के लिए धर्म की सहायता लेना जीवन की आशा से विष का सेवन करना हे। अतएव अनाथ मुनि का यह उपदेश सुनकर मुनियो को विचार करना चाहिए कि मैं ऊर्ध्वगामी होना चाहता हू। अगर मैंने अधोगामी होने के कार्य किये तो ऊर्ध्वगामी कैसे हो सकूगा? अत हे प्रभो! मुझसे ऐसा काम न हो, जिससे मेरी आत्मा अधोगामी वने। यह तो साधु की वात हुई। आप लोग भी अपने विषय मे विचार करे। आप सन्त की सेवा के लिए दूर से आये हैं। अगर सन्तो की सेवा विषय–लालसा को पुष्ट करने के उद्देश्य से की तो आपका यह काम विपरीत होगा। आपके अन्त करण मे विषय–लालसा नही होनी चाहिए। आपको तो विषय–लालसा पर विजय प्राप्त करने के लिए साधुओ की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना रखकर साधुओ की सेवा करोगे तो कल्याण के भागी वन सकोगे। इसके विरुद्ध अगर आप यह कहे कि 'हम तो कुछ–न–कुछ

चमत्कार देखने के लिए साधुओ के पास आते हैं, साधुओ के पास चमत्कार होना ही चाहिए। अगर चमत्कार नहीं है तो उनका गृहत्याग करना वृथा है। नमस्कार तो चमत्कार को ही होता है।' तो आप मोह मे पडे हैं।

ससारी लोगो के कदाचित् ऐसी भावना हो सकती है, परन्तु साधुओ को तो इस पकार की भावना पास भी नही फटकने देनी चाहिए।

ज्ञातासूत्र मे कहा है कि ग्वालिका सती सुकुमालिका के घर गोचरी के लिए गई। सुकुमालिका ने सोचा– इनके पास कुछ चमत्कार तो होगा ही। पहले आहार–पानी दे दू, फिर चमत्कार के विषय मे पूछूगी। उसने प्रीति के साथ आहार–पानी बहराया और फिर हाथ जोडकर उनकी प्रशसा करती हुई कहने लगी– आर्ये! आप साध्वी हैं, गुप्त ब्रह्मचारिणी हैं। अतएव मैं आपके समक्ष अपना दु ख प्रकट करना चाहती हू और उसके प्रतिकार का मार्ग जानना चाहती हू। मै पर–पुरुष की कामना नही करती। मेरे पिता ने योग्य पुरुष के साथ मेरा विवाह सबध किया था, परन्तु वह मुझे छोड कर चला गया। फिर मैं एक भिखारी को दे दी गई। दुर्भाग्य से उसने भी मेरा परित्याग कर दिया। अब कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइए, जिससे मेरा दु ख दूर हो जाय?

सुकुमालिका की बात सुनकर ग्वालिका सती ने कानो मे अगुली डाल कर कहा– इस विषय मे हमे कुछ सुनना भी नही कल्पता तो कहने की बात ही दूर रही। हा, तुझे ससार अरुचिकर प्रतीत होता हो तो मैं धर्म का उपदेश दे सकती हू।

ग्वालिका सती ने उसे धर्म का उपदेश दिया। उसकी विषय–वासना उपशात हो गई। वह कहने लगी– 'परमात्मा को छोडकर यह शरीर अब किसे सौपूं?'

आशय यह है कि ससार मे सब तरह के लोग हैं, मगर आप को इस प्रकार की भावना से बचना चाहिए। फिर भी अगर आप न बच सके तो हम साधुओ को तो इस प्रपच से बचना ही चाहिए। आपको ही समझना चाहिए कि जिस धर्म मे अनत शक्ति है, क्या उससे तुच्छ सासारिक सुख की प्राप्ति की आशा हमे करनी चाहिये? जो मिलना होगा वह तो लालसा किये बिना ही मिलकर ही रहेगा। लालसा न करने से अनन्त गुण फल मिलता है। ऐसा विचार कर धर्म से सासारिक विषय–वासना की पूर्ति की आशा न रखने में ही कल्याण है।

राजा! यही बात साधु वेश के लिए भी समझ लो। साधु का वेश सयम के लिए हैं। साधु–वेश से सयम पालने की पहचान होती है। वेश को

देखकर जनता यह जानती है कि ये वेश धारण करने वाले, पचमहाव्रत के पालक और सनाथ हैं। लेकिन राजन्, यदि कोई आदमी केवल वेश धारण किये रहे, पचमहाव्रत का पालन न करे, तो यह खाली वेश, उसे उस दण्ड से कदापि नहीं बचा सकता, जो दण्ड, पचमहाव्रत स्वीकार करके फिर पालन न करने से मिलता है। बल्कि यह थोथा साधु–वेश, उस दण्ड में उसी प्रकार वृद्धि करता है, जिस प्रकार अपराध करने पर राजमुद्रा दण्ड में वृद्धि करता है।

राजा! कभी कोई कहे कि साधु–चिह्न, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखकर, यदि पचमहाव्रत का पालन न किया, तब भी कुछ–न–कुछ यतना तो करेगी ही। फिर उसने बुरा क्या किया, जो उसे अधिक दण्ड–नरकादि मिलता है? लेकिन राजा! महाव्रतो का पालन न करके भी, वह रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि किस अभिप्राय से रखता है, इसे देखो। पचमहाव्रत का पालन न करके भी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि रखने से उसका अभिप्राय जयणा करना नही है, किन्तु लोगो को धोखा देना है। पचमहाव्रत की घात करके वह रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि आजीविका के लिए रखता है। यदि यतना के लिए रखता होता तो पचमहाव्रत की घात ही क्यो करता? कोई चोर, पैसो की चोरी न करके, रुपयो की चोरी करे, तो इसका यह अर्थ नही है कि वह इतने अश मे ईमानदार है। ईमानदार तो तब होता, जब रुपयो की भी चोरी न करता। रुपयो की चोरी करता है इसलिए पैसो की चोरी छोडकर रुपयो की चोरी करने वाला अधिक धूर्त है। उसने धूर्त्तता के लिए पैसो की चोरी छोडी है। इसी प्रकार पचमहाव्रत की बात करे और जयणा के नाम पर साधु–लिग धारण किये रहे, तो यह धूर्तता के सिवा ओर कुछ नही कहा जा सकता। जिस आदमी को जयणा का ध्यान होगा, वह पचमहाव्रत की घात करे, यह कदापि सम्भव नहीं है।

जे लक्खण सुविण पउजमाणे
निमित्त कोऊहल सपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
ण गच्छई सरण तम्मि काले ।।45।।

अर्थ– जो मनुष्य साधु बनकर स्वप्न एव लक्षण आदि का शुभाशुभ फल बतलाता है, भूकप या आकाशविग्रह आदि बतलाता है, पुत्र–प्राप्ति का उपाय करवाता है, चमत्कार की बाते बतलाता हे और इन कार्यों से अपनी आजीविका करता हे, वह अन्त समय मे दु खो से त्राण नही पा सकता। वह अशरण– अनाथ होता है।

व्याख्यान– मुनिराज ने पहले मूल गुणो की ओर से होने वाली अनाथता बतलाई थी। अब वे उत्तर गुणो की ओर से होने वाली अनाथता का दिग्दर्शन कराते हैं।

मुनि कहते हैं– जो लोग घर–द्वार छोडकर साधु बने हैं, उनका फिर विषय–वासना की और झुक कर गुलाम बन जाना दु ख की बात है। जो चढता ही नही, उसकी बात न्यारी है, परन्तु जो ऊचा चढकर नीचे गिरता है, वह सब की नजरो मे आ जाता है। उसके लिए हाहाकार मच जाता है। इसी प्रकार जिन्होने धर्म को अगीकार नही किया, उनकी बात अलग है, मगर जो धर्म को अगीकार करके बाद मे इन्द्रियो के गुलाम बनकर पतित हो जाते हैं, वे चिन्ता के विषय हैं।

सयम धारण करने वाला व्यक्ति विचार करता है कि मैं प्रभुमय जीवन व्यतीत करूगा। परन्तु शास्त्रो और ग्रन्थो का अध्ययन करके जब कुशल बन जाय और चित्त मे और ही प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाय तब उसे क्या कहना चाहिए?

मान लीजिए, किसी किसान ने एक बध बाधा। उस समय उसकी भावना थी कि मैं इस पानी से खेत को सीच कर अच्छी फसल उत्पन्न करूगा। वह चाहे तो वास्तव मे ऐसा कर भी सकता है। मगर वह मूर्ख किसान उस पानी से आक एव धतूरे के समान वृक्षो को सींचता है और आम जैसे वृक्षो को नही सीचता। क्या आप उसके कार्य की सराहना करेगे? जल का स्वभाव है कि उससे जिस–किसी वृक्ष या पौधे को सींचा जाएगा, उसे पोषण मिलेगा। परन्तु जिस जल के द्वारा सुन्दर खेती पैदा की जा सकती है, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग करना क्या उचित है?

इसी प्रकार अपना और जगत् का कल्याण करना सयम लेने का उद्देश्य था। सयम ग्रहण करने के पश्चात ही इस उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। ज्ञान का उपयोग भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होना चाहिए। किन्तु कई लोग उस मूर्ख किसान की भाति अपने ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। इसी हेतु से अनाथी मुनि हमे और आपको सावधान कर रहे हैं। गृहस्थ सासारिक वस्तुओ के लोभी होते हैं और चमत्कार देखना चाहते हैं, परन्तु कितने ही साधु भी अपने ध्येय को भूल कर दूसरी और मुड जाते हैं। ऐसे ही लोगो के सम्बन्ध मे अनाथी मुनि कहते हैं कि अपने ध्येय को भूल कर दूसरी ओर चले जाने वाले साधु किस प्रकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं।

किसी का हाथ देखकर कहना–तू बहुत भाग्यशाली है। देख, मैं तेरे पूर्वभव और आगामी भव का वृत्तान्त बतलाता हू। इस प्रकार कह कर किसी का भूत–भावी वत्तान्त कह सुनाना, किसी के कान–नाक आदि देखकर फल कहना, किसी को पद्मिनि, हस्तिनी, चित्रणी आदि स्त्रियो के भेद बतलाना और किसी को निमित बतलाना, यो करेगा तो ऐसा फल मिलेगा आदि कहना तथा लक्षण–ज्योतिष आदि बतलाना, ये सब उन्मार्ग गमन के लक्षण हैं और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना है। गृहस्थ तो यही चाहते हैं। इसी कारण वे इस प्रकार के उलटे कार्य करने वाले साधुओ को प्रोत्साहन देते हैं। किन्तु साधुओ को तो अपने पद की मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। उन्हे जहरीले वृक्षो का पोषण करने मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग नही करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि अगर किसी साधु को निमित्त या लक्षण का ज्ञान हो तो उसका उपयोग क्या है? वह अपने ज्ञान से किसी को लाभ न पहुचा सके तो उनका वह ज्ञान किस काम का? इसके अतिरिक्त निमित या लक्षण बतलाने मे हानि भी क्या है? बल्कि धर्मोपदेश से दूसरो को जैन बनाना कठिन है, पर इस प्रकार का चमत्कार बतलाकर बहुतो को जैन बनाया जा सकता है। इस प्रकार जैन धर्म के उद्योत के लिए यदि साधु निमित लक्षण–ज्ञान का प्रयोग करे तो क्या हानि है? फिर जिस प्रकार पानी का उपयोग खेतो मे किया जाता हे, उसी प्रकार लक्षण–शास्त्र का उपयोग लक्षण बतलाने मे करना क्या बुरा है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लक्षण ज्ञान आदि का ऐसा उपयोग करने से साधुओ को बहुत हानि होती हे। जो सच्चा लक्षणज्ञानी होगा, वह सर्वप्रथम अपने लक्षण देखेगा ओर सोचेगा कि मुझ मे जिन कामो को करने का लक्षण नही हे, मैं उनमे न पडू ओर जिन कामो के लक्षण हैं उनके लिए यदि भगवान् की आज्ञा हो तो करू, अन्यथा नही। इस प्रकार सर्वप्रथम अपने ही लक्षण देखने चाहिये। अथवा कोई वैरागी हो तो उसके लक्षण देख लेने चाहिए कि यह धर्म को प्राप्त करके पाल सकेगा या नही? लक्षण देखने से प्रतीत हो कि यह पाल सकेगा तो ही उसे दीक्षित करना चाहिये।

लक्षणशास्त्र का ज्ञाता आयु के विषय मे भी बहुत–कुछ जान सकता है। अगर अवसर आ गया हो ओर कोई उसे सथारा कराने के लिए कहे तो आयु स्वल्प शेष रही जानकर सथारा कराया जा सकता हे। अथवा यह कह सकता ह कि इसकी आयु अभी शेष हे, अतएव यह दृढ नही रह सकेगा। अभी इसे सथारा न कराना ही ठीक हे।

इस प्रकार विवेक रखने मे भी लक्षणशास्त्र का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा न करके यह बतलाना कि –'तुझे स्त्री या पुत्र की प्राप्ति होगी'। यह जिस ससार को खराब समझकर त्यागा है और सयम धारण किया है, उसी मे फिर से फस जाना है।

कोई साधु लक्षण–निमित्त द्वारा चमत्कार बतलावे और कहे कि इस चमत्कार द्वारा जिस धन को प्राप्ति होगी, इसे मै सघ–हित मे ही काम मे लूगा, तो उसके विषय मे आप क्या कहेगे? यही कहोगे कि ऐसा है तो सट्टा, नीलाम और जुआ आदि खेलने मे क्या हर्ज है? तब तो बस यही कहना चाहिए कि आज चौका का दाव लगेगा, रुपया लगा दो और जो रुपया आवे उसे सघ के हित के लिए खर्च कर देना। क्या ऐसा करना योग्य होगा?

स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध मे भी यही बहाना किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि हम इनके लक्षण बतलाते है। इनका जोडा मिल जायगा तो श्रावक–श्राविका बन कर धर्म का उद्योग करेगे। इस प्रकार तो सभी मे लाभ बतलाया जा सकता है।

ऐसे–ऐसे प्रलोभनो से ही यति–समाज का अधःपतन हुआ है। अन्यथा वह समाज भी पचमहाव्रतधारी था। पहले सघहित का नाम लिया गया। वह कुछ अच्छा लगा। पर अन्त मे ऐसा दुष्परिणाम आया कि जो किसी समय महाव्रतधारी थे, वही आज ससारी बन गये। पहले वस्त्र को रक्त से लथपथ कर देना और फिर धोना ठीक नही। सघ–हित के नाम पर भी कोई अनुचित काम करना योग्य नही है। पहले तो सघ का नाम लेकर धन सचित किया जायेगा, परन्तु अन्त मे इस पद्धति का बडा ही भीषण परिणाम आयगा। यह बात हमे बराबर ध्यान मे रखनी चाहिए।

अगर यह कार्य हितकर होता तो शास्त्र मे इसका निषेध न किया गया होता। गौतम स्वामी महान् लब्धिधारी थे। वे अपनी लब्धियो का प्रयोग करते तो एक ही दिन मे सारे ससार को जैनधर्मानुयायी बना सकते थे। उनमे एक लब्धि ऐसी थी कि थोडी–सी खीर मे अपना अगूठा रख ले तो चक्रवर्ती की सारी सेना भरपेट खीर खा ले, फिर भी वह उतनी की उतनी ही रहे। इस प्रकार की शक्ति होने पर भी उन्होने कभी उसका उपयोग नही किया, किन्तु अपनी गोचरी के लिए भी वे स्वय ही जाते थे। क्या उन्हे सघहित का विचार नही आता था? इससे स्पष्ट है कि सघहित के नाम पर सघ की मर्यादाओ को भग करना और लक्षणज्ञान आदि का उपयोग करना अनुचित हे।

अभिप्राय यह है कि लक्षण बतलाना, कौतुक बतलाना अथवा धन एव पुत्र की प्राप्ति के उपाय बतलाना साधुता से पतित होने के समान है। शास्त्रकार ऐसी विद्या को कुत्सित विद्या कहते हैं। इन कुत्सित विद्याओ द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालो को शास्त्रकार ने आस्रवहार द्वारा आजीविका–निर्वाह करने वाला कहा है। ऐसी विद्याए अन्त समय मे शरणदायी नही बनती, वरन् सयममार्ग का नाश करने वाली साबित होती हैं। अतएव समझना चाहिए कि ऐसी विद्याओ द्वारा आजीविका चलाना अनाथ बनना है।

कुत्सित विद्याओ से बचने के लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि नाथ कौन है? और लक्षण, स्वप्न, निमित्त कुतूहल आदि का ज्ञाता और उसका उपयोग करने काला सनाथ है या अनाथ? ये विद्याए सनाथ बनाती हैं या अनाथ?

आत्मा को सनाथ बनाने का अर्थ है– इस प्रकार स्वतन्त्र बनाना कि उसमे किसी भी प्रकार की परवशता– गुलामी– न रह जाय। ऐसी विद्याओ से नाथ बनना लक्ष्य होता तो देवता तो इनमे परिपूर्ण होते हैं। वे वैक्रिय लब्धि से जो चाहे कर सकते है। फिर भी वे उनकी बदौलत सनाथ नही, अनाथ बनते हैं।

नाथ किस प्रकार बनना होता है, यह बात अनाथ मुनि पहले ही बतला चुके है। उन्होने कहा है कि मत्र और विद्या के ज्ञाता लोगो ने मुझे स्वस्थ करने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे, परन्तु मेरा रोग दूर नही हुआ। ये विद्याए सनाथ बनाने वाली होती तो इनके प्रयोग से मेरा रोग क्यो न चला गया होता?

कहा जा सकता है– अनाथ मुनि का रोग न मिटा तो क्या हो गया? मत्र आदि के प्रयोग से रोग मिटता तो है ही। परन्तु कदाचित् मत्रविद्या आदि से रोग चला भी जाय तो उसके बाद यही विचार आता है कि जो भी शक्ति हे इन्हीं मे हे, अतएव यही मेरे लिए वन्दनीय और पूजनीय हे। यह तो एक साधारण नियम हे कि जिस भावना से रोग दूर होता हे, उसके प्रति गुलामी आ जाती हे। इसी कारण अनाथ मुनि कहते हे कि बडा अच्छा हुआ कि मत्रविद्या से मेरा रोग न मिटा ओर सयम की भावना से मिटा। ओर यह भी बहुत अच्छा हुआ कि सयम की भावना करने से में सनाथ–अनाथ का भेद भी समझ गया।

अब आप यह विचार कीजिए कि आप सनाथ बनने के लिए साधु की सगति करते हैं या अनाथ बनने के लिए? साधु की सगति सनाथ

बनने के लिए ही की जाती है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कूतूहल आदि का प्रयोग करने वाले को निर्ग्रंथ समझकर यदि उसका शरण ग्रहण करोगे तो अनाथ ही रहोगे। लोग लक्षण आदि द्वारा रोग मिटाना चाहते हैं, परन्तु उन्हे विचार करना चाहिये कि रोगो की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? रोग अनाथता से ही उत्पन्न होते हैं। मत्रविद्या आदि से अनेक बार रोग मिटाये गये, पर अनाथता नही मिटी और रोग भी नही मिटे। अतएव अनाथता मे से निकलकर सनाथ बनने की भावना करो। अनाथ से सनाथ बनोगे तो रोग भी सदा के लिए चले जाएगे। कदाचित् अनाथ मुनि की भाति एकदम सनाथ न बन सको तो भी भावना तो अनाथ बनने की ही रखो। सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी समय सनाथ भी बन सकोगे।

अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

मत्र–तत्र आदि की सहायता लेने का त्याग करने मे असमर्थ हो तो भी भावना तो उनके त्याग की ही रखो। कदाचित् तुम कहोगे कि इस भव मे तो हम से मत्र–तत्र आदि की सहायता का त्याग नही हो सकता, किन्तु जो साधु बना है, वह नही कह सकता कि इस भव मे तो साधुपन पालूगा नही, अगले भव मे देखा जायेगा। अगर साधु होकर भी कोई ऐसा कहता है और लक्षण, स्वप्न, निमित्त आदि बताने के फदे मे पडता है, उसे विचार करना चाहिए कि उसका मन शास्त्र को प्रमाणभूत मानता है या लक्षण आदि को?

कहा जा सकता है कि साधुओ मे भी धर्म कहा है? धर्म होता तो उन्हे रोग ही क्यो होते? परन्तु सच्चा महात्मा तो शरीर मे रोग रहने ही देना चाहता है। वह रोग को दूर नही करना चाहता।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर मे जब रोग उत्पन्न हए थे, तब उन्होने रोगो को मिटाने का उपाय न करके सयम धारण किया था। वे चाहते तो छह खण्ड के स्वामी होने के कारण उपाय कर सकते थे। पर उन्होने रोग मिटाने का प्रयत्न नही किया। उन्होने उलटा यह कहा कि रोग तो मेरे मित्र है जो मुझे जाग्रत करने के लिए आये है। सयम धारण करने के पश्चात् देवो ने उनके पास आकर कहा– आपके शरीर मे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये हैं। आप हमारी औषध ले तो सब रोग दूर हो जाएगे। इस कथन के उत्तर मे सनत्कुमार ऋषि ने कहा– मुझे दो प्रकार के रोग है– एक तो आत्मा का है और दूसरा शारीरिक रोग हुआ है। आत्मा को कर्मो का रोग लगा है। तुम इनमे से किस रोग को मिटा सकते हो? कर्म के रोग को मिटा कर आत्मा को निरोग बनाना चाहते हो या शरीर के ही रोग को मिटाना चाहते हो?

देव– कर्म का रोग मिटाना मेरे सामर्थ्य से बाहर है। मैं तो शरीर के रोग को मिटाना चाहता हू।

ऋषि– इसमे क्या रखा है! शरीर के रोग को मैंने ही टिका रखा है और इसी कारण वह बना है। ऐसा न होता तो वह टिक ही नहीं सकता था।

ऐसा कह कर उन्होने अपनी एक अगुली शरीर के उस भाग को लगाई, जहा रोग था। अगुली का स्पर्श होते ही वह भाग कचनवर्ण हो गया। तब ऋषि बोले– शरीर का रोग तो इस तरह दूर किया जा सकता है, परन्तु यह रोग तो मेरा मित्र है, क्योकि इसने ही मुझे जाग्रत किया है। अतएव मैं अपने इस रोग–मित्र को दूर नहीं करना चाहता। मैं इसी मित्र की सहायता से कर्मरूप आन्तरिक रोग को नष्ट करना चाहता हू।

इस प्रकार सच्चे महात्मा रोग को मित्र मानते हैं। इस कथन का अर्थ यह समझिए कि स्थविरकल्पी साधु दवा का उपयोग ही नहीं करते। वे दवा तो लेते हैं, मगर दवा से अपने–आप को सनाथ हुआ नही मानते।

ससार के लोगो! तुम चमत्कार देखना चाहते हो तो मत्र–तत्र का चमत्कार क्या देखते हो, भावना का चमत्कार देखो। मत्र–तत्र की अपेक्षा भावना मे अनन्त गुणा चमत्कार है, परन्तु तुम उस पर विश्वास नही करते। तुम स्वदेश और स्वविचार को भूल कर दूसरो पर ही विश्वास करते हो। वे अपनी भावना की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वे सोचते हैं– डाक्टर के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता।

एक शिक्षक ने मुझे जो वृत्तात सुनाया, उससे बडा ही आश्चर्य हुआ। उसने बतलाया– मेरे शरीर मे माथे के बराबर फोडा हुआ था। मेरा शरीर शक्कर की बीमारी से ग्रस्त था। सारा शरीर सूज गया था। मर जाने का भय लगा तो ऑपरेशन कराने का निश्चय किया। परन्तु मेरी पत्नी को न जाने क्यो धुन सवार हुई कि ऑपरेशन न कराया जाय। उसने हठ पकड लिया। लोग कहने लगे कि ऑपरेशन कराये बिना यह बचेगा कैसे? इसी बीच आबू के एक साधु अनायास ही मेरे घर आ पहुचे। उन्होने मेरा रोग देखकर चावल से भी छोटी एक टिकडी नागरबेल के पत्ते मे देकर कहा– ऑपरेशन न कराना और टिकडी प्रतिदिन एक–एक खाना। हा, घी–गुड के लड्डू जितने खाये जा सकें, खाना और सातवे दिन पेशाब की परीक्षा करना।

इतना कह कर साधु चले गये। मैंने उनके कथनानुसार दवा लेना आरम्भ किया। शक्कर बीमारी मे गुड जहर का काम करता है। डाक्टरो ने गुड खाने की मनाही भी की पर मॅंने उनकी बात नही मानी। साधु के वचन

पर विश्वास करके घी–गुड खाना चालू रक्खा। सातवे दिन तीन डाक्टरो ने मेरे पेशाब की परीक्षा की। उसमे शक्कर का लेश मात्र भी उन्हे मालूम न पडा।

कह सकते हो कि ऐसी दवा देने वाले मिलते कहा हैं? किन्तु विश्वास और भावना रखो तो न जाने कब, कौन, कहा से आकर मिल जायेगा। श्रद्धा की शक्ति बहुत प्रचण्ड है। अपनी भावना से काम करोगे तो अपनी भावना पर विश्वास होगा और दूसरे के सहारे काम करोगे तो दूसरे के गुलाम बनोगे। ऐसी स्थिति मे तुम डाक्टर पर विश्वास रखते हो, अपनी ही भावना पर क्यो विश्वास नहीं करते? सनत्कुमार ऋषि ने बहुत दिनों तक शरीर में रोग रहने दिये, मगर वे अपनी भावना पर ही दृढ रहे तो कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो गये।

अतएव मत्र, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओ का भरोसा मत करो। अन्त मे ये विद्याए शरण–दात्री नही होती। इनका प्रयोग करने वाले लोग थोडी देर के लिए सासारिक मान प्रतिष्ठा चाहे प्राप्त कर ले, लेकिन मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ससार मे इस उपाय से जमाया हुआ क्षणिक प्रभाव मोक्ष–मार्ग का बाधक है। ऐसे लोग, अनाथ के अनाथ ही हैं।

जैन शास्त्र मे तो साधुओ के लिए स्वप्न, लक्षण आदि का फल बताना मना ही है, लेकिन अन्य ग्रथकार भी निषेध ही करते हैं। सन्यासाश्रम की विधि बताते हुए मनुस्मृति मे कहा है–

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांविद्यया।
नानुशासनवादभ्यां भिक्षां लिप्सेन कर्हिचित्।।

अध्याय 6ठा

अर्थात्–(सन्यासी) भूकम्प आदि उत्पात, निमित्त, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) और अगविद्या (सामुद्रिक) बतलाकर तथा धर्म एव नीति का उपदेश देकर बदले मे कदापि भिक्षा प्राप्त न करे।

सयम लेकर, फिर अहिसादि पचमहाव्रत की विराधना करने, पाच समिति का पालन करने और स्वप्न–लक्षण आदि का फल बताने से क्या हानि होती है, यह बताने के लिए सनाथी मुनि कहते है–

तत तमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परिया मुवेति।
सधावई नारग तिरक्ख जोणी, मोर्णं विराहेत्तु असाहुरूवे।।46।।

अर्थ– सयम की विराधना करने वाला साधुलिगधारी दु खी होता हुआ विपर्यास को प्राप्त होता है यानी उलटा समझता तथा करता है। इस

कारण वह असाधु सयम स्वीकार करने पर भी नरक, तिर्यंच गति के
करता है और नरक, तिर्यंच गति मे भ्रमण करता रहता है।

राजा! जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसे भूल जाना और
विपरीत कार्य करना, दु ख का कारण है। सयम के विराधक लोग, सर
चाहे सुखी भी देखे जाते हो, लेकिन ससार मे दिखने वाले सुख के पीछे
दु ख छिपा हुआ है। सासारिक सुख ही तो जन्म–मरण का कारण है। स
मे सासारिक सुख, यश, वैभव, कीर्ति आदि की चाह करना, उनकी प्रा
उपाय करना, साधुपने के लक्षण नहीं हैं। साधुपने मे तो इन सब का ब
करना होता है। साधुपना लेकर उत्तम ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आ
करनी चाहिए। जो लोग साधु होकर भी सासारिक सुखो की अभिलाषा
हैं वे अपनी गाठ मे बधे हुए चितामणि रत्न को देकर बदले मे पत्थर
हैं। जो मनुष्य सयमरूपी चितामणि रत्न खोकर बदले मे सासारिक सुख,
कीर्ति आदि पत्थर लेता है वह सुखी कैसे हो सकता है? वह तो सदा ही
रहता है और मरने पर नरक या तिर्यंच गति मे जाता है।

यहा प्रश्न होता है कि साधुपना लेकर असयम मे पडने
आखिर साधुपने का– अपने वेष का– कुछ भी तो ध्यान रखता होगा
जो भी सासारिक सुख भोगता होगा, वे गृहस्थ की अपेक्षा थोडे और गृ
के दिये हुए या उनके झूठे हैं। ऐसा होते हुए भी, उस द्रव्यलिगी साधु
नरक, तिर्यंच की गति प्राप्त होती है, तो फिर गृहस्थो का तो कभी कल्या
नहीं हो सकता। गृहस्थो को तो इससे भी भारी दण्ड भोगना पडता है तो
द्रव्यलिगी साधु को थोडे–से सासारिक सुख भोगने के कारण ऐसा कठिन
क्यों प्राप्त होता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि गृहस्थ जो सासारिक भोग भो
हे, वह अपनी ही हुई किसी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर नही, किन्तु प्रतिज्ञ
स्थिर रहकर। वह सासारिक भोगो के लिए छल–कपट नही करता। यह
करता कि सासारिक भोग भी भोगे और साधु–वेष पहनकर अपने–आप
पच–महाव्रतधारी भी प्रसिद्ध करे। वह जो– कुछ भी करता हे, चुरा–छिपा
नहीं करता है। लेकिन द्रव्यलिगी साधु अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर सासा
विषय–भोग भोगता हे। वह गृहस्थो की तरह गृहस्थ वेश मे सासारिक
नहीं भोगता, किन्तु उस वेश मे भोगता है, जो सासारिक भोग त्यागने
का हे। गृहस्थो के पास सासारिक भोगो के साधन भी रहते हें इसलिए
छल–कपट नहीं करना पडता लेकिन सयम मे प्रव्रजित होने वाला,

साधनो को सयम मे प्रव्रजित होने के समय ही त्याग चुकता है। इसलिए उसे सासारिक भोग के साधन जुटाने मे छल–कपट से काम लेना होता है। उदाहरण के लिए, गृहस्थ के पास स्त्री है, लेकिन द्रव्यलिगी, स्त्री आदि त्याग कर ही सयम मे प्रव्रजित हुआ था, इसलिए उसके पास स्त्री नही है। अब यदि वह स्त्री–भोग भोगेगा, तो परस्त्री के साथ ही और परस्त्री प्राप्त करने मे उसे न मालूम कैसे छल का आश्रय लेना होगा। यही बात धन–वैभव आदि के लिए भी है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिगी एक तो त्यागियो के वेश मे सासारिक सुख भोगता है, दूसरे प्रतिज्ञा के विपरीत कार्य करता है। तीसरे सासारिक भोग प्राप्त करने मे छल–कपट से काम लेता है। और चौथे, गृहस्थो की अपेक्षा उसकी लालसा बढी हुई होती है। इन्ही कारणो से वह ऐसे कठिन दण्ड का पात्र है। शास्त्र मे कहा है–

माई मिच्छादिट्ठी अमाई समदिट्ठी।

अर्थात्– माया, छल–कपट करने वाला मिथ्यादृष्टि है और माया नही करने वाला समदृष्टि है।

साधु वेश मे रहकर जो सासारिक भोग भोगता है, वह छल–कपट करने वाले मिथ्यादृष्टि के समान है। इसीलिए उसे सनाथी मुनि के कथनानुसार कठिन दण्ड प्राप्त होता है। गृहस्थो मे भी जो छल–कपट करने वाला है, जो प्रतिज्ञाभ्रष्ट है, एव व्रत–नियम का पालन नही करता है, वह भी ऐसे ही कठिन दण्ड का पात्र है।

बहुत–से लोग ऐसे भी होते हैं जो व्रत–नियम के विरुद्ध कार्य करके, उस विरुद्ध कार्य को व्रत–नियम के अन्तर्गत ही बतलाते हैं, या अपवादमार्ग के कार्य की प्ररूपणा उत्सर्ग मार्ग मे करते हैं। ऐसे उत्सूत्र–प्ररूपक भी उसी दण्ड के पात्र हैं, जो सनाथी मुनि ने ऊपर बताया है।

अनाथ मुनि कहते हैं– आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनेवन और कामधेनु के समान है। इस कथन पर गहरा विचार करके ऐसी भावना करनी चाहिए– आत्मन्! तुझे वैतरणी नदी मिले तो कैसा कष्ट हो? तुझे कूटशाल्मली वृक्ष के नीचे बैठा दिया जाय और ऊपर से तलवार की धार के समान तीखी धारवाले पत्ते गिराये जाए तो मेरी क्या दशा हो?'

अगर आत्मा को इस प्रकार की वेदनाओ का ध्यान बना रहे तो क्या उसमे कोई विकार रह सकता है? एक उदाहरण लीजिए –

आध्यात्मिक विचार वाला एक राजा ध्यान मे मग्न होकर बैठा था। उसी समय एक बहुरूपिया उसके सामने आया और उसे हसाने का प्रयत्न करने लगा। मगर राजा हसा नही, वह पहले की ही भाति गभीर बैठा रहा।

जब राजा का ध्यान पूर्ण हुआ तो बहुरूपिये ने राजा से कहा— बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं आपको हसा नही सका, इसका क्या कारण है?

राजा ने विचार किया— मैं क्यो नही हसा, यह बात इसे अनुभव करा कर समझानी चाहिए। अनुभव किये बिना यह ठीक तरह नहीं समझ सकेगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने एक कुए पर टूटी–सी कुर्सी रखवाई। कुर्सी इतनी जीर्ण थी कि देखते ही ऐसी जान पडती थी कि अभी–अभी टूट जायगी। उस कुर्सी के ऊपर पतले धागे से एक नगी तलवार लटकाई गई। इसके बाद बहुरूपिये को उस कुर्सी पर बैठने का आदेश दिया गया और हसाने वालो से कहा गया— इस बहुरूपिये को हसाने का भरसक प्रयत्न करो। उन लोगो ने बहुरूपिये को हसाने के सभी सम्भव प्रयत्न किये, परन्तु वह हसा नही। तब राजा ने उसे अपने पास बुला कर पूछा— इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी तुम हसे क्यो नही? बहुरूपिया बोला मैं हसता कैसे? मेरे सिर पर तलवार लटक रही थी और भय था कि वह गिरने ही वाली है। दूसरी और यह डर था कि अभी कुए मे गिरा। ऐसी विषम परिस्थिति मे हसी आती तो कैसे आती?

तब राजा ने कहा— तो इसी प्रकार ध्यान मे मैं विचार कर रहा था कि यह आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। ऐसी स्थिति मे मुझे भी कैसे हसी आती?

इस प्रकार विचार करने से किसी–किसी का मोह उड जाता है और ससार से भय उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर ससार के पदार्थ ललचा नही सकते। हसी आने की तो बात ही दूर।

अभिप्राय यह है कि अनाथी मुनि के कथन पर गहरा विचार किया जाय तो ससार के पदार्थ बन्धनकर्ता नही हो सकते और आत्मा मोह मे नही पड सकता। अगर सासारिक पदार्थ के प्रति मोह किया जाय तो आत्मा वैतरणी नदी या कूटशाल्मली वृक्ष रूपी कुए मे और तलवार गिर पडने की स्थिति मे पड जाता है। यद्यपि यह विचार प्रत्येक विवेकशील को करना चाहिए, किन्तु जो साधु होकर भी विशेष विचार नही करता, उसके विषय मे तो यही समझना चाहिए कि वह अन्धकार मे से निकलकर अन्धकार मे जा रहा है। उपनिषद् मे कहा है—

अन्ध तम प्रणिशन्ति येऽविद्यामुपासते।

अर्थात् 'अविद्या की उपासना करने वाले अधेतम मे प्रवेश करते हैं।

वस्तुत अविद्या ही अधकार है। साधारणतया अविद्या का वर्णन बहुत विस्तृत है। सक्षेप मे जैन शास्त्र जिसे 'मोहजनित दशा' कहते है, वह अविद्या है। नित्य मे अनित्य, अनित्य मे नित्य, आत्मा मे अनात्मा, अनात्मा मे आत्मा समझना– अभ्यास करना ही अविद्या है। शास्त्र मे कहा है –

जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना।

अर्थात् जीव को अजीव मान बैठना और अजीव को जीव समझ लेना ही मिथ्यात्व है। यही मिथ्यात्व अविद्या मोह कहलाता है।

अविनाशी को नाशवान् और नाशवान् को अविनाशी मानना अविद्या है। इस प्रकार की अविद्या वाला अधकार मे ही है। यद्यपि यह अविद्या है, परन्तु जो प्रकृति की ही बात करता है, वह और भी अधिक अधकार मे है। अर्थात् जो चेतन को ही मानता है, जड को नही मानता, विद्या को ही मानता है, अविद्या को नही मानता, वह अन्धकार मे है। जो विद्या और अविद्या को यथास्थान मानकर अविद्या का त्याग करता है, वही वास्तव मे आत्मतत्त्व को जान सकता है।

अतएव मनुष्य को जड–चेतन का विवेक करके ऐसा मानना चाहिए कि हे आत्मन्! इस ससार मे दुख देने वाला दूसरा कोई नही है। तू ही अपने– आप को दुख देने वाला है।

जो इस प्रकार विचार करेगा, उसका चित्त क्या ससार मे अनुरक्त होगा? नही। जो इस प्रकार की सवेदना का ध्यान रखता है, उसका चित्त ससार मे जायगा ही नही। उसका मन तो अमृत मे ही अवगाहन करेगा। जो महात्मा इस तथ्य को भली–भाति समझते हैं, वे ससार की वस्तुओ मे लुब्ध नहीं होते। वे उनसे विरक्त रहते हैं। वे किसी की निदा मे भी नही पडते, वरन् राग–द्वेष का त्याग करके आत्मा का कल्याण–साधन करते हैं।

जब किसी मनुष्य को चाबुक मारे जाते हैं तो एक चाबुक मारने के बाद दूसरा चाबुक मारने जाते थोडे समय का व्यवधान पड ही जाता है। पर किसी को बिजली ही पकडा दी जाय तो क्या उसमे थोडे समय का भी व्यवधान पडेगा? नहीं। बिजली तो अन्तिम श्वास तक निरन्तर ही दुख देती रहेगी। इसी प्रकार अज्ञान भी सदैव दुख देने वाला है।

हमेशा का दुख कैसा होता है? इसकी व्याख्या करते हुए ज्ञानी जन कहते हैं– ससार के लोग जिसे सुख मानते हैं उसे हम दुख ही मानते हैं बीमार आदमी कुपथ्य पदार्थ खाने मे आनन्द मानता है, पर ज्ञानी तो उससे यही कहेगा कि तू यह क्या कर रहा है? अरे यह तो और भी आधिक

हानिकारक है? इस प्रकार बीमार जिसमे सुख मानता है, डाक्टर उसी को दु ख रूप बतलाता है। आप इन दोनो मे से किस का कहा मानेगे? यही कहोगे कि डाक्टर का कहना ठीक है। इसी प्रकार सासारिक जन अज्ञान के कारण जिसमे सुख मानते हैं, ज्ञानीजन उसको ही दु खरूप मानते हैं।

दुख ने सुख करि मानियो, भमियो काल अनन्त?
लख चौरासी योनि में, भाख्यौ श्री भगवन्त।

—मुक्ति को मारग दोयलो

अज्ञानग्रस्त आत्मा सुख को दु ख और दु ख को सुख मान रहा है। इसी कारण उसे भगवान् का मार्ग कठिनाइयो से परिपूर्ण प्रतीत होता है। आत्मा मे वही अपूर्णता है। भ्रम—विपर्यास दूर हो जाय तो भगवान का मार्ग सरल बन सकता है।

एक मित्र ने दूसरे मित्र से कहा— ससार उलटे रास्ते चल रहा है। वह दु ख को सुख मान रहा है।

दूसरा मित्र बोला— तुम भूल रहे हो। कोई दु ख को सुख मान नही सकता।

पहला मित्र— मैं ठीक कहता हू। नैतिक और आध्यात्मिक— दोनो प्रकार के जीवन मे यही हो रहा है।

दूसरा मित्र— पर यह सभव कैसे हो रहा है?

पहला— क्या आप ऐसे लोगो को नही देखते जो कहते हैं कि कल कुछ भी हो, आज तो मौज उडाएगे ही। गाजा, भग और शराब पीकर आनन्द करेगे? जो लोग गाजा, भग या शराब का सेवन करते हैं क्या वे उनमे दु ख मान कर सेवन करते हैं? वे उनके सेवन मे सुख समझते हैं, पर वास्तव मे वह सुख हे या दु खे? वेश्यागमन, चोरी आदि सुख मानकर किये जाते हैं या दु ख मानकर? दु ख मानने वाला इनका आचरण केसे करेगा? यद्यपि लोग इन कार्यों मे सुख समझते हें, परन्तु वास्तव मे तो उनमे दु ख ही है।

इस प्रकार ससार मे जितने दुष्कर्म हें, सब सुख मानकर ही किये जाते हें। सारा ससार दु ख को सुख समझने की भ्राति मे पडा हे। लोग अपने लडको को सुधारने के लिए कालेज मे भेजते हें, परन्तु वहा भेजने पर किस प्रकार कुल—परम्परा ओर धर्म का विनाश होता हे, यह कोन समझता हे? फिर भी लोग अपने लडको को इसी उद्देश्य से भेजते हैं कि लडका पढ—लिख कर सुखी हो जायगा। परन्तु सुना जाता है कि कालेज—जीवन मे भी वडी अनैतिकता फैली हुई हे। जब तक नेतिक जीवन मे परिवर्तन न हो, तब तक

आध्यात्मिक जीवन ऊचा नही उठ सकता। जिस गृहस्थ का जीवन नैतिक दृष्टि से ऊचा होगा वह साधु बन कर भी उच्च और प्रशस्त चारित्र का पालन करेगा।

मुनि कहते है– साधु बनते समय बनने वाले की भावना प्राय यह नही होती कि हम पेट भरने के लिए साधु बनते है। उस समय तो वह यही सोचता है– पेट तो कौवा और कुत्ता भी भर लेता है। हम केवल पेट भरने के लिए साधु नही बने हैं, वरन् स्व–पर कार्यो को सिद्ध करने के लिए साधु बने है।

इस प्रकार सयम ग्रहण करते समय ऐसी उच्च भावना होती है, परन्तु बाद मे कई लोग उस उच्च भावना को भूल जाते हैं और सयम से पतित हो जाते है।

उद्देसिय कीयगडं निपागं न मुच्चइ किंचि अणेसणिज्जं।।
अग्गो विवासव्वभक्खी भवित्ता, इत्तो चुए गच्छई कट्टु पावं।।47।।

अर्थ– सयम ग्रहण करके भी जो अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है, और औद्देशिक– अपने निमित बने, क्रीतकृत– साधु के लिए खरीद कर बनाये हुए तथा नियागपिण्ड को ग्रहण करता है, इस प्रकार न लेने योग्य आहार–पानी को भी नही छोडता है, वह इस भव से च्युत होकर, पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है।

व्याख्यान– सयम धारण कर लेने के पश्चात् आने वाली अनाथता के कारण बतलाते हुए अनाथ मुनि कहते है कि पाच महाव्रतो का पालन न करने, पाच समितियो का पालन न करने, स्वप्न, लक्षण आदि का फल बतलाने, कुतूहल– इन्द्रजाल आदि तमाशा दिखलाने के सिवाय अनाथता का एक कारण भोजन सम्बन्धी मर्यादा का उल्लघन करना भी है। वे कहते है–राजन्! साधुत्व की मर्यादा की अवहेलना करने वाले बहुत–से साधु–वेषधारी लोग अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। जैसे अग्नि अपने मे पडी हुई सब वस्तुओ को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार वे द्रव्यलिगी साधु भी जो–कुछ और जैसा, कुछ मिलता है, उसे गटक जाते हैं। वे भक्ष्य–अभक्ष्य या सदोष–निर्दोष आहार का विचार नही करते! यद्यपि साधु का कर्तव्य है कि वह एषणा समिति का सम्यमक् प्रकार से पालन करे, परन्तु वह अपने इस कर्तव्य का तनिक भी ध्यान नही रखता। वह दूषित आहार भी ले लेता है।

राजा! कुशीललिगी, स्वाद या शरीर को पुष्ट करने के लिए अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर, एषणासमिति को भुला देता है। जिस तरह अग्नि

अपने मे पडे हुए दुर्गंधयुक्त, गीले और अपवित्र आदि सभी पदार्थों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार वह भीख उद्देश्य, क्रीत, नित्यपिण्ड और अप्रासुक आदि आहार लेकर खा लेता है, लेकिन मरण निश्चित है। ससार का कोई भी जीव मरने से नही बच सकता, तो क्या ऐसा करने वाला कुशीललिगी न मरेगा? अवश्य मरेगा और उस ऐसा करने वाले कुशीललिगी का आत्मा, हृष्टपुष्ट शरीर एव रसलोलुप जिह्वा को छोडकर महान् दुर्गति मे जायेगा। उसने रसलोलुप बन–कर सयम का नाश किया है, इसलिए कटु पापकर्म के फल को प्राप्त करेगा।

राजा! वह असाधु जब गृहस्थ था, तब इच्छानुसार भोजन बना कर या बनवा कर खा लेता था। लेकिन उसने यह इच्छा की कि अब मैं इच्छित भोजन नही करूगा, किन्तु ऐसा भोजन करूगा, जो मुझे शुद्ध–भिक्षा मे मिल जाय। इस समय, मेरे भोजन के लिए अनेक त्रस, स्थावर जीवो को कष्ट होता है। मै अपने खाने के लिए ही त्रस स्थावर जीवो को कष्ट देता हू। लेकिन अब मैं किसी त्रस, स्थावर जीव को अपने भोजन के लिए कष्ट न होने दूगा, किन्तु इस प्रकार भिक्षा करके क्षुधा मिटाऊगा, जिस तरह भ्रमर बिना निश्चय किये ही फूलो का रस लेने के लिए जाता है और एक फूल से नही, किन्तु अनेक फूलो से रस लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। मैं भी भ्रमर–शिक्षा से अपना पेट भरूगा, जिसमे मेरे भोजन के कारण किसी भी त्रस, स्थावर जीव को कष्ट न हो। अब मैं रसलोलुप न रहूगा।

राजा! इस प्रकार की भावना से वह गृह–ससार त्याग कर साधु हो गया। वह जब सयम मे प्रव्रजित नही हुआ था, तब जैसा चाहता था, वैसा भोजन बना कर या बनवाकर खाता था। फिर भी, उसके लिए उपालम्भ की कोई बात न थी। लेकिन उक्त भावना से साधु हुआ और फिर भी उससे स्वादलोलुपता न छूटी, तो यह प्रतिज्ञा के विपरीत एव उपालम्भ का कार्य है। उस असाधु की रसलोलुपता से अनेक त्रस, स्थावर जीवो की हिसा होती है। फिर भी, वह जेसा इच्छित भोजन गृहस्थावस्था मे कर सकता था, वैसा भोजन प्राप्त नहीं कर पाता। इस कारण उसका चित्त स्वादिष्ट भोजन के लिए सदा लालायित रहा करता हे। इन्हीं कारणो से वह दुर्गति मे जाता हे।

राजा! सयम का पालन करने वाले लोग अपने लिए बनाया गया, या अपने लिए खरीदा हुआ आहार नही लेते, क्योकि ऐसा आहार लेने से साधु के लिए अनेक त्रस स्थावर जीवो की हिसा होती हे। इसी प्रकार, साधु, नित्य एक ही घर से भिक्षा नही लिया करते। एक ही घर से भिक्षा लेते रहने

पर उस घर वाले को यह मालूम रहता है कि साधु आयेगे, इसलिए वह साधु के वास्ते विशेष तैयारी करता है, विशेष भोजन बनवाता है जिससे साधु के लिए त्रस जीवो की हिसा होती है। सयमी लोग भिक्षा मे वैसा ही आहार ले सकते है, जो बयालीस दोषो से रहित हो। वे उद्देश्य, क्रीत, नित्यपिड तथा आमन्त्रित होकर या पहले से सूचना देकर आहार नही लेते। लेकिन कुशीललिगी लोग, भोजन सम्बन्धी इन नियमो का पालन नही करते। वे ऐषणिक एव अनैषणिक, दोनो ही प्रकार का आहार लेते और खाते है। परिणाम यह होता है कि ऐसे लोगो को इस लोक मे भी सम्मान–पूर्वक आहार नही मिलता, अनादरपूर्वक आहार मिलता है और परलोक मे भी दुर्गति मिलती है।

जैनभिक्षु के लिए भिक्षा सम्बन्धी जो विधि बताई गई है, बहुत अश मे वैसी ही विधि, अन्य ग्रथो मे भी बताई गई है। जैसे–

विधूमे न्यस्तमुसले व्यगारे भुक्तवज्जने।
अतीते पात्र सपाते नित्य भिक्षा यतिश्चरेत्।
सप्तागारश्चरेद्भैक्ष्य भिक्षित नानुभिक्षयेत्।।

शखस्मृति अ॰ 7वा

अर्थात्– गृहस्थो के यहा जब मूसल चलना – कूटना बन्द हो, गया हो धुआ न निकलता हो, गृह के लोग भोजन कर चुके हो और जल–पात्रादि का रखना–उठाना न हो रहा हो, उस सयय यति भिक्षा के लिए जावे। यति सात घर से भिक्षा ले और जिस घर से पहले भिक्षा ले चुका है, उस घर से भिक्षा न ले।

न तापसैर्ब्रह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभि ।
आकीर्ण भिक्षुकैर्वायैरागारमुपसव्रजेत्।।

मनुस्मृति अ॰ 6ठा

अर्थात् सन्यासी उस घर मे भिक्षा के लिए कदापि न जावे, जिस घर मे भोजन के लिए आये हुए तापस, ब्राह्मण, कुत्ते, कौए या दूसरे भिक्षुक मौजूद हो।

इस प्रकार जैन शास्त्र और इत्तर शास्त्र मे भी त्यागियो के लिए भोजन सम्बन्धी मर्यादाए बतलाई गई हैं। जैन शास्त्र मे कहा है–

पिण्डं सिज्ज च वत्थ च चउत्थ पायमेव य।
अकप्पिय न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिय।।

दशवैकालिक सूत्र 6 ।।48।।

साधुओ को अकल्पनीय आहार, वस्त्र, पात्र आदि लेना तो दूर रहा, लेने की इच्छा भी नही करनी चाहिए। दीक्षा लेते समय अकल्पनीय आहार आदि न लेने की ही भावना होती है, पर बाद मे जब वह रसलोलुप बन जाता है तो छह काय की हिसा से उसके लिए बनाया हुआ आहार लेने मे भी वह सकोच नही करता। वह कहने लगता है कि कल्प–अकल्प की बात मत करो। कल्प–अकल्प को देखने की आवश्यकता नही है, केवल भाव शुद्ध होना चाहिए। इस प्रकार कह कर कल्प की बात को ही उडा देने की चेष्टा करता है। परन्तु ऐसा करना शास्त्र के विरुद्ध है। सूयकृतागसूत्र के अनुसार बौद्धो मे भले यह पद्धति चल सकती हो, परन्तु जैन शास्त्र की दृष्टि से यह पद्धति कदापि मान्य नहीं हो सकती। जैन शास्त्रो मे आहार सबधी कल्प–अकल्प का बहुत विस्तृत वर्णन है। फिर भी जो कल्प–अकल्प का विचार नहीं करता, उसकी दशा उस मछली के समान होती है जो पानी से सन्तोष न मान कर, अन्य वस्तुओ के प्रलोभन मे पडकर मास के साथ काटा खा जाती है और अन्त मे तडफ–तडफ कर मरती है। मछली जब मास मे लुब्ध होती है, तब उसे काटे का भान नही होता। उसे भान हो जाय कि इस मास के पीछे काटा लगा है तो कदाचित् वह मास का भक्षण न करे। परन्तु वह अज्ञानवश काटे मे फसती हे। किन्तु असाधु लोग तो इस प्रकार के आहार आदि मे दोष जानते हुए भी खा जाते है। वे रसगृद्ध होकर अकल्पनीय आहार को भी नही छोडते। ऐसे अज्ञानी लोग मछली की अपेक्षा अधिक अज्ञानी कहे जा सकते हैं।

भगवान् ने दूषित अर्थात् अकल्पनीय वस्त्र, पात्र, आहार आदि लेने का निषेध किया है। प्रश्न होता हे, यह निषेध करके क्या भगवान ने अन्तराय डाला हे? नही, उन्होने साधुओ के कल्याण के लिए ही ऐसा किया है। फिर भी जो लोग कहते हैं कि–इसमे क्या रखा हे? जिसने बनाया है, वही पाप का भागी होगा। ऐसा कहने वाले भूल करते हें। अकल्पनीय वस्तु लेने मे दोष न लगता होता तो भगवान् मनाही क्यो करते? साधुओ ने हिसा करने, कराने ओर अनुमोदन करने का त्याग किया हे। अगर इस प्रकार आहार लेने मे साधुआ को दोष न लगता होता तो वे अपने हाथ से आहार क्यो न बना लेते? हाथ से भोजन बनाने मे हिसा होती हे, सभी आस्तिक दर्शन एक स्वर से यह बात स्वीकार करते हे, किन्तु जब हाथ से भोजन बनाने म हिसा होती हे तो तुम्हारे उद्दश्य स कोई दूसरा भोजन बनायेगा तो उसम हिसा नही होगी? पातन्जल योगदर्शन म भी बतलाया गया है कि साधुआ को हिसा करने कराने

और अनुमोदन करने–तीनो–का त्याग करना चाहिये। ऐसी दशा मे स्वय हिसा न करके दूसरो से हिसा कराने मे भी पाप होना स्वाभाविक है?

कदाचित् औद्देशिक आहार के सबध मे यह कहा जाय कि हमने आहार बनाया नही और बनवाया भी नही, फिर हमे पाप क्यो लगेगा? किन्तु जो आहार तुम्हारे उद्देश्य से बनाया गया है और जिसे जान–बूझ कर तुमने लिया है, उसमे होने वाली हिसा के अनुमोदन के पाप से तुम किस प्रकार बच सकते हो? जब अनुमोदन के पाप के भागी हो गये तो फिर अहिसा महाव्रत कहा अक्षुण्ण रहा? साधु तो अनुमोदन के पाप का भी त्यागी होता है। इसीलिए साधु को औद्देशिक आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

अब क्रीतकृत अर्थात् साधु के निमित्त खरीद कर तैयार की हुई वस्तु के विषय मे विचार करे। कहा जा सकता है कि मुनि ने बनाया नही, बनवाया नही अनुमोदन नही किया और खरीदा भी नही। सिर्फ मुनि के लिये खरीद कर लाया गया है। इसमे क्या बाधा है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है– मुनियो को ऐसा आहार भी नही लेना चाहिए, क्योकि बनाने वाले ने पैसे से आहार बनाया है और यदि पैसा देकर साधु के लिए खरीदा जाता है तो उसके बनाने मे साधु का भी हिस्सा हुआ। रेलगाडी तुम्हारे लिये नही चलती, पैसे के लिये चलती है। परन्तु जब पैसा देकर उसमे बैठे तो उसके पाप मे भागीदार बने या नही?

लोग सीधी चीज कह कर न लेने योग्य वस्तु भी ले लेते हैं। परन्तु जिसके लेने मे पाप न होता, भगवान् उसका निषेध क्यो करते? दूसरे लोग सीधी चीज के चक्कर मे पड जाए, यह बात अलग है, परन्तु जैन होकर इस चक्कर मे पड जाना अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

कहा जा सकता है कि हम परम्परा से ऐसा ही करते आ रहे हैं तो इसका उत्तर यह है कि वश–परम्परा से चला आने वाला रोग क्या रोग नही कहा जायगा? क्या वह दूर नही किया जा सकता?

भारत के लोग सीधी वस्तु के लोभ मे बुरी तरह फस गये हें। कुछ लोग तो यहा तक कहते हैं कि अगर अशुचि को उत्तम रीति से सुन्दर शीशी मे पैक करके भारतीयो के समक्ष पेश किया जाय तो वे उसे ग्रहण करने मे भी आनाकानी न करे।

तात्पर्य यह है कि चाहे औद्देशिक हो या क्रीतकृत (खरीदा हुआ) हो, दोनो समान है।

तीसरी बात नित्यपिण्ड की है। औद्देशिक या खरीदा आहार आदि न लिया जाय तो न सही, किन्तु नित्य आमत्रित होकर आहार–पानी लेने मे क्या हर्ज है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है कि नित्यपिण्ड लेना भी साधुओ के लिए पाप है। ऐसा करना अहिसा की घात करने के समान है। यह तो तुम जानते हो कि कोई मनुष्य तुम्हारे घर आता है और जब वह भोजन करना स्वीकार करता है, तभी उसके लिए भोजन बनाते हो। अगर कोई पहले ही भोजन की मनाही कर दे तो उसके लिए भोजन क्यो बनाओगे? इसी प्रकार अगर साधु प्रतिदिन आवे या तुम्हारे निमत्रण को स्वीकार करे तो उसके लिये भोजन बनेगा, अगर वह कह दे कि हम प्रतिदिन नही आ सकते, हमे प्रतिदिन एक घर से भोजन लेना नही कल्पता, तो फिर गृहस्थ साधु के लिये भोजन क्यो बनाएगा? यही कारण है कि साधु किसी के घर जाने की पहले से ही घोषणा नही करते। उनके भिक्षा के सबध मे घरो का कोई नियम नही होता। अमुक दिन अमुक के घर भिक्षा के लिए जाने से भी गृहस्थ को पता चल जाता है कि आज साधु हमारे घर आएगे। इस कारण साधु को औद्देशिक, नित्यपिण्ड आदि का पाप लग जाता है। पाप से बचने के लिये आवश्यक है कि साधु पता ही न चलने दे कि वह किस दिन किसके घर आहार के लिये जाएगा।

अनाथ मुनि कहते हैं, राजन्! कुशील साधु आहार आदि के दोषो का विचार त्याग देते हैं। वे अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाते हैं। वे कल्प–अकल्प की परवाह नहीं करते। कोई कल्प–अकल्प के विषय मे कुछ कहता है तो उसे उलटा समझा देते हैं। ऐसा कुशील पुरुष भले थोडे दिन मौज कर ले, किन्तु अन्त मे तो उसे कटुक पाप फल प्राप्त होता ही हे।

अनाथ मुनि कहते हैं– जो लोग साधु बनकर फिर अनाथ बन जाते हैं, वे अनाथ तो बनते ही हैं, साधु ही पतित भी बनते हैं। वे अपनी साधुता की कीमत नही समझते। पहले साधुता मे दोष लगाना और फिर उस दोष को दोष न समझना, साधुता से पतित होना है। अतएव साधुता का पालन करने में सावधान रहो। अरिहन्त की आज्ञा में चलने वाले को किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। कदाचित् किसी वस्तु की कमी प्रतीत हो तो उस समय विचार करना चाहिए कि मुझे तो परीषह सहन करके भी अरिहन्त की आज्ञा का आराधन करना हे।

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अगार रखे गये थे फिर भी क्या उन्होने सोचा कि 'भगवान् की शरण मे आने पर भी मेरे मस्तक पर

अगार रखे जा रहे है, अत भगवान् की आज्ञा मानने का फल ही क्या हुआ? गजसुकुमार मुनि ऐसा सोचते तो गजब ही हो जाता। गजसुकुमार के निर्वाण के पश्चात् श्रीकृष्ण के कथन के उत्तर मे भगवान् अरिष्टनेमि ने कहा था– 'गजसुकुमार मुनि को एक सहायक पुरुष मिल गया था।'

जब भगवान् ऐसा कहते है तो स्वय गजसुकुमार की भावना कैसी रही होगी ? इस घटना को अपने सामने रख कर जब किसी बात की कमी मालूम पडे तो यही विचार करो कि मुझे तो भगवान् की आज्ञा का पालन करना है। कभी आहार न मिले तो विचार करो कि आज मुझे आहार नहीं मिला और बहुत क्षुधा सता रही है, किन्तु इस प्रकार की भूख तो मैंने बहुत बार सहन की है। ऐसा विचार करके समभाव के साथ वेदना सहन कर लेना चाहिए और भगवान का भजन करना चाहिए।

इस भावना को समक्ष रख कर सकट के समय कुछ विचार रखे जाए तो भले शरीर–पतला हो जाय, फिर भी आत्मा का तो कल्याण ही होगा। जो इस प्रकार दृढ रह कर धर्म का पालन करता है, उसे किसी प्रकार की अपूर्णता प्रतीत नही होती। शास्त्र मे कहा है –

देवा वि तं नमंसति जस्स धम्मे सया मणो।

जिस दृढधर्मी के चरणो मे देवता भी नमस्कार करते हैं, उसे किसी चीज की कमी नही हो सकती।

न त अरी कठछेत्ता करेइ, ज से करे अप्पाणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुह तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दया विहूणो।।48।।

अर्थात् दुरात्मा अपना जितना अहित करता है, उतना गला काटने वाला दयाविहीन वैरी भी नही करता। मृत्यु के मुख मे पडने पर दुरात्मा को घोर पश्चात्ताप करना पडता है।

मुनि कहते है– राजन्! ससार मे बैरी को अहित करने वाला माना जाता है। जो जितना अधिक अहित करे, वह उतना ही अधिक दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन द्वारा अधिक से अधिक अहित गला काटने का होता है, इससे अधिक कोई अहित बैरी द्वारा नही माना जाता। यह बैरी द्वारा होने वाले अहित की चरम सीमा है। सासारिक लोग कहते है कि अमुक व्यक्ति यदि हमारा बैरी है, तो अधिक से अधिक हमारा गला काट डालेगा और क्या करेगा? अर्थात् बैर पूरा करने की सीमा इतनी ही है, इससे अधिक बैरी कुछ नही कर सकता। यह भी वही बैरी करेगा जो दयाहीन हो। लेकिन राजन्! दुरात्मा से तो अपने–आप का अहित होता है जो अहित बैरी कहलाने वाले

से भी नहीं हो सकता, वल्कि वैरी बने हुए व्यक्ति को सुआत्मा अपना हित करने वाला मानता है, जेसे कि गजसुकुमार मुनि सोमल को अपना सहायक मानता था। ऐसे समय पर सुआत्मा सोचता हे कि मैं इस मारने वाले से नहीं मर सकता, मैं तो अपने–आप से ही मर सकता हू– यानी अपने कार्यों से ही दु ख पा सकता हू। यदि वैरी द्वारा गर्दन कटने पर आत्मा मे समता रहे तो वह गर्दन काटने वाला, मोक्ष प्राप्त कराने का साधन भी हो सकता है। लेकिन दुरात्मा अपने आपका, वैरी के गला काटने से भी अधिक अहित करता है। मृत्यु के मुख मे पडने पर, दुरात्मा अपने–आप ही पश्चात्ताप की अग्नि से जलने लगता है। जिस समय वह नरकादि की वेदना भोगता है, उस समय पश्चात्ताप होता है कि 'मैंने सयम स्वीकार करके भी उसकी विराधना क्यो कर डाली! मैं थोडे से नाशवान विषय–भोग के लोभ मे क्यो पड गया! यदि मैंने विषय–लोलुपता से, या प्रमाद वश, सयम की विराधना न की होती, तो आज मुझे नरक तिर्यंच गति मे जन्म लेकर, ये कष्ट क्यो भोगने पडते? वे सासारिक विषय–भोग जिनमे पड कर मैंने सयम की विराधना की थी, वहीं रह गये और मुझे ये कष्ट भोगने पड रहे हें। यदि मैंने सयम का भली–प्रकार पालन किया होता, सयम की अवहेलना न की होती तो आज मैं उस सुख मे होता, जो सुख अविनाशी है।

यहा प्रश्न होता हे कि गला काटने वाला वैरी तो प्रत्यक्ष मे ही गला काटता है, शरीर का नाश करता है, लेकिन दुरात्मा, अपने–आप को प्रत्यक्ष मे ऐसी हानि नही करता, फिर दुरात्मा को कण्ठ काटने वाले वेरी से भी अधिक अपने–आप का अहित करने वाला केसे कहा?

इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि सिर काटने वाला वेरी शरीर का ही नाश करता हे, आत्मा का वह कुछ नहीं विगाड सकता। केवल शारीरिक हानि ही हानि नही हे किन्तु आध्यात्मिक हानि ही वास्तविक हानि हे। आस्तिक लोग आत्मा को अविनाशी ओर शरीर को नाशवान् मानते हैं। इसलिए उनके समीप शरीर का नष्ट होना कोई हानि नही हे। वे प्रत्यक्ष या इस लोक को भी नही मानते, किन्तु इसके साथ ही, परोक्ष ओर परलोक को भी मानते ह। यह उपदेश आस्तिका के लिए ही हे। जा लोग शरीर के साथ ही आत्मा का नाश मानते हे आत्मा ओर शरीर को दो नहीं किन्तु एक ही जानते ह ऐसे लोगो क लिए यह उपदेश नही ह। इसलिए दुरात्मा द्वारा की हुई अपने–आप की हानि प्रत्यक्ष म चाह न दिखती हा प्रत्यक्ष म चाह लाभ ही दिखना हा लेकिन मृत्यु क पश्चात परलाक म वह दुरात्मा भीषण सकट

मे पडता है और आस्तिक लोग परलोक मानने से इनकार नही कर सकते। आस्तिक लोग आत्मा को अविनाशी मानने के साथ ही, परलोक पर भी विश्वास करते हैं। तात्पर्य यह कि हानि की सीमा, प्रत्यक्ष दिखने तक ही नहीं है, किन्तु चर्म–चक्षु से न दिखने वाली हानि भी है, जिसे ज्ञानी लोग अपने ज्ञान द्वारा पत्यक्ष देखते हैं। परलोक मे होने वाली हानि को चरम–चक्षु से ही देखा जा सकता है। उस हानि को चर्म–चक्षु से ही देखने की इच्छा करना, भूल है और नास्तिकता का चिन्ह है।

अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्! मृत्यु के मुख मे पडने पर दुरात्मा को महान् पश्चात्ताप के साथ ही, उसे नरक तिर्यच गति के महान् से महान् कष्ट भी भोगने पडते है।

लोगो को नरक का भय लगता है, परन्तु नरक आता कहा से है? नरक तो दूर रहा, कसाईखाना भी कहा से आया है? वास्तव मे नरक या कसाईखाने को दुरात्मा ही उत्पन्न करता है। दुरात्मा ही काटा जाता है और दुरात्मा ही कटवाता है।

भगवान् ने तीन प्रकार के पुद्गल बताये हैं। उनमे से पहले प्रकार के पुद्गल वे हैं जिन्हे आत्मा ने ही खराब बना दिया है। पुद्गल तो अपने ही स्वरूप मे रहते है, किन्तु दुरात्मा उन्हे भी खराब कर देता है। उदाहरणार्थ आपने खीर का भोजन किया। आप जानते हैं कि खाने से पहले खीर स्वाद, रूप, गध आदि की दृष्टि से कैसी थी और पेट मे जाकर पच जाने पर कैसी बन जाती है? तो खीर के पुद्गलो को आत्मा ने ही खराब किया या नही? ग्रथो मे कहा है कि सवा लाख कीमत के कपडे भी एक ही बार पहनने पर निर्माल्य–निकम्मे हो जाते हैं। उन कपडो को निर्माल्य बनाने वाला कौन है? इस प्रकार पुद्गलो को खराब बनाने वाला आत्मा ही है। आत्मा ही पुद्गलो को शस्त्र के रूप मे परिणत करता है। अगर आत्मा दुरात्मा न हो तो तलवार को भी फूलो की छडी बना सकता है।

तुम्हे जो इन्द्रिया मिली हैं वे आत्मा के कल्याण के लिए ही मिली हैं। अनन्तानन्त पुण्य का सचय होने पर एक–एक इन्द्रिय मिलती है। किन्तु इतने प्रकृष्ट पुण्य से प्राप्त इन्द्रियो को दुरात्मा कहा–कहा भटका रहा है। साधु भी यदि सयम से पतित होता है और इन्द्रियो का दुरुपयोग करता है, तो वह भी दुरात्मा है। दुरात्मा ससार मे तो आनन्द मानता है, परन्तु जब मौत के मुख मे पडता है, तब उसे घोर पश्चात्ताप करना पडता है। उस समय लक्षण ज्योतिष, मत्र आदि का ज्ञान और प्रयोग कुछ भी काम नही आता।

जिसने अहिसा की विराधना की है और जो दया को गवा बैठा है, वह जब मौत के मुह मे पहुचता है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती।

महमूद गजनवी के विषय मे कहा जाता है कि उसने 17 बार भारत को लूटा था। वह अनेक लोगो को बहुत कष्ट देकर बहुत–सा धन ले गया था। परन्तु जब वह मरने लगा तो उसने उस धन का अपने सामने ढेर कराया और उसे देख–देख कर बिलख–बिलख कर रोने लगा। वह क्यो रोया, इस सबध मे निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु सभवत वह इस विचार से रोया होगा कि–

'मैं लोगो को तरह–तरह से कष्ट देकर धन लाया, इसका सचय किया और आज यह धन यही पडा रह जाएगा! फूटी कौडी भी मेरे साथ नहीं जाएगी।' सभव है, इस प्रकार का पश्चात्ताप होने के कारण ही वह रोया हो।

इसी प्रकार दुरात्मा जब मृत्यु के मुह मे पडता है, तब पश्चात्ताप करने लगता है। तुम भी अपने विषय मे विचार करो कि हमारे साथ नही जाएगा तो कितना पश्चात्ताप करना पडेगा।

मैंने यह बात तुम्हारे लिए कही है। परन्तु मुझे भी अपने सबध मे विचार करना चाहिए कि–हे आत्मन्! अगर तू दूसरो को प्रसन्न करने मे और अपने सामने नमाने मे ही रह गया, कोरी वाह–वाह करवा ली और किंचित् भी स्व–पर दया न की तो आखिर तुझे भी पछताना पडेगा।

अनाथी मुनि इस प्रकार शिक्षा देकर कहते हैं– आखिर तो तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे काम आएगी। दूसरा कोई काम नहीं आ सकता। अतएव जो सत्य हो, जो भगवान् की आज्ञा मे हो और जिस से स्व–पर की दया हो, तू वही काम कर, इससे विपरीत मत कर।

अनाथ मुनि की यह शिक्षा जीवन मे अवतरित की जाय तो अवश्य ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। अगर आप दया और परमात्मा की शिक्षा को भलीभाति जान ले, तो समझ लो कि आपने सब–कुछ जान लिया। इससे अधिक जानने को कुछ नहीं रह जाता। शास्त्र मे कहा है कि किसी भी जीव की हिसा न करना यही सब धर्मों का सार है।

कोई मनुष्य हजार–दो हजार वर्ष पुराना लिखा शास्त्र बतला कर तुमसे कहे कि भगवान् वीतराग फूलो की माला पहन कर बैठ थे तो क्या तुम उसकी बात मान लोगे? तुम यही कहोगे किसी विकारी ने ऐसा लिख दिया होगा। वीतराग भगवान ऐसी सासारिक भावना मे नहीं पड सकते।

इसी पकार कोई कहे–मुनियो को कम से कम पाच रुपये तो अपने पास रखने ही चाहिये। पास मे रुपये हो तो कभी काम आ सकते हैं। क्या आप इस कथन को मान लेगे? कदाचित् कोई कहे कि ये मुनि आध्यात्मिकता मे बहुत आगे बढे हैं, ये पाच रुपये रखे तो कोई हर्ज नही है। तो भी आप इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होगे। आप यही कहेगे कि ऐसा करना भगवान् की आज्ञा मे नही है। तो भगवान् की आज्ञा पर इसी प्रकार विचार करते जाओ और उसी पर दृढ रहो। ध्वजा की तरह इधर–उधर मत फिर जाओ, अन्यथा पश्चात्ताप करना पडेगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक को उपदेश दे रहे हैं। यह उपदेश एक तरह से मुनियो को उपालम्भ रूप है, किन्तु प्रेम के कारण ही यह उपालम्भ दिया जा रहा है। कोई सज्जन पुरुष किसी को उपालम्भ देता है तो आत्मीय समझ कर ही देता है। जिसे पराया समझा जाता है, उसे कौन उपालम्भ देने जाता है। उसके विषय मे तो यही कहा जाता है कि मुझे उससे क्या सरोकार है? अनाथ मुनि प्रेम से उपालम्भ देते हुए कहते हैं– साधुओ! तमने किस काम के लिये साधुपन अगीकार किया है और क्या काम कर रहे हो? तुम्हारा और हमारा ध्येय एक ही है। ससार–भावना के कारण तुम मुझ से अलग न हो जाओ।

जैन धर्म की दृष्टि प्रेम की है। किसी भी आत्मा को कष्ट न देना, उसका उद्देश्य है। उसका मुद्रालेख –

मित्ती मे सव्वभूएसु।

अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति मेरा मैत्रीभाव है। इसी मैत्रीभाव के कारण अनाथ मुनि दूसरो को सावधान और सतर्क कर रहे हैं।

मुनि, श्रेणिक के सामने कहते है– अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो धर्म और परमात्मा के नाम पर खराब काम कर रहे हैं और खराब काम करते हुए भी अपने–आप को साधु कहलवाते हैं। ससार मे बुरे और भले, दोनो प्रकार के लोग होते हैं। हजारो वर्ष पहले भी ऐसे लोग थे जो साधुता के नाम पर असाधुता के काम करते थे। किन्तु ऐसे कायरो के कारण साधु मात्र की निन्दा करना अनुचित है।

शास्त्र कहता है– ससार साधुओ के कारण ही शाति का अनुभव कर रहा है। ससार मे जब साधु नही रहेगे तब यह पृथ्वी तप कर लाल गोले के समान हो जायगी और इस पर रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा। भगवान् ने कहा है– इस पचम काल के अन्त मे जब तक एक भी साधु–साध्वी या श्रावक–श्राविका है, तब तक शाति रहेगी। साराश यह है कि धर्म के कारण ही

शाति मिल रही है। अतएव धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले लोगों के कारण धर्म की निन्दा करना उचित नहीं।

निरट्ठिया निग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नित्थि परेऽवि लोए, दूहओ वि से झिज्झई तत्थ लोए।।49।।

अर्थ— जो उत्तमार्थ को विपरीत करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विपरीत समझता है और उनके प्रति अरुचि रखता है, उसका सयम लेना वृथा है। उसके लिये यह लोक भी कल्याणकारी नही होता और परलोक भी कल्याणकारी नही होता। वह दोनो लोको मे दु ख पाता है।

व्याख्यान— साधु का वेष धारण करके भी असाधुता का काम करने वाले लोगो के सबध मे मैं ही ऐसा नही कहता हू, परन्तु शास्त्र भी ऐसा ही कहता है। साथ ही शास्त्र के इस कथन के अनुसार भगवान् महावीर की परम्परा के सभी अनुयायी ऐसा ही मानते आ रहे हैं। सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि उत्तमार्थ को नष्ट करने वाले का सयम ग्रहण करना या साधुवेष धारण करना निरर्थक है।

उत्तमार्थ क्या है, इस सबध मे विचार करे। उत्तमार्थ का आशय समझने पर ही स्थूलता मे से सूक्ष्मता मे पहुचा जा सकता है और भौतिकता से आध्यात्मिक मे जाया जा सकता है, किन्तु भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सबध है। अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक ससार के बीच सबध है। अर्थात् भोतिक ससार और आध्यात्मिक ससार परस्पर सबधित होने से भौतिक ससार व्यर्थ नही है।

आज कुछ लोग समझते हैं कि आध्यात्मिकता वह वस्तु है जो हमारी समझ मे न आ सकती हो! अर्थात् जो बात समझ मे न आती हो, उसी का नाम आध्यात्मिकता रख दिया गया है। एक बार युनिवर्सिटी के किसी छात्र ने अपने प्रोफेसर से पूछा— आध्यात्मिकता किसे कहते हैं? तब प्रोफेसर ने कहा— मान लो, मोहन और सोहन बात कर रहे हैं। मोहन की बात सोहन न समझे और सोहन की बात मोहन न समझे, बस, इसी को आध्यात्मिकता कहते हैं।

आध्यात्मिकता के सबध में ऐसे विचार लेना भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे अध्यात्मवाद बहुत सुगम है और सभी उसे समझते हैं। यद्यपि भौतिकवाद और आध्यात्मवाद परस्पर सम्बद्ध हैं, तथापि भौतिकवाद को ध्येय नहीं बनाना चाहिए। भौतिकवाद को ध्येय बनाने से ससार मे बडी गडबडी फैली है। हा, अध्यात्मवाद को समझने के लिए भौतिकवाद को समझना आवश्यक है। उदाहरणार्थ— आत्मा

को शरीर द्वारा ही समझा जा सकता है, शरीर के बिना नहीं। इस प्रकार अध्यात्म का परिचय कराने वाला भौतिकवाद ही है, तथापि भौतिकवाद को ही पकड कर नहीं बैठना चाहिए और यह देखना चाहिए कि अध्यात्मवाद के सहारे भौतिकवाद है अथवा भौतिकवाद के सहारे अध्यात्मवाद है? स्थूल के आधार पर सूक्ष्म टिका है या सूक्ष्म के आधर पर स्थूल टिका है? कौन किसके सहारे टिका है?

जिसे हम देख सकते हैं, जिसमे रूप, रग, वजन आदि है, वह स्थूल कहलाता है और जिसे आख से देखना सम्भव नही है, जिसमे रूप, रग, वजन आदि नही हैं, वह सूक्ष्म कहलाता है। यह ससार इन दानो मे से किस के आधार पर टिका है? यह देखने के लिए सबसे पहले आप शरीर को ही देख लीजिए। आपके शरीर के दो भाग है– एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म भाग। चर्मचक्षु से दृष्टिगोचर होने वाला रक्त, मास आदि स्थूल भाग है और जो श्वास दिखाई नही देता वह सूक्ष्म भाग है। अब देखना चाहिए कि शरीर का टिकाव किसके आधार पर है? स्थूल के आधार पर है अथवा सूक्ष्म के आधार पर? श्वास के आधार पर रक्त–मास आदि हैं या रक्त–मास आदि के आधार पर श्वास है? आप लोग इस बात को भली–भाति जानते है और कहते है–

जीवने श्वास तणी सगाई, घरमा घडी न राखे भाई।

जब तक शरीर मे श्वास है तब तक भाई उसे घर मे रहने देता है पर श्वास निकल जाने पर भाई भी कहने लगता है– इस शरीर को जल्दी बाहर निकालो! इस प्रकार ससार मे श्वास की ही सगाई है और यह श्वास सूक्ष्म है।

शास्त्र श्वास को सूक्ष्म कहकर नही रुक जाता। वह बतलाता है कि यह सूक्ष्म श्वास भी स्वतन्त्र नही है? श्वास प्राण है, परन्तु वह प्राणी का प्राण है। अतएव यह देखो कि श्वास प्राण को धारण करने वाला प्राणी कौन है? श्वास प्राण को शक्ति देने वाला कौन है? आप कहते हैं– मै चाहू तो श्वास जल्दी–जल्दी ले सकता हू और चाहू तो धीरे–धीरे ले सकता हू। तो जल्दी–जल्दी और धीरे–धीरे श्वास लेने वाला कौन है? श्वास मे जिसकी शक्ति है, जो जल्दी–जल्दी श्वास ले सकता है और रोक सकता है वही आत्मा है और वह श्वास से भी अधिक सूक्ष्म है। वह दृष्टिगोचर नही होता। अगर वह दृष्टिगोचर होता तो नाशवान हो जाता। जो दिखाई देता है, वह नाशवान् होता है।

इस आधार पर आप विश्वास कीजिए कि आत्मा की उपस्थिति मे ही यह सब खेल चल रहा है। सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व से ही स्थूल शरीर

टिका है। सूक्ष्म आत्मा के अभाव मे स्थूल शरीर टिक नही सकता और नष्ट हो जाता है। आत्मा की मौजूदगी मे तो शरीर सौ वर्ष तक टिक सकता है, परन्तु आत्मा के अभाव मे कुछ दिन तक भी नही ठहर सकता। अतएव यह शरीर जिसका कार्य है, उस कारणभूत आत्मा को देखो और मानो कि स्थूल और सूक्ष्म– दोनो की आवश्यकता है, पर ध्येय स्थूल नही, सूक्ष्म ही है क्योकि स्थूल के आधार पर सूक्ष्म नही, पर सूक्ष्म के आधार पर स्थूल है। इस प्रकार अध्यात्मवाद को समझना कुछ कठिन नहीं है।

जिस आत्मा की सत्ता से ही स्थूल ससार चल रहा है, उसे पहचानना ही उत्तम अर्थ है। जो इन्द्रिय विषयो के मोह मे पड जाता है और आत्मा को भूल जाता है, वह उत्तमार्थ को नष्ट करता है। कहावत है– चौबेजी छब्बे बनने चले तो दुबे ही रह गये। कमाई करने चले और पूजी भी गवा बैठे! ऐसा करना विपरीत कृत्य है। विपरीत कृत्य करना उत्तमार्थ को नष्ट करना है। इसी कारण अनाथ मुनि कहते है–हे मुनियो! तुमने उत्तमार्थ को प्राप्त करने के लिए साधु व्रत धारण किया, परन्तु सासारिक झझटो मे पडकर उस उत्तमार्थ को नष्ट कर रहे हो। क्या तुमने उत्तमार्थ को नष्ट करने के लिए साधुपन ग्रहण किया है?

किसी साधु से पूछा जाय कि क्या आपने भोगोपभोग भोगने के लिए साधुपन लिया है? तो कोई भी 'हा' नही कहेगा। कोई यह तो कह सकता है कि हमसे साधुपन नही पलता, किन्तु यह नही कह सकता कि भोग भोगने के लिए हम साधु बने है ! फिर भी कितने ही लोग अन्दर ही अन्दर उत्तमार्थ को नष्ट करते हैं और ऊपर–ऊपर से उत्तमार्थ को साधने का ढोग करते हैं। ऐसे लोग न तो इस लोक के रहते हैं, न परलोक के रहते है।

ऐसे लोग इस लोक के क्यो नहीं रहते? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार गृहस्थ जन इहलोक की साधना कर सकते हैं, उस प्रकार साधु वेषधारी नहीं। उदाहरणार्थ– आप अपने शौक के लिए पीतल या चादी के बरतन भीं रख सकते हैं, परन्तु वे ऐसे बरतन नहीं रख सकते हैं। उन्हे लकडी, तूम्बे या मिट्टी के ही पात्र रखने पडेगे, परन्तु पीतल और चादी के पात्रो की लालसा बनी रहेगी। इस प्रकार लालसापूर्ति न होने के कारण उनका इहलोक बिगड जायेगा। उनका शौक पूरा न होगा। साथ ही उनका परलोक तो बिगड ही जाता है क्योंकि वे अपनी कामनाओ पर विजय नहीं पा सके।

उत्तमार्थ को नष्ट करने वाले लोग उस भीलनी के समान है, जिसे भाग्य से हाथी के मस्तक मे से निकला मोती मिल गया हो और उसने ककर

समझ कर उसे फेक दिया हो अथवा वह उस मूर्ख के समान है जिसे जगल मे बावन चन्दन की लकडी मिल गई हो और वह उसे आग मे जलाकर रोटी बना रहा हो। जैसे यह भीलनी और यह मूर्ख भयकर भूल कर रहे हैं, उसी प्रकार साधु का वेष धारण करके उत्तमार्थ को नष्ट करने वाला भी भयकर भूल करता है। ऐसे लोग न इधर के रहते हैं, न उधर के रहते हैं।

आप गृहस्थ लोग रग–बिरगे वस्त्र पहन सकते है, परन्तु साधु तो श्वेत वस्त्र ही पहन सकता है। फिर भी अगर वह उस श्वेत वस्त्र से अपना शृगार करे और अपना शौक पूरा करना चाहे और सासारिक मजा–मौज लूटना चाहे तो कहना चाहिए कि उसने उत्तमार्थ को भी नष्ट किया और ससार का पूरा मजा भी न लूटा। उसके विषय मे यही उक्ति चरितार्थ होती है –

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे, न उधर के रहे।

न तो उसने साधु–धर्म का पालन किया और न वह इस लोक का रहा। इस प्रकार की दुर्दशा से दूर रहने की चेतावनी देने के लिए ही अनाथ मुनि ऐसा कह रहे हैं। उन्हे किसी से द्वेष नही है। वे जो–कुछ कह रहे हैं, साधुओ का हित दृष्टि मे रख कर ही कह रहे हैं कि–'हे मुनियो! तुम ऐसा उत्तम अर्थ प्राप्त करके भी अगर फिर ससार के झझटो मे पड जाओगे तो कही के नही रहोगे।

यह साधुओ की बात हुई। आप श्रावक भी अपने सबध मे विचार करे। आप तो उत्तमार्थ को नष्ट नही कर रहे हो? जब कोई साधु उत्तमार्थ को नष्ट करता है, तब तो तुम उसे बहुत बुरा बतलाते हो, पर यह भी देखो कि तुम अपने श्रावकत्व मे तो कोई दोष नही लगा रहे हो? तुम अगर अपने धर्म पर दृढ रहो तो कोई साधु तुम्हारे सामने ढोग करने की हिम्मत नही कर सकता। मगर तुम तो दूसरो को ही देखते हो। अपने को नही देखते कि हम श्रावक होकर क्या कर रहे हैं। किस प्रकार उत्तमार्थ को नष्ट कर रहे हैं। तुम श्रावक अगर चर्बी लगे वस्त्र न पहनो तो क्या तुम्हारे श्रावकपन मे कोई बट्टा लग जाएगा? अगर नही, तो क्यो नही विचार करते कि हम तुच्छ खान–पान और पोशाक मे उत्तमार्थ को किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं।

एक भाई ने मुझे बतलाया था कि विवाह के अवसर पर यहा महाजनो के घर चार–पाच सौ रुपये का रेशमी कपडा लाया जाता है। मैं यह नहीं कहता कि तुम गरीबो को भिखारी बनाओ पर यह तो देखो कि इस रूढि

के कारण गरीबो को कितना परेशान होना पडता है! अगर आप ऐसी रूढिया मिटा दे तो क्या गरीबो पर दया न होगी?

वर–विक्रय के सबध मे भी यही बात है। मुझे कहा जाता है कि यहा कोई बिरला ही वर–विक्रय करता होगा। उसके कारण सारे राजकोट को क्यो बदनाम किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि कदाचित् यहा के एक–दो घरो मे आग लगी हो तो क्या यह नही कहा जायगा कि राजकोट मे आग लगी है!

अभिप्राय यह है कि जैसे साधु अपनी मर्यादा का उल्लघन करके उत्तमार्थ को नष्ट करता है, उसी प्रकार श्रावक भी अपनी मर्यादा के विपरीत कार्य करके उत्तमार्थ का विनाश करता है। उतएव दोनो को ही अपनी–अपनी मर्यादाओ के अनुसार आचरण करना चाहिए और रुचि एव प्रीति के साथ उत्तमार्थ की आराधना करनी चाहिए। रुचि और उत्साह के साथ सयम का पालन करने पर कष्ट का अनुभव नही होता। रुचि हो तो केशलुचन करना, पैदल चलना और भिक्षा मागना भी अपूर्व आनन्ददायक बन जाता है। जैसे गृहस्थ लोग पुत्र–पुत्री के विवाह के अवसर पर रात–दिन परिश्रम करते हैं, क्षुधा–तृषा सहते हैं, फिर भी उसमे आनन्द ही मानते हैं, उसी प्रकार रुचि और उत्साह के साथ सयम पालने वाला परीषह सहन, केशलुचन आदि मे भी आनन्द ही मानता है। ऐसे ही लोगो का सयम धारण करना सार्थक है। जो अरुचि के साथ सयम पालते हैं, सयमपालन मे कष्ट का अनुभव करते हैं, उनका सयम लेना निरर्थक है। वे अपने दोनो लोको को दु खमय बनाते हैं।

एमेव हा छन्दकुसीलरुवे, मग्ग विराहित्तु जिणुत्तमाण।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परियावमेइ।।50।।

अर्थ– जिस प्रकार कुररी (एक जाति की पक्षिणी) मास के लिए लालायित रहती हे, उसी प्रकार साधुवेषधारी असयमी लोग रस आदि भोगोपभोगो के लिए लालायित रहा करते हैं। वे स्वच्छन्द होकर, उत्तम जिन–मार्ग की विराधना करके निरर्थक सोच तथा पश्चात्ताप करते हैं।

व्याख्यान– अनाथ मुनि कहते हैं– राजन्! कितने ही लोग अनाथ अवस्था में से निकलने के लिए साधुपन तो धारण कर लेते हैं, पर विपयाभिलापा उन्हे पुन ससार की ओर घसीट ले जाती हे। तात्पर्य यह है कि जो स्वच्छन्दता का त्याग नही करता और भगवान् की आज्ञा के अनुसार नही चलता वह कुशील है और कुशील पुरुप वीतराग के मार्ग की विराधना करता है।

मान लीजिए, आप केला–नारगी खरीदने के लिए बाजार गये। आपने देखा कि केला–नारगी ऊपर–ऊपर से तो अच्छे हैं, पर भीतर से खराब हैं। तो क्या आप उन्हे खरीदेगे? नही। क्यो कि आपको उनके ऊपरी रूप–रग से पयोजन नही है, बल्कि उनमे रहे हुए जीवनदायक और पोषकतत्त्व से पयोजन है। आप उन्ही फलो को खरीदना पसद करेगे, जिनमे जीवनदायक तत्त्व समझेगे।

इस प्रकार आप दो पैसे की नारगी और दो पैसे का केला खरीदते समय तो इतना देखते हो, किन्तु जिनके साथ आत्मा के कल्याण–अकल्याण का सबध है, उन साधुओ के विषय मे यह नही सोचते कि उनमे हमारी आत्मा का कल्याण करने की योग्यता है अथवा नही? आपको साधुओ का ऊपरी वेष ही नहीं देखना चाहिए किन्तु भीतर के गुण भी देखने चाहिए। सच्ची साधु–सगती वही है, जिससे आपके आत्मा मे रही हुई साधुता जाग्रत हो। जिनकी सगति से साधुता की हानि होती है, वह तो असाधुओ की सगति है। आत्मा के गुणो की हानि करने वालो को मानने और वन्दन–पूजन करने से क्या हानि होती है, इस विषय मे 'बोधसत्तरी' नामक ग्रन्थ मे कहा है –

पासत्थं वन्दमाणस्य, नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
होई कायकिलेसो, अन्ताण कम्म बन्धइ ।।

इस गाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले भी पासत्था लोगो की बहुतायत थी और उस समय भी उनके विरुद्ध आदोलन किया जाता था।

जो साधु का वेष धारण करता है और पाच महाव्रतो को अगीकार भी करता है, किन्तु उनका यथावत् पालन नही करता, वह 'पासत्था' कहलाता है। ऐसे पासत्था साधुओ को वन्दन–नमस्कार करना शोभस्पद नही है, यही बात इस गाथा मे बतलाई गई है। कहा जा सकता है कि शोभास्पद न हो तो भी क्या हर्ज है? ससार मे बहुत–से काम ऐसे भी किये जाते हैं, जो शोभास्पद नही होते, फिर भी करने पडते हैं। इसके उत्तर मे यहा कहा गया है कि पासत्था साधु को वन्दन–नमस्कार करने से लेश मात्र भी निर्जरा नही होती। इस पर भी कहा जा सकता है कि गृहस्थी मे रहते अनेक काम ऐसे करने पडते हैं, जिनसे निर्जरा नही होती। उन कामो की तरह यदि पासत्था साधुओ को वन्दन–नमस्कार भी कर ले तो क्या हर्ज है? इसका उत्तर यहा दिया गया है कि काया को व्यर्थ ही कष्ट होता है। इस पर भी कोई कह सकता है कि हमे कायकष्टकारी अनेक कार्य करने पडते हैं तो उनके साथ एक और अधिक सही। इसका उत्तर यह है कि पासत्था को वन्दना करने

से अज्ञान कर्म का बन्ध होता है। पासत्था साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विराधना करता है, अतएव उसे वन्दना करना ज्ञान, दर्शन चारित्र की विराधना मे सहायता देने के बराबर है। इसी कारण वन्दना करने वालो को अज्ञान–कर्म बधता है। भगवान् ने निशीथ सूत्र मे कहा है –

जे भिक्खू पासत्थं वदइ, वंन्दंत वा साइज्जइ।
एवं जाव संसत्तं वन्दइ, वन्दतं वा साइज्जइ।

किसी पर द्वेष होने के कारण भगवान् ने ऐसा नहीं कहा है। उन्होने तुम्हारे कल्याण के लिए ही कहा है। जब तुम पासत्था साधु से स्पष्ट कह दोगे कि 'हम केवल हाडमास के पुजारी नही, गुणो के पुजारी हैं, तुम्हारे साथ हमारा सबध भगवान की आज्ञा मानने के कारण ही है। ऐसी स्थिति मे अगर तुम भगवान् की आज्ञा नही मानते तो हमारा तुम्हारे साथ कोई सबध नही रह सकता।' तो तुम्हारी इस दृढता को देखकर पासत्था भी ठिकाने आ जायेगा और भगवान की आज्ञा का उल्लघन करने से पहले उसे विचार करना पडेगा। किन्तु अगर तुम उसके सहायक बन गये, उसके द्वारा होने वाली रत्नत्रय की विराधना मे सहायता पहुचायेगे तो आपका ऐसा करना पासत्था को और अधिक बिगाडना होगा।

भगवान् की आज्ञा का उल्लघन करने वाले साधु के लिए अनाथ मुनि एक पक्षी का उदाहरण देते है। महापुरुष की धारणा है कि लौकिक उदाहरण देकर कही जाने वाली बात जल्दी समझ मे आ जाती है।

कुरर पक्षी की मादा को कुररी कहते है। कहते हैं, जहा पानी के सरोवरो की बहुलता होती है, वहा यह पक्षी रहता है। इसका रग काला होता है। मछली का मास इसे प्रिय है। वह दिन–भर मछली के मास के लोभ मे ही रहता है और मास खाकर भी सन्तुष्ट नही होता, और रोता रहता है।

यहा इसी पक्षी का दृष्टान्त देकर मुनि कहते है– वे असाधु कुररी पक्षिणी की भाति भोग भोगने मे निरन्तर आसक्त रहते हें ओर इस कारण कष्ट भोगते हैं।

यह उदाहरण देकर महात्मा पुरुषो ने इस नियम का प्रतिपादन किया है कि जो नियम सिन्धु के लिए हे वही नियम बिन्दु के लिए भी है। इस नियम के अनुसार जो बात साधुओ के लिए हे, वही अपनी–अपनी योग्यता ओर मर्यादा के अनुसार सबके लिए समझनी चाहिए। आपको यह भी समझना चाहिए कि पशु–पक्षी ही नही वरन् ससार के समस्त पदार्थ कुछ–न–कुछ शिक्षा देते हें ओर सभी अच्छे या बुरे पदार्थ किसी–न–किसी

रूप मे आत्मा का उत्थान करने मे सहायक होते है। यह बतलाने के लिए ही अनाथ मुनि ने कुररी का उदाहरण देकर कहा है कि जैसे कुररी को मास की गृद्धि के कारण दु ख भोगना पडता है, उसी प्रकार साधु बनकर सासारिक भावना मे पडने वालो को भी दु ख उठाना पडता है।

सडी नारगी स्वय तो सडती ही है, साथ ही जो उसके ससर्ग मे आती है उसे भी सडा देती है, इसी प्रकार जिनाज्ञा का लोप करने वाला अपनी हानि तो करता ही है, जो उसकी सगति करता है, उसकी भी वह हानि करता है।

यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि कुशीलो के प्रति द्वेष होने से अनाथ मुनि ने ऐसा कहा है। सच्चाई यह है कि उन्होने प्रेम और करुणा होने के कारण ऐसा कहा है। कभी–कभी पिता अपने पुत्र को सख्त सजा भी देता है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह अपने पुत्र का शत्रु है। सख्त दण्ड देते समय पिता की एकमात्र यही इच्छा होती है कि मेरा लडका कुमार्ग पर न जाय। लडका कुमार्ग पर जाता है तो पिता को दु ख होता है। इसी कारण वह पुत्र को कठोर दण्ड देता है और सुधारने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अनाथ मुनि भी साधुओ को शिक्षा देते है।

राजीमती ने रथनेमि से कहा था–'हे अपयश–कामी ! तेरे लिए तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है। तो क्या राजीमती को रथनेमि पर द्वेष था ? डाक्टर रोगी के शरीर मे चीरा लगाता है तो वह रोगी से प्रेम करता है या द्वेष करता है? डाक्टर कहता है– मैं रोगी को नही, रोग को चीरता हू। इसलिए कि रोगी पर मेरा करुणा भाव है।

अनाथ मुनि भी साधुओ पर करुणा भाव रखकर ही इस प्रकार शिक्षा देते हैं। किसी के प्रति उन्हे द्वेष नही। वे यही चाहते है कि साधुओ की आत्मा को सच्ची शाति का लाभ हो। साधु अनाथ मुनि की शिक्षा माने तो उनका भी कल्याण हो और साथ ही आप लोगो का भी कल्याण हो।

सयम ग्रहण करने के पश्चात् भी भोग–लोलुपता साधु को स्वच्छन्दाचारी बना देती है। स्वच्छन्दाचारी होकर वे उत्तम जिन–मार्ग की विराधना कर डालते हैं। उस समय तो वे विचार नही करते, किन्तु जब मृत्यु मस्तक पर नाचने लगती है, तब सोच और पश्चात्ताप करते हैं। किन्तु अवसर निकल जाने पर पश्चात्ताप करने से क्या लाभ? सयम की विराधना करते समय ही उन्हे भविष्य का विचार करना चाहिये था कि मै क्या करने के लिए उद्यत हुआ था और क्या करने लगा हू। इसका फल क्या होगा? उस समय

विचार नही किया, सासारिक भोग और मानापमान आदि के आगे सयम का ध्यान नही रक्खा और अब पश्चात्ताप किस काम का? इस प्रकार पश्चात्ताप का अवसर न आने देना ही बुद्धिमता है। अनाथ मुनि साधुओ को चेतावनी देकर यही बतलाना चाहते हैं कि साधुओ! पहले से ही सावधान रहो। ऐसा काम न करो कि बाद मे पश्चात्ताप करना पडे।

अनाथ मुनि की यह अपार करुणा है, द्वेष नही।

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इम, अणुसासण नाण गुणोव वेय।
मग्ग कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियठाण वए पहेण ।।51।।

अर्थ– हे मेधावी! ज्ञान गुण से युक्त इस सुभाषित शिक्षा का सुनकर और कुशीलो के मार्ग को त्याग कर महानिर्ग्रंथ के पथ पर चलो।

व्याख्यान– अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं– राजन्! इस सुभाषित को, जिसका मैने अभी तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है, सुन कर तुम विचार करो। यह सुभाषित शिक्षा रूप है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप गुणो से युक्त है। इसे सुन कर तुम कुशीलो के मार्ग को त्याग कर महानिर्ग्रंथो के मार्ग पर चलो।

अनाथ मुनि ने जो–कुछ कहा है, उससे ऐसा जान पडता है, मानो राजा श्रेणिक साधु बन रहा हो। परन्तु वह साधु नही बन रहा था। फिर ऐसा कहने का कारण क्या है, यह यहा देखना है।

मुनि ने राजा को मेधावी कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि यह शिक्षा बुद्धिमान को ही देनी चाहिए, बुद्धिहीन को नही। पर आज श्रेणिक जेसे बुद्धिमान नही हे तो क्या किया जाय? क्या किसी को शिक्षा न दी जाय?

बुद्धिमान पुरुष दो प्रकार के माने जाते हे। प्रथम वे, जो किसी बात को सुन कर उसी समय सत्यासत्य का निर्णय कर लेते हैं ओर दूसरे वे, जो उसी समय निर्णय नही कर सकते, फिर भी उनका प्रयत्न उसी दिशा मे चालू रहता हे। एक शिष्य ओर दूसरे शिक्षक मे से किसे बुद्धिमान कहना चाहिए? अगर दोनो मे बुद्धि न हो तव तो शिष्य ओर शिक्षक का भेद ही नही होना चाहिए ओर यदि दोनो समान बुद्धिमान हो तो भी यह भेद नही होना चाहिए। अतएव यही मानना पडेगा कि बुद्धि तो दोनो मे हे, किन्तु एक मे अधिक ओर दूसरे मे थोडी हे। जिसमे थोडी हे वह अधिक बुद्धि प्राप्त करना चाहता हे ओर दूसरा उसे देना चाहता हे। इस प्रकार जिसमे बुद्धि हे वह तो बुद्धिमान हे ही पर जो बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता हे वह भी बुद्धिमान हे। अगर किसी वात की सत्यता–असत्यता का निर्णय तत्काल न कर सके तो भी

निर्णय करने की इच्छा अवश्य रखे और प्रयत्न भी करे। ऐसा करने से आप भी बुद्धिमान ही कहलाएगे।

मैं आपको जो–कुछ सुनाता हू सो यही समझ कर कि आप उसे सुन कर सत्यासत्य का निर्णय करने की बुद्धि प्रकट करेगे। फिर भी अगर कोई मेरी बात न सुने या न माने तो उसकी इच्छा! इस कारण मुझे दु ख नही मानना चाहिए। हमे यह विचार भी नही आना चाहिए कि मैं कहता हू, पर ये लोग तो कान ही नही देते! इस प्रकार का विचार आना अपने ज्ञान को आप ही तुच्छ बनाना है। हा, हमे यह अवश्य देखना चाहिए कि यह शिक्षा बुद्धिमान को ही दी जाय, बुद्धिहीन को नही। बुद्धिहीन को शिक्षा देने से कोई लाभ नही हो सकता। कृषक भी बीज बोने से पहले देख लेता है कि यह भूमि उपजाऊ है या नहीं? भले उस भूमि मे अन्न या घास न उगा हो, फिर भी वह यह तो देखता ही है कि यहा घास उगा है या नहीं? घास उगा हो तो कृषक को इतनी आशा तो रहती ही है कि इस भूमि मे बोया बीज निरर्थक नहीं जाएगा। जिस भूमि पर घास भी न उगा हो, उसमे बीज बोने से भी क्या लाभ है?

इसी प्रकार धर्म–शिक्षा देने के लिए भी हमे परिषद् को देखना चाहिए। श्री नदीसूत्र मे तीन प्रकार के श्रोता बतलाये गये हैं–(1) जाणिया (2) अजाणिया (3) दुग्वियड्ढा। शास्त्र मे कहा है कि जानकार और अनजान श्रोताओ को उपदेश देना चाहिए, परन्तु दुर्विदग्धो– नासमझ होते हुए भी अपने को बहुत समझदार मानने वालो के सामने चुप रहना ही अच्छा है।

'जाणिया' श्रोता वह कहलाता है जो थोडा कहते ही बहुत समझ ले। जैसे पानी मे डाला हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार थोडा सुन कर बहुत समझ लेने वाला श्रोता 'जाणिया' कहलाता है। नासमझ श्रोता को 'अजाणिया' कहते हैं। इन दोनो मे से किसे कैसा उपदेश देना चाहिए इस बात का विचार करना भी आवश्यक है। अजाणिया श्रोताओ के सामने गम्भीर ज्ञानचर्चा की जाए तो वे उसे कैसे समझ सकते हैं? अतएव अज्ञ लोगो को ऐसी सरल शिक्षा देनी चाहिए कि बालक भी उसे समझ जाय। जानकार श्रोताओ के समक्ष तत्त्वज्ञान की चर्चा की जाय तो वे तर्क और युक्ति द्वारा निर्णय कर सकते हैं, किन्तु अज्ञ श्रोता उसे नही समझ सकते और इस कारण गडबड मे पड जाते हैं।

अज्ञ परिषद् के सामने ऐसा चरित्रचित्रण नहीं करना चाहिए कि जिसमे उनका चरित्र नष्ट हो जाय या उनके गृहस्थ जीवन मे किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो जाय।

साधु का उपदेश सुन कर यदि कोई महिला कहने लगे, 'अब मैं चूल्हा नहीं सुलगाऊगी, चक्की नहीं चलाऊगी, बच्चे को दूध नहीं पिलाऊगी और घर–गृहस्थी का कोई भी काम नहीं करुगी, क्योंकि इन सब कामों में पाप है। तो उस महिला का कथन सुनकर आप लोग क्या कहेगे? आप यही कहेंगे– महाराज आप का उपदेश सुन कर हमारी गृहणी बिगड गई।'

इस महिला से कहा जाय कि तुझे काम नहीं करना है तो दीक्षा लेले। तब वह कहती है–नहीं, मुझे दीक्षा नहीं लेनी है, परन्तु मैं घर का काम नही करुगी। ऐसी महिला से यही कहा जा सकता है कि तू सर्वप्रथम स्थूल हिसा का त्याग कर तथा क्रोध, कलह आदि का त्याग कर। तू स्थूल हिसा का त्याग करेगी तो भी तुझे धर्म ही होगा। घर मे शाति से रहेगी, क्लेश–तकरार नही करेगी तो तेरे घर के लोग कहेगे कि 'महाराज, आपका उपदेश सुनकर वह सुधर गई।' इस प्रकार के व्यवहार से ही साधुओ को प्रशसा भी मिल सकती है और बदनामी भी मिल सकती है।

कहने का आशय यह है कि अजाणिया श्रोता के सामने ऐसा उपदेश देना उचित नहीं कि जिसे वह समझ न सके और उलटा गडगड मे पड जाय। बालको और स्त्रियो के दिमाग मे ऐसी बाते नही घुसेडनी चाहिए, जिनसे उनमे और अधिक खराबी आ जाय या वे भयमुक्त बनने के बदले और ज्यादा भयग्रस्त हो जाए। बालको और स्त्रियो के समक्ष भूत–चुडैल की बात की जाय तो वे विश्वास करने लगेगे कि वास्तव मे भूत–चुडैल होते है, क्योकि दिन मे शास्त्र मे भी उनकी बात चली थी। इस प्रकार भूत–चुडेल की बाते करने से बालको ओर स्त्रियो के हृदय मे अधिक भय उत्पन्न हो उठता है। उन्हे तो निर्भय बनाने वाली बाते कहनी चाहिए, जेसे नमस्कार मत्र मे चौदह पूर्वो से भी बढकर शक्ति हे। उसका जाप करने से किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता।

गाधीजी लिखते हे कि मेरी धाय माता ने मुझे शिक्षा दी थी कि राम का नाम जपने से भूत आदि का भय नही लगता। इस शिक्षा के कारण मुझे भूत–प्रेत का भय नही लगा। आप विचार कीजिए कि राम का नाम बडा या नमस्कार मत्र बडा? आप कहने को तो कह देगे कि नमस्कार मत्र बडा है, पर ऐसा विश्वास है या नही? किसी साठ वर्ष के वृद्ध को श्मशान मे जाने के लिए कहा जाय तो क्या वह जाने को तैयार होगा? इसके विपरीत, सुना जाता हे कि जापान के पाच वर्ष के बालक के हाथ मे तलवार या बन्दूक देकर श्मशान मे जाने का कहा जाय तो वह बेधडक चला जायगा। हमारे यहा लागा क हृदय मे भय घुसा हुआ हे। अतएव उन्हे ऐसी शिक्षा नहीं देनी चाहिए

कि जिससे भय की वृद्धि हो, उन्हे तो भय दूर करने की ही शिक्षा देनी चाहिए।

इस युग मे जाणिया–परिषद् कम और अजाणिया–परिषद् ज्यादा है। अतएव हमे उपदेश देने मे सावधानी बरतनी चाहिए।

कदाचित् कहा जाय कि अमुक बाई का अमुक काम देवी के पास जाने से पूरा हो गया, किन्तु देवी मे शक्ति है तो क्या नमस्कार मत्र मे शक्ति नही है? नमस्कार मत्र की शक्ति के विषय मे कहा गया है –

कृष्ण भुजग को घाल्यो दे घट मे, दियो मारण को हार।
नाग पीठ भई फूल की माला, मन्त्र जप्यो नवकार।।

नमस्कार मत्र की अलौकिक शक्ति के विषय मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। कहा जा सकता है कि ये उदाहरण पुराने है और नवीन उदाहरण इसके विरुद्ध मिलते है। परन्तु इस विषय मे मै अपने अनुभव की बात बतलाता हू। बचपन मे मैं भूत–प्रेत से बहुत डरता था, परन्तु जब से मुझ मे यह दृढता आई कि णमोकारमत्र से भूत भाग जाते हैं, तभी से मेरा यह भय दूर हो गया। इसी प्रकार आप भी णमोकारमत्र पर दृढ विश्वास रखो तो भूत–प्रेत का कोई भय रह ही नही सकता।

इस विषय मे साध्वियो पर अधिक उत्तरदायित्व है, क्योकि महिलाओ का आना–जाना उन्ही के पास अधिक होता है। स्त्रियो मे ऐसी भावना नही होनी चाहिये ओर उन्हे ऐसी शिक्षा नही मिलनी चाहिये कि आज काली चोदस है, अतएव इस मत्र का जाप करने से ऐसा होगा अथवा अमुक मत्र का जाप करने से यह काम बन जाएगा।

कुछ लोग साधु होकर भी इस प्रकार की शिक्षा देते है। इसी कारण अनाथ मुनि कहते है– राजन्! तुम महानिर्ग्रंथ के मार्ग पर चलो। महानिर्ग्रंथो के मार्ग पर एक तो श्रद्धारूप से चला जा सकता है और दूसरे स्पर्शनारूप से चला जा सकता हे। स्पर्शनारूप से न चला जाय तो बात अलग हे, परन्तु जो श्रद्धारूप से भी नही चलता, उसका पतन हो जाता है। क्या आपने किसी निर्ग्रंथ को मत्र–तत्र बतलाते देखा है? सच्चे निर्ग्रंथ कभी मत्र–तत्र के चक्कर मे नही पडते। ऐसी किसी स्थिति मे मत्र–तत्र मे पडना कुशीलो के मार्ग पर चलना है, इस तथ्य को ध्यान मे रखकर कुशीलो के मार्ग पर न चलो और निर्ग्रंथ के मार्ग पर चलो। इसी मे आपका कल्याण है।

महानिर्ग्रंथो के मार्ग पर चले बिना सच्ची शाति नही प्राप्त हो सकती। सच्ची शाति प्राप्त करने के लिए आपको विवेक या भेदविज्ञान प्राप्त

करना चाहिए। सोचना चाहिए कि आप शरीर के हैं या शरीर आपका है? अगर आप मानते हैं कि शरीर हमारा नहीं और हम शरीर के नहीं, तब तो ठीक ही है, किन्तु यदि यह मानते हो कि शरीर हमारा हे ओर हम शरीर के नहीं हैं, तो भी काम चल सकता है। ऐसी दशा मे यह नही होना चाहिए कि शरीर के रोगी होने से आप अपने को रोगी समझे और शरीर के स्वस्थ होने से अपने को स्वस्थ समझले। अगर अपने शरीर की रुग्णता मे और स्वस्थता मे अपने को रुग्ण ओर स्वस्थ समझा तो आप शरीर के हुए या शरीर आपका हुआ ?

अनाथ मुनि कहते हैं– जब तक मैं शरीर को अपना मान रहा था, तब तक दु ख भोग रहा था, परन्तु जब मुझे शरीर एव आत्मा के पार्थक्य की प्रतीति हुई और मैं समझने लगा कि में शरीर नही, वरन् शरीर मेरा है, तब शरीर के सारे रोग चले गये। अगर आप शरीर के अधीन हो जायेगे तो बहुत कष्ट पायेगे। किन्तु शरीर को अपने अधीन कर लोगे तो आपका खाना, पीना, देखना, सुनना आदि सभी–कुछ निराले ही प्रकार का हो जायेगा। फिर कोई भी दु ख नही व्यापेगा। साथ ही इन्द्रियो के अधीन होने के कारण जो नही खाने योग्य खाया जाता हे, नही देखने योग्य देखा जाता हे, न सुनने योग्य सुना जाता हे, वह सब खाना, देखना ओर सुनना बन्द हो जायगा। उदाहरणार्थ– नाटक या सिनेमा देखने योग्य नही हैं। सिनेमा देखने वाला न घर का रहता हे, न घाट का। उसकी स्त्री सिनेमा की नटी के समान तो नही होती, अतएव उसे वह राक्षसी जेसी दिखाई देने लगती हे ओर सिनेमा की नटी उसे मिलती नही हे। इस प्रकार वह किधर का भी नही रहता। इस प्रकार शरीर के अधीन हो जाने से अदर्शनीय भी देखा जाता हे, पर जो शरीर को अपने वश मे कर लेता हे, उसकी स्थिति ऐसी नही होती।

अनाथ मुनि कहते हें– राजन्! जो साधु होकर भी शरीर का गुलाम बन जाता हे, वह अनाथ हे, वह कुशील हे। हे राजन्! तुम कुशीलो के मार्ग को छोडकर महानिर्ग्रंथो के मार्ग पर चलो। मत समझो कि तुम्हे जो शिक्षा दी गई हे वह साधुओ के लिए ही हितकारी है। तुम इस शिक्षा को अपने कल्याण के लिए भी मानो ओर कुशीलो के मार्ग को त्याग दो। इसी मे तुम्हारा हित ह।

कोई कुशीला का त्याग दे पर कुशीलो के मार्ग का न त्यागे तो इससे कोई लाभ नही होता। लाभ तो उनके मार्ग को त्याग देने से ही हो सकता ह। जो वस्तु जिस काम के लिए मिली ह उसका विपरीत कार्य मे उपयोग करना कुशीलो का मार्ग है ओर ऐसा करनेवाला कुशील कहलाता है।

उदाहरणार्थ– वस्त्र लज्जा–निवारण के लिए पहने जाते है, किन्तु वस्त्र धारण करके अगर दूसरो की लाज लूटी गई तो वह कुशीलपन है। पृथ्वी सब को आधार देती है, किन्तु जो पृथ्वी का आधार लेकर दूसरो को निराधार बनाता है, वह कुशील है। जो भोजन–पानी तुम्हारी भूख–प्यास मिटाता है, वही भोजन–पानी खा–पीकर दूसरो को भोजन–पानी से वचित रखना, दूसरो का भोजन–पानी छीन लेना कुशीलपन है। इस प्रकार जो वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली है, उसका दुरुपयोग करना कुशीलता है। इसी प्रकार जिस वेष को इन्द्र भी नमस्कार करता है और जो वेष सयम का पालन करने के लिए है, उसी वेश को धारण करके विपरीत कार्य करना कुशील का लक्षण है।

अनाथ मुनि कहते हैं– कुशीलो का तो त्याग करना ही चाहिए, साथ ही उनके मार्ग का भी त्याग करना चाहिए, अर्थात् जिस कारण वे कुशील कहलाते है, उस कारण का भी त्याग करना चाहिए। उन अवगुणो का भी त्याग करना चाहिये। यद्यपि साधु और गृहस्थ– दोनो के मार्ग पृथक्–पृथक् है, तथापि गृहस्थो मे जो कुशील का मार्ग हो, उसे गृहस्थो को त्यागना चाहिए और साधुओ मे जो कुशील का मार्ग हो उसे साधुओ को त्यागना चाहिए। राजन्! अगर तुम कुशीलो के मार्ग का त्याग न करोगे तो कुशीलो के प्रति धृणा भी न कर सकोगे और उनकी सगति भी न छोड सकोगे।

मुनि फिर कहते है– मगदेश! तुम राजा हो। प्रजा की रक्षा के लिए तुम राजा हुए हो। राजा होकर जो गरीबो के धन–प्राण का अपहरण करता है और गरीब प्रजा को दु ख देता है, वह कुशील है। कुशील राजा गरीब प्रजा की रक्षा से विमुख होकर उसका धन हरण कर लेता है। जो प्रजाजन उसे राजा मानते हैं और नमन करते हैं, उनकी रक्षा का भार उस राजा के कधो पर है। परन्तु जो राजा अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह नही करता, वह कुशीलो के मार्ग पर है, ऐसा समझना चाहिए।

भवभूति कवि ने राम के मुख से कहलाया है– 'हे लक्ष्मण! मैं नाम का ही राजा नहीं हू, सच्चा राजा हू। मेरे ऊपर प्रजा की रक्षा का भार है। अतएव प्रजा के हित के लिए अगर तेरे जैसे भाई का भी त्याग करना पडे तो मैं कर सकता हू।'

ऐसे राजा को कौन न चाहेगा? ऐसा राजा हो तो स्वराज्य का प्रश्न ही उपस्थित क्यो होता? किन्तु राजा लोग अपने उत्तरदायित्व को भूल गये और कुशीलो के मार्गगामी हो गये, तब स्वराज्य की माग हुई और काले झडे दिखला कर उन्हे धिक्कार दिया गया।

यह तो राजाओ की बात हुई। आप अपने विषय मे भी विचार करो कि आपके लिए कौनसी कुशीलो का मार्ग त्याज्य है? आपने विवाह के समय क्या प्रतिज्ञा की थी और इस समय किस मार्ग पर चल रहे हो? क्या तुम पिता के साथ योग्य पुत्र सरीखा, माता के साथ योग्य सन्तान जैसा, भाई–बहिन के साथ योग्य भाई जैसा, पत्नी के साथ योग्य पति और नौकर के साथ योग्य स्वामी जैसा व्यवहार रखते हो? अगर नही रखते तो क्या कुशीलो के मार्ग पर नही जा रहे हो? आप धनवान बने हैं, परन्तु जिन गरीबो के धन से धनवान् बने हो, उन गरीबो का ध्यान रखते हो? कलम–दवात की पूजा किसलिए करते हो? उनकी पूजा करके भी अगर उनका दुरुपयोग किया तो क्या यह कुशीलो के मार्ग पर चलना नही है? आप भारतीय है, इसी भारत मे जन्मे हैं, यही पले हैं और यही के परमाणुओ से आपका शरीर बना है, फिर भी अगर आप यहा के खान–पान और रहन–सहन को पसन्द नही करते और विदेशी भोजन–पान एव वस्त्रभूषा को अपनाकर भारत को कलकित करते हैं तो क्या यह कुशीलो के मार्ग पर जाने जैसा काम नही?

आप कहते हैं कि महानिर्ग्रंथ के भक्त हैं, किन्तु जो महानिर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के सच्चे शिष्य होगे, वे कुशीलो के मार्ग पर नही चलेगे और भगवान् के ही मार्ग पर चलेगे।

चरित्तमायार गुणन्निए तओ, अणुत्तर सजय पालिया ण।
निरासए सखवियाण कम्म, उवेइ ठाण विउतुत्तम धुव ।।52।।

अर्थ– जो कुशीलो के मार्ग का त्याग करेगे व चारित्र के आचार – गुणो से युक्त होकर अनुत्तर–यथाख्यात सयम का पालन करेगे और निरास्रव (या निराशय– निष्काम) होकर, कर्मों का क्षय करके उत्तम एव ध्रुव स्थान – मोक्ष को प्राप्त करेगे।

व्याख्यान – देखना है कि चारित्र, आचार और गुण किसे कहना चाहिए? जो वस्तु जिस आचार का पालन करने से ही प्राप्त हो सकती है, उसी का पालन करने से वह प्राप्त होगी। चारित्र की प्राप्ति पाच प्रकार के आचार के पालन से ही हो सकती है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार, वीर्याचार। ये पाच आचार हैं। इन पाचो का यथावत् पालन करने से ही अनुत्तर चारित्र का पालन होता है। जिसका आचरण किया जाय जिसे अमल मे लाया जाय, वह आचार कहलाता है। जैसे ज्ञान को व्यवहार मे लाना, अर्थात ज्ञान के अनुसार ही आचरण करना ज्ञानाचार कहलाता है। ज्ञान थोडा ही क्यो न हो किन्तु उसके अनुसार व्यवहार करने वाला ज्ञानाचार का

आराधक कहलाता है। इसके विपरीत जिसमे ज्ञान की मात्रा तो विपुल है, किन्तु जो उसे व्यवहार मे नही लाता, भगवान् उसे आराधक नही, विराधक कहते है।

श्रीभगवती सूत्र मे भगवान् ने तीन प्रकार की आराधना बतलाई है– ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना। इस आराधना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। स्वल्प ज्ञानवान् भी अगर ज्ञान के अनुसार व्यवहार करता है, ज्ञान का बहुमान करता है तो वह ज्ञान का आराधक है। परन्तु उत्कृष्ट ज्ञान होते हुए भी जो ज्ञानानुसार ज्ञान का बहुमान नही करता, वह विराधक है।

चारित्र मे ज्ञान और दर्शन, दोनो का समावेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो चारित्राचार मे सहायता पहुचाने वाले ज्ञान आदि गुणो के साथ उत्कृष्ट सयम का पालन करता है, वही कुशीलो के मार्ग से अलग रहता है, वही महानिर्ग्रंथो के महामार्ग पर चल सकता है और वही विपुल, उत्तम और ध्रुव स्थान– मोक्ष को पा सकता है। यही चारित्र का फल है। भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है –

प्रश्न–सजमेण अज्जो! कि फलं?

अर्थात् हे आर्य, सयम का क्या फल है?

प्रश्न–तवेण अज्जो! कि फलं?

अर्थात् आर्य, तप का क्या फल है?

उत्तर–सजमेण अज्जो अनासवफल, तवेण अज्जो वोदानफल।

अर्थात् हे आर्य! सयम का फल अनास्रव है और तप का फल पूर्वकर्मों को नष्ट करना है।

जब सयम के द्वारा नवीन कर्मों का बध रोक दिया जाता है और तप द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट कर दिया जाता है, तब मोक्ष के सिवाय और क्या हो सकता है? इस स्थिति मे मोक्ष ही मिलता है। भगवान् ने यही मार्ग बतलाया है। इस कथन के अनुसार सयम से मोक्ष ही मिलना चाहिए, किन्तु साधु स्वर्ग मे भी जाते हैं। इसका क्या कारण है? पहले के श्रावको ने स्थविरो के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया। स्थविरो ने इस प्रश्न पर खूब विचार किया है, और किसी ने कुछ तथा किसी ने कुछ उत्तर दिया है, किन्तु सबका सार यही है कि सयम मे उत्कृष्ट पराक्रम करने का फल तो मोक्ष ही है, किन्तु जब यह नही होता तब साधु स्वर्ग– देवभूमि मे विश्राम करके मोक्ष जाते हैं।

कल्पना करो– दो आदमी मुम्बई के लिए रवाना हुए। एक के पास चुस्त घोडा है और दूसरे के पास वैसा नहीं है? पहला यात्री मार्ग मे रुके बिना सीधा मुम्बई पहुच गया और दूसरा रास्ते मे ठहरता–ठहरता मुम्बई पहुचा, उसे मार्ग मे विश्राम लेना पडा। शक्ति न होने पर रास्ते मे विश्राम लेना ही पडता है, फिर भी है तो वह मुम्बई का ही यात्री।

इसी प्रकार भगवान् का मार्ग मुक्ति का सीधा मार्ग है और उपदेश भी मुक्ति का ही है। उन्होने स्वर्ग के लिए उपदेश नही दिया। फिर भी कई साधु सीधे मोक्ष मे न जाकर इसलिये स्वर्ग मे जाते हैं, क्योकि उनमे सरागता रह जाती है, पूर्ण वीतरागता नही आ पाती। उस सराग अवस्था मे शुभ योग होता है और उसके निमित्त से शुभ बध होता है। इस प्रकार सयमपालन के फलस्वरूप नही, किन्तु राग रह जाने के कारण वे स्वर्ग मे जाते हैं। फिर भी वह राग अवनतिकारक नही, वरन् उन्नतिकारक ही होता है।

साधन मे अन्तर होने से साध्य (फल) मे भी अतर पड जाता है। पातज्जल योगदर्शन मे कहा है कि वीतराग का ध्यान करने से योग की सिद्धि होती है। किन्तु सब लोगो मे ऐसा करने की क्षमता नही होती, अतएव वीतराग के ध्यान के भी भेदोपभेद किये गये हैं, जैसे कि जैन शास्त्र मे चारित्र के आराधना आदि के 81 भेद किये गये हैं। जो जिस भेद से साधन का उपयोग करता है, उसकी सिद्धि मे भी उसी प्रकार का अन्तर पड जाता है।

अनाथ मुनि कहते है–राजन! जब आत्मा कुशीलो का मार्ग त्याग कर उत्कृष्ट सयम का पालन करता है, तब उसमे तनिक भी आस्रव नही रह जाता। ईर्यापथिका क्रिया भी तेरहवे गुणस्थान तक ही रहती है। चौदहवे गुणस्थान मे पहुचने पर वह भी छूट जाती है, तब आत्मा अत्युत्तम (विपुल, उत्तम) और ध्रुव स्थान– मुक्ति प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है।

मुक्ति विपुल, उत्तम और ध्रुव कही गई है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुक्ति का क्षेत्र 45 लाख योजन का अनादिकाल से है और यह ससार अनादिकाल से है। कहा जा सकता है कि ससार पहले या सिद्धि पहले है? जो सिद्ध हुए हैं, ससार मे से ही मुक्त हुए हैं। अतएव पहले ससार और बाद मे मुक्ति होनी चाहिए, परन्तु नही, शास्त्र कहता है कि ससार और मोक्ष दोनो अनादिकालीन है। इनमे आगे–पीछे का कोई क्रम नही है।

कहना यह है कि मुक्ति का स्थान 45 लाख योजन का ही है और अनत जीव उसमे जा चुके है, जा रहे हैं और जाएगे। फिर भी वह स्थान छोटा नही पडता। क्यो वह छोटा नही पडता, उसके लिए एक उदाहरण लो। किसी मकान मे एक दीपक का प्रकाश फैला है। बाद मे उसी मकान मे दस, पचास या हजारो दीपको का प्रकाश किया जाय तो क्या उन दीपको के प्रकाश को जगह की कमी पडेगी? नहीं, सूर्य के प्रकाश को भी उसमे स्थान की कमी नही पड सकती। यही बात मुक्ति स्थान के विषय मे समझी जा सकती है। मुक्ति स्थान यद्यपि 45 लाख योजन परिमित ही है, तथापि उसमे कितने ही मुक्त जीव क्यो न चले जाए, स्थान की कोताही नही हो सकती। इसी कारण यह स्थान विपुल कहा गया है।

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से कहा– राजन्! कुशीलो के मार्ग का त्याग करके तू महानिर्ग्रंथो के मार्ग पर चल। पर प्रश्न यह है कि राजा साधु नही था और हो भी नही रहा था, फिर मुनि ने उसे ऐसा क्यो कहा? उसे ऐसा उपदेश देने से क्या लाभ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह उपदेश अगर साधुओ के ही लिए हितकर होता और गृहस्थो के लिए हितकर न होता तो मुनि, राजा को हर्गिज यह उपदेश न देते। यह उपदेश तो साधुओ और गृहस्थो को समान रूप से उपयोगी है। जो मोक्ष का इच्छुक है, वह मोक्ष की साधना चाहे थोडी मात्रा मे ही करे, परन्तु होनी चाहिए वह सही दिशा मे। उसका साधन ठीक होना चाहिए, उलटा नही। जैसे सीधा पकडा हुआ शस्त्र स्वरक्षा का साधन बन सकता है, किन्तु उसी शस्त्र को अगर उलटा पकड लिया जाय तो वह स्वघातक बन जाता है। इसी प्रकार मोक्ष की साधना के लिए चाहे थोडा पराक्रम किया जाय, परन्तु वह विपरीत नही होना चाहिए, भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही होना चाहिए। ऐसा होने पर आज वह जिस स्थिति पर है, उससे आगे बढ सकेगा, पीछे नही हटेगा। अतएव आपको भी सोचना चाहिए कि हम कुशीलो के मार्ग पर न चलेगे तो हमारा गृहस्थाश्रम बिगडेगा नही, वरन् सुधर जाएगा।

कुछ लोग कहते है– अगर हम कुशीलो का मार्ग त्याग देगे तो हमे भूखा मरना पडेगा। हम गृहस्थ हैं और इस जमाने मे चालबाजी किये बिना पेट भरना भी कठिन है! सीधे पेड को लोग काट डालते हैं, पर बाके को कोई नही काटता। ऐसी स्थिति मे कुशीलो के मार्ग को कैसे त्यागा जा सकता है? कहावत है –

रोटी खाना शक्कर से, दुनिया ठगना मक्कर से।

यह छल–कपट का युग है ओर छल–कपट किये विना भरणपोषण भी नही हो सकता।

इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है– अगर तुम लोग विवेक को तिलाजलि न दे दो तो इस प्रकार का विचार ही नही आ सकता। अदृश्य शक्ति पर श्रद्धा रखो ओर धर्म के वल को स्वीकार करो तो यह प्रश्न ही उपस्थित न हो। आखिर तो ससार का काम सरलता एव सचाई से ही चल सकता है। उदाहरणार्थ– पाच ओर पाच दस होते हैं। पर कोई कहे कि इस जमाने मे सचाई से काम नहीं चल सकता, अतएव पाच ओर पाच दस न वतला कर ग्यारह वतलाने चाहिए। क्या ऐसा करना आप ठीक कहेगे? क्या पाठशालाओ मे ऐसी शिक्षा दी जाती है? भाई, ससार का व्यवहार सच्चे गणित से ही चलता है, झूठे गणित से नहीं। ज्योतिष के गणित मे थोडी–सी भूल हो जाय तो सारा फलादेश ही मिथ्या हो जाता है। ससार मे भले असत्य का प्रयोग होता हो, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ससार का काम असत्य गणित या असत्य काम से ही चलता है। इसी प्रकार यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है कि ससार का काम कुशीलो के मार्ग पर चलने से ही चल सकता है। आज आप सत्य और सरलता के व्यवहार मे भले कष्ट मानते हो, पर याद रखो, सत्य और सरलता के व्यवहार से आत्मा को कदापि हानि नही होती। यही नही, सचाई तो यह है कि सत्य और सरलता के व्यवहार से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

राजा श्रेणिक साधु नहीं था, परन्तु मुक्ति का अभिलाषी तो था ही। आत्मा को मुक्तिधाम मे पहुचे बिना शाति नही मिल सकती। अतएव सब को मुक्ति की ही अभिलाषा रखनी चाहिए। इस भव मे मुक्त न हो सकोगे तो भी अगर मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न चालू रहा ओर मुक्ति की ही ओर गति रही तो परभव मे वह मिलेगी ही। शास्त्र मे कहा है–

कडमाणे कडे, चलमाणे चलिए।

अर्थात् जिस कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया हे, उसे पूरा हुआ ही समझो। जिसने चलना आरम्भ कर दिया, उसे पहुचा हुआ समझो।

मान लीजिए, एक आदमी मुम्वई पहुच गया हे ओर दूसरा वहा पहुचने के लिए रवाना हुआ हे। जो रवाना हुआ है, उसके लिए मुम्वई अभी दूर हे। फिर भी उन दोनो के विषय मे पूछने पर यही उत्तर दिया जाता हे कि वे मुम्वई गये हैं।

शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन प्रकाश कम होता है और कृष्ण पक्ष की द्वितीया के दिन ज्यादा। फिर भी एक को शुक्ल पक्ष और दूसरे को कृष्ण पक्ष इस कारण कहते हैं कि एक मे प्रकाश की वृद्धि हो रही है, वह प्रकाश के सम्मुख है, दूसरा यद्यपि अधिक प्रकाशयुक्त है, तथापि उसका प्रकाश क्षयोन्मुख है, उसमे न्यूनता आ रही है।

अनाथ मुनि इसी बात को दृष्टि मे रखकर कहते हैं– भले एक ही डग रखो, मगर रखो महानिर्ग्रंथ के मार्ग पर ही। ऐसा करने पर तुम्हारे विषय मे यही कहा जायगा कि तुम मुक्ति के मार्ग पर ही चल रहे हो।

इस प्रकार अनाथ मुनि ने यद्यपि यह बात सभी के लिए कही है, तथापि गृहस्थो की अपेक्षा हम साधुओ पर इस बात की अधिक जिम्मेवारी है। हमने धर्म के लिए ही सिर मुडाया है और तुम्हारा और हमारा जो सबध है, वह धर्म के कारण ही है। फिर भी किन्ही–किन्ही साधुओ और गृहस्थो का सबध ससार के लिए बन जाता है। अत इस विषय मे साधुओ को विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है।

अनाथ मुनि ने जो कुछ कहा है, उसका सार यही है कि ज्ञान और क्रिया, दोनो को जीवन मे उतारना चाहिए। कुछ लोग सिर्फ ज्ञान को और कुछ लोग सिर्फ क्रिया को मानते हैं, किन्तु जैन शास्त्र ज्ञान और क्रिया– दोनो के समन्वय की आवश्यकता पर बल देते हैं। दोनो के समन्वय से ही कल्याण हो सकता है। ज्ञानशून्य क्रिया अन्धी है और क्रियाशून्य ज्ञान पगु है, पगु देख सकता है, चल नहीं सकता और अन्धा चल सकता है, देख नहीं सकता। दोनो एक–दूसरे की सहायता से काम करे तो दोनो यथेष्ट स्थान पर पहुच सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए।

मान लीजिए, किसी सघ ने जगल मे पडाव डाला। उस सघ मे एक अन्धा और एक पगु था। रात्रि के समय सघ के दूसरे लोग तो उठकर चले गये, अन्धा और पगु दोनो रह गये। जगल भयानक था और उन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई आदमी वहा नही था। सवेरे उठकर पगु ने देखा, सब लोग चल दिये हैं और हम दो ही यहा रह गये हैं। उसने अन्धे को सारी परिस्थिति कह सुनाई और पूछा अब क्या करना चाहिये? अगर हम यही रह गये तो जगली जानवर फाडकर खा जाएगे। साथी लोग जिस मार्ग से गये हैं, उसे मैं देख तो सकता हू, परन्तु चल नहीं सकता। तब अन्धे ने कहा– भाई, मैं चल सकता हू, किन्तु देख नही सकता।

ऐसे अवसर पर अगर दोनो सहयोग न करे तो वही रह जाए और जगली जानवरो के शिकार हो जाए। अतएव दोनो ने मिलकर विचार किया– हम मे से एक मे चलने की शक्ति है और एक मे देखने की। इन दोनो शक्तियो का समन्वय करके हमे जगल से बाहर निकल जाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर अधे ने लगडे को अपने कधे पर बिठा लिया और लगडा उसे मार्ग बतलाने लगा। दोनो को एक ही जगह जाना था, अतएव दोनो अपनी–अपनी शक्ति का समन्वय करके यथेष्ट जगह जा पहुचे।

ज्ञान और क्रिया के विषय मे भी यही बात है। कोई कहता है– ज्ञान हो तो क्रिया की क्या आवश्यकता है? और कोई कहता है बडबड करने और ज्ञान प्राप्त करने से क्या लाभ है? हमे तो क्रिया ही करनी चाहिए। यद्यपि लक्ष्य दोनो का एक ही है–आत्मा का कल्याण करना, किन्तु दोनो मे मेल न होने से–केवल एक शक्ति होने के कारण, दोनो मे से एक भी अपने लक्ष्य तक नही पहुच सकता। लक्ष्य की प्राप्ति तो दोनो के समन्वय से ही हो सकती है। शास्त्र कहता है–क्रिया का निषेध करने वाला ज्ञान, ज्ञान नही अज्ञान है, और बिना ज्ञान के की जाने वाली क्रिया भी निरर्थक है। लाभ तो तभी हो सकता है जब ज्ञान के साथ क्रिया की जाय।

व्यवहार मे भी ज्ञान और क्रिया– दोनो की आवश्यकता होती है। किसी को स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो वह अकेले ज्ञान या अकेली क्रिया से प्राप्त न होगी, दोनो के समन्वय से ही प्राप्त हो सकेगी। किसी को कडकडाती भूख लगी है और भोजन करना है, परन्तु भोजन के ज्ञान और क्रिया के बिना भूख कैसे मिट सकती है? ज्ञानपूर्वक भोजन करने से ही भूख मिट सकती है? भोजन मुख से ही किया जा सकता है, कान से नही, यह ज्ञान होने पर ही भोजन किया जा सकता है।

मुह से भोजन किया जाता है, यह ज्ञान तो आप सब को है, किन्तु यह ज्ञान भी होना चाहिए कि किया जाने वाला भोजन पथ्य है या अपथ्य है? अपथ्य भोजन करने वाले परिणाम मे रोगी और दु खी होते हैं। इस प्रकार व्यवहार मे भी ज्ञान और क्रिया दोनो की आवश्यकता है। एक से काम नही चल सकता। ज्ञान के अभाव मे की जाने वाली क्रिया हानिकारक सिद्ध होती है, साथ ही क्रियाहीन ज्ञान तोता–रटन्त मात्र होता है। एक आदमी ने तोते को सिखलाया कि 'बिल्ली से बचना चाहिए।' एक बार बिल्ली आई। तोता यही रटता रहा– 'बिल्ली से बचना चाहिये।' उसने बचाव के लिए कोई प्रयत्न नही किया। लोगो ने उससे कहा– मूर्ख तोते! तेरा यह उपदेश किस समय

काम आयेगा? बिल्ली ने तोते को धर दबोचा, पर तोता अन्त तक वही पाठ रटता रहा। इस प्रकार तोता यह तो जानता था कि बिल्ली से बचना चाहिए परन्तु उसका ज्ञान सक्रिय न होने से कुछ भी काम न आया। वह निष्फल हुआ।

आज की शिक्षा भी तोता–रटन्त जैसी ही है। जिस वस्तु पर अपना अधिकार नही, उसे अपनी मानना और जिस वस्तु को स्वय नही बना सकते, उसे प्राप्त करके अभिमान करना और जीवन को परतत्र बना लेना, तोता–रटन्त के समान ज्ञान का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए आप जो पगडी पहनते है, उसको बनाने मे आपने क्या किया है? आपने बुनी या रगी है? आप जो धोती पहनते हैं, कभी आपने वह बनाई भी है? नही बनाई तो उसे पहन कर कैसे अभिमान कर सकते हो?

आज सुना, अब एक ऐसी मशीन ईजाद हुई है जो एक हाथ लबा करने से कोट की एक बाह पहना देती है और दूसरा हाथ लम्बा करने से दूसरी बाह। इस प्रकार मशीन कोट पहना देती है। मान लीजिए कि इसी प्रकार धोती पहनाने वाली मशीन का भी आविष्कार हो सकता है। लेकिन इस स्थिति मे आप स्वतत्र बने अथवा परतत्र? आप अपनी लज्जा रखने मे भी परतत्र तो नही हो गये? मशीन धोती पहना दे तो आप अपने हाथ से पहनने का कष्ट क्यो करेगे? लेकिन कभी बाजार मे धोती खुल जाय तो क्या करोगे? इस प्रकार जिस वस्तु के कारण तुम परतत्र हो, उसे पाकर अभिमान क्यो करते हो? इस मिथ्या अभिमान के कारण ही लोग पराधीन और पतित बने हैं।

शास्त्र बतलाता है कि श्रेणिक राजा के पुत्र ने और पालित श्रावक के पुत्र ने 72 कलाओ की शिक्षा प्राप्त की थी। आप कह सकते हैं कि श्रेणिक के पुत्र ने राज्य करने के लिए 72 कलाए सीखी होगी, परन्तु पालित श्रावक के पुत्र को कौन–सा राज्य करना था? फिर उसे क्यो 72 कलाए सिखलाई गई? पालित श्रावक था और निर्ग्रंथ–प्रवचन का ज्ञाता था। फिर भी उसने अपने पुत्र को राजकुमार की तरह 72 कलाए सिखलाई थी। मेरे विचार से इसका प्रयोजन यही हो सकता है कि जीवन को परतत्र न बना कर स्वतत्र बनाना चाहिए। परतन्त्रता से जीवन दु खमय बनता है, जीवन का सुख स्वाधीनता मे ही है। कौन–सी ऐसी जीवनोपयोगी वस्तु है, जिसका 72 कलाओ मे समावेश न हो जाता हो? घर, वस्त्र, भोजन आदि सभी कार्य 72 कलाओ के अन्तर्गत हो जाते हैं। आज इन सब वस्तुओ का उपयोग तो किया

जाता है, पर इन्हे बनाया कैसे जाता है, इस बात का ज्ञान नही प्राप्त किया जाता। इसी से जीवन परतन्त्र बन रहा है। परतन्त्र होकर भी लोग अभिमान करते हैं और इस अभिमान की बदौलत ही लोग पतित हो रहे हैं।

कहा जा सकता है कि हम पुण्यपान् हैं, पुण्योपार्जन करके आये हैं, अतएव तैयार वस्तुए खाते हैं, पहनते हैं और आनन्द करते हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि पराधीन लोग पुण्यवान् हैं या जो पराधीन नहीं, स्वाधीन हैं, वे पुण्यवान् हैं ? पुण्य क्या पराधीन बनाने वाला है? वास्तव मे पराधीनता भुगतना और अपने आपको पुण्यवान् समझ कर अभिमान करना भूल है।

आज लोग सम्यग्ज्ञान की बाते तो करते हैं, मगर यह नहीं देखते कि वे सम्यग्ज्ञान से किस प्रकार दूर–दूर जा रहे हैं। अपनी अशक्तता के कारण दूसरो से सहायता लेना और फिर सहायता देने वालो को पापी और अपने आपको पुण्यवान् कहना किसी भी दृष्टि से योग्य नही कहा जा सकता। मेरे लिए उचित तो यह है कि अपनी अशक्ति के कारण मुनियो से मैं जो सहायता लेता हू, उसके लिये उन्हे धन्यवाद दू और अपने लिये पश्चात्ताप करू कि मुझमे क्यो यह अशक्तता आ गई? मुझे मुनियो से कहना चाहिये कि आप लोग मुझ जैसे अशक्त की इस प्रकार सेवा करके भगवान् की आज्ञा का पालन कर रहे हैं और भगवान् के निकट पहुच रहे हैं। मैं अपना निज का भी काम करने मे असमर्थ हू, अतएव मुझे अपनी अशक्तता के लिये खेद है।

इस प्रकार अपनी अशक्तता के लिये पश्चात्ताप करना तो उचित है, परन्तु पश्चात्ताप के बदले अभिमान करना और दूसरो को हीन मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

जो लोग पाखाने मे शौच जाते हैं, वे अपने–आप को 'बडा' मानते हैं और अशुचि को साफ करने वालो को 'नीच' समझते हैं। अशुचि की सफाई करने के कारण ही वे नीच कहलाते हैं। किन्तु यदि माता अपने पुत्र की अशुचि साफ न करे और उसे अशुचि मे ही रहने दे तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो! ऐसी स्थिति मे अशुचि साफ करने वालो को नीच कहना और स्वय अशुचि फैलाते हुए भी उच्च बनना कहा तक उचित है? जिनको आप नीच कहते है, वे महत्तर चाहे तो एक ही दिन मे आपको सकट मे डाल सकते हैं। एक दिन यदि वे हडताल कर दे और अशुचि साफ न करे तो कितनी कठिनाई उपस्थित हो जाय? सुना है, उदयपुर मे भगियो को चादी पहनने की मनाही कर दी गई तो उन्होने सफाई करने का काम बन्द कर दिया। आखिर सबको ठिकाने आना पडा और चादी पहनने की छूट देनी पडी।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे क्रिया भी ठीक नही होती। और ज्ञान तथा क्रिया का समन्वय ही सम्यग्ज्ञान है। क्रिया का त्याग करके परतन्त्रता के पाश मे पडना सम्यग्ज्ञान का लक्षण नही है। यह ठीक है कि कोई भी मनुष्य जीवनोपयोगी समस्त पदार्थों को स्वय नही तैयार कर सकता, परन्तु अभिमान तो नही करना चाहिये। अभिमान का त्याग कर देने से भी बहुत लाभ होगा।

एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे, महामुणी महाइन्ने महायसे।
महानियठिस्समिणं महासुय, से कहेइ महया विन्थरेणं ।।53।।

अर्थ– इन्द्रियो का उग्रता से दमन करने वाले, महातपोधनी, महामुनि, महाप्रज्ञावान् और महायशस्वी अनाथ मुनि ने महानिर्ग्रंथ के मार्ग रूपी महाश्रुत को विस्तार के साथ श्रेणिके से कहा।

व्याख्यान – निर्ग्रंथो का कल्याण करने वाले इस महासूत्र– शास्त्र मे तो महापुरुषो ने अपने कल्याण के लिए थोडे मे ही गूथा है, परन्तु गणधर महाराज कहते हैं कि निर्ग्रंथो का कल्याण करने वाली यह महाकथा महामुनि अनाथ ने लम्बे विस्तार के साथ महाराजा श्रेणिक को सुनाई थी।

आप कहेगे यदि यह कथा निर्ग्रंथो का कल्याण करने वाली है तो साधु आपस मे ही क्यो नही कह–सुन लेते? इसे गृहस्थो के सामने कहने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कथा अनाथ मुनि ने निर्ग्रंथो के सामने नही कही, परन्तु राजा श्रेणिक के सामने कही है। इस शास्त्रीय प्रमाण से अनायास ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि इसे गृहस्थो के सामने कहने मे कोई बाधा नही है। इसके अतिरिक्त, जो बात निर्ग्रंथ के लिए हितकारी है, वह गृहस्थो के लिए भी हितकर ही होगी । क्योकि निर्ग्रंथो की और आपकी आत्मा समान है। निर्ग्रंथ जो मुक्ति चाहते हैं, वही मुक्ति आप भी चाहते है। सब के लिए एक ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त जो दवा राजा के रोग को दूर कर देती है, वह गरीब के रोग को क्यो दूर नही करेगी ? जो सूर्य राजा के प्रासाद पर अपनी प्रखर रश्मिया विकीर्ण करता है, वही क्या गरीब की कुटिया पर नही बिखेरता? सूर्य तो राज–प्रासाद और भगी की झौंपडी पर समान रूप से प्रकाश डालता है, फिर उस प्रकाश से जो लाभ उठाना चाहे वह उठा सकता है। इसी प्रकार यह महासूत्र भी सब के लिए समान हितकारी है। कोई पापी इससे लाभ उठाना चाहे तो उसे भी लाभ मिल सकता है ओर निर्ग्रंथ तो चाहे वह भी लाभ उठा सकता है।

यह महाकथा किसने कही थी, यह बतलाने के लिए सूत्रकार कहते हैं– इस कथा को कहने वाले महाउग्र, दान्त, तपोधनी, महाप्रज्ञावान् और महान् यशस्वी मुनि थे।

उग्र का अर्थ है– वीर, वे मुनि वीर थे, पर किसी को मारने मे नही, अपनी इन्द्रियो का दमन करने मे वीर थे, अर्थात् कर्म रूपी शत्रुओ को जीतने मे वीर थे।

कोई वीर पुरुष हाथ मे शस्त्र लेकर शत्रुओ का दमन करने के लिए बाहर निकलता है, तब उससे कोई कहे कि तुम्हारी पत्नी रुदन कर रही है, तुम्हारा बेटा बीमार है, या ऐसी ही कोई बात कहे, तो क्या वीर पुरुप इस प्रकार की बात सुन कर वापिस लौट जाएगा? नहीं, उस समय उसे ऐसी बाते रुची कर नहीं होगी। उसके मन मे तो शत्रुओं का दमन करने की ही एकमात्र धुन होगी। वह कायरता की बाते सुनने के लिए भी तैयार नहीं होगा। सच्चा वीर आडी–टेढी बातो पर ध्यान भी नहीं देगा। उसका सकल्प तो बस यही होगा–

कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि।

अर्थात् या तो कार्य पूरा करू या प्राण दे दू ।

साधु भी ऐसे ही धर्मवीर होते है। वे साधुता अगीकार करके यह विचार नही करते कि कदाचित् साधुता का पालन न हो सका और फिर गृहस्थी मे जाना पडा तो कैसे भरण–पोषण होगा? अतएव मत्र–तत्र सीख लू या ज्योतिष का अभ्यास कर लू, जिससे ससार मे भरण–पोषण तो हो सके। सच्चे साधु कभी ऐसा नही सोचते। वे तो 'जीवियासामरण भय विध मुक्का,' अर्थात् जीवन की अभिलाषा और मृत्यु की भीति से सर्वथा मुक्त होते हैं, वे साधुता मे ही मस्त रहते है और कर्मशत्रुओ को जीतने मे ही प्रयत्नशील होते हैं।

अनाथ मुनि भी उग्र थे। जिसके माता–पिता, भाई–बहिन, पत्नी आदि का स्नेहशील परिवार हो, जिसके पास विपुल धन–सम्पत्ति हो ओर मृत्युशय्या से उठा हो, उसकी क्या इच्छा हो सकती है? ऐसी स्थिति मे किसे भोग भोगने की इच्छा नही होती? कदाचित् साधु बनने का प्रसग उसके सामने उपस्थित हो जाय तो भी एक बार तो यह विचार आ ही सकता है कि जल्दी क्या है, एक–दो वर्ष जरा मौज कर ले, फिर देखा जायगा। साधु तो कभी भी बन सकते हैं। परन्तु अनाथ मुनि ऐसे उग्र थे कि शरीर के रोग शात होते ही उन्होने अपने पारिवारिक जनो से कह दिया– अब मुझे दीक्षा अगीकार करने की आज्ञा दो। और आज्ञा लेकर तत्काल ही वे दीक्षित हो गये। अनाथ मुनि

ऐसे उग्र थे। धन–सम्पत्ति और परिवार का इस प्रकार त्याग कर देना और फिर आख उठाकर भी उस ओर न देखना, क्या साधारण वीरता है?

उग्र साधु का लक्षण क्या है? इसका स्पष्टीकरण करने के लिए बतलाया गया है कि अनाथ मुनि इन्द्रियविजेता थे, पाचो इन्द्रियो को और मन को अपने काबू मे रखने वाले थे। उग्र पुरुष ही इन्द्रियो के वशीभूत नहीं होता। इन्द्रियो को अपने वश मे रखने वाला ही दान्त है। इस प्रकार अनाथ मुनि दान्त थे।

क्षत्रियो को हाथ की उपमा दी गई है। हाथ को ही यह सुविधा प्राप्त है कि वह सम्पूर्ण शरीर का स्पर्श कर सकता है और उसकी सार–सभाल कर सकता है। यह योग्यता हाथ मे ही है। शरीर का पालन करने वाला भी हाथ ही है। कमाई के लिहाज से और खाने–पीने की क्रिया करने के लिहाज से हाथ ही शरीर का पालन करता है। लिखने आदि की क्रियाए भी हाथ से ही की जाती है। हाथ न हो तो सभी का काम ठप्प हो जाएगा। हाथ शरीर के किसी भी भाग से घृणा नही करता। वह मुख को भी साफ करता है और पैरो को भी साफ करता है। इसी प्रकार क्षत्रिय भी सबका पालन करता है और किसी से घृणा नही करता। वह जिस भाव से ब्राह्मणो का पालन करता है, उसी भाव से भगियो का भी पालन करता है। वह सब की देख–रेख रखता है। जैसे हाथ सारे शरीर को अपने वश मे रखता है, उसी प्रकार क्षत्रिय भी सब को अपने वश मे रखता है। क्षत्रियो मे वीरता होती है।

जैसे क्षत्रिय सब का पालन करता हुआ सबको अपने अधीन रखता है उसी प्रकार साधु भी सभी इन्द्रियो का पालन करने के साथ उन इन्द्रियो को अपने अधीन भी रखता है।

अनाथ मुनि इन्द्रियो का दमन करने वाले महातपस्वी थे। इन्द्रियो और कषायो को जीतने के कारण ही वे तपस्वी थे। सच्चा तप कोटि–कोटि भवो के कर्मों को भी भस्मीभूत कर देता है। उपवास करना ही तप नही है। उपवास तो तप का एक अग हैं। भगवान् ने छह बाह्य और छह आभ्यन्तर– इस प्रकार तप के बारह भेद बतलाये है। तप की महिमा को समझ लेने से भी बहुत लाभ होता है। परन्तु आप की दृष्टि मे तप महान् है या ससार की धन–सम्पदा महान् है? आप तप को ही महान् मानते हैं, यह आपके सस्कारो का ही प्रताप है। वास्तव मे तप का धन ही महान् धन है। मान लीजिए, एक धनिक मनुष्य लाखो का जवाहरात ले जा रहा था। रास्ते मे उसे दो मुनष्य मिले। उनमे से एक ससार के धन को ही महान् मानता था और दूसरा तपोधन को। ससार के धन को महान् मानने वाले ने विचार किया– पाप किये बिना

तो धन आता नहीं है। इस आदमी के पास इतना धन है और छुरी का एक घाव करने से ही यह मेरा बन सकता है। फिर क्यो यह अवसर जाने दू? इस प्रकार विचार करके वह जवाहरात ले जाने वाले को मार डालने के लिए तैयार हुआ। यह देख कर तपोधनी मनुष्य ने धनवान् से कहा— सासारिक धन की सगति का ही यह दुष्परिणाम है कि इसकी नीयत विगड गई और यह तुझे मार डालने को तैयार हो गया है। तो जिस धन ने इसकी नीयत विगाडी है, उसका तुम त्याग ही क्यो नहीं कर देते? तपोधनी के इस उपदेश से धनवान् समझ गया। उसने अपने पास का सारा धन मारने को उद्यत हुए धनलोलुप के सामने रख दिया।

धनलोलुप उस जवाहरात वगैरह धन को लेने के लिए तैयार हो गया। तब तपोधनी महात्मा ने उससे कहा— क्या यह धन लेकर अब तुम अमर बन जाओगे? यह धन जब इसके पास था तो तेरी नीयत विगडी। अब तेरे पास है तो किसी दूसरे की नीयत बिगडेगी। धन के प्रति इतनी ममता क्यो रखते हो? तपोधनी के उपदेश ने उसके हृदय पर भी प्रभाव डाला। उसने भी उस धन की ममता का त्याग कर दिया। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार का झगडा रह सकता हे? झगडा तो तभी तक था, जव तक धन को लेने-देने की खींचतान थी। इस प्रकार सासारिक धन की अपेक्षा तपोधन श्रेष्ठ है।

तपोधन श्रेष्ठ है, यह तो ठीक है, किन्तु देखना चाहिए कि तप क्या है? अनशन भी एक तप हे, पर अनशन ही तप नहीं है। फिर भी अनशन का महत्त्व कुछ कम नही है। महाभारत मे कहा है —

तपो नानशनात्परम्।

अर्थात् अनशन— कुछ न खाने से बढ कर दूसरा तप नही। फिर भी अनशन मे ही तप की समाप्ति नहीं। भगवान् ने वारह प्रकार के तप का वर्णन किया है। उनमे पहला अनशन तप है। दूसरा ऊनोदरी, तीसरा भिक्षाचरी (वृत्ति सक्षेप), चौथा रस परित्याग, पाचवा कायक्लेश और छठा प्रतिसलीनता तप है। यह छह प्रकार का बाह्य तप है। सातवा प्रायश्चित्त, आठवा विनय, नौवा वैयावृत्य, दसवा स्वाध्याय, ग्यारहवा ध्यान और बारहवा कायोत्सर्ग, ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

जीवन मे तप की बहुत आवश्यकता है। तप के बिना एक श्वास भी सुखपूर्वक नही लिया जा सकता। पहले अनशन तप की व्यापकता तो इतनी अधिक हे कि अमेरिका के लोग भी कहने लगे हैं कि सब दवाओ मे श्रेष्ठ दवा अनशन है। जिन रोगो को दूर करने के लिए वडे-बडे डाक्टर निराश हो चुके

और भी थोडे–थोडे उपवास आत्मशुद्धि के या

अतएव वे इस श्लोक का अर्थ यह करते हैं कि

उपवास अत्युत्तम उपाय है। जगली घोडे को

तो वह बहुत ऊधम करता है, परन्तु दो–तीन दिन

मे आ जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियरूपी घोडे को

उपवास की आवश्यकता है। विधवा स्त्री और साधु

की सहायता से ही अपने नियमो का पालन करते है।

रखनी चाहिए कि उपवास वासना को नष्ट नही कर सकता

के साथ ही विषयो की वासना को मिटाने का भी प्रयत्न

यद्यपि अनशन तप श्रेष्ठ है, तथापि जोर–जबर्दस्ती

अनशन नहीं कराया जा सकता। तुम उपवास करो और साथ ही

और पशुओ को भी उपवास कराओ– उन्हे खाना न दो–

भक्तपान–विच्छेद नामक अतिचार लगेगा– आप हिसा के भागी होंगे

उप समीपे यो वास उपवास स कीर्त्यते।

अर्थात्– ज्ञान, दर्शन और चारित्र के समीप वासना उपवास है।

किसी को जबर्दस्ती भूखा रखना उपवास नही है। जैन कुल मे तो उपवास

का ऐसा प्रचलन है कि सवत्सरी के दिन नन्हे–नन्हे बालक भी उपवास

करते हैं।

अनशन के पश्चात् अव्योदर्य (ऊनोदरी) तप है। उपवास के विषय मे कुछ मतभेद हो सकता है, किन्तु ऊनोदर्य के विषय में तो मतभेद की कोई गुजाइश ही नहीं है। अल्पाहार की सभी प्रशसा करते हैं और सभी उसमें लाभ मानते हैं। अधिक खाने की इच्छा होने पर भी थोडा खाना ऊनोदर तप कहलाता है।

इस प्रकार छह तप बाह्यशुद्धि के लिये हैं, किन्तु आतरिक शुद्धि के लिए आन्तरिक तप करना चाहिये। आन्तरिक तप से ही क्रोध, मान, माया, लोभ को जीता जा सकता है। अनाथ मुनि ऐसे ही तप के धनी थे, अतएव उन्हे 'तपोधन' कहा है।

राजा श्रेणिक को उपदेश देने वाले मुनि का यहा सक्षेप मे वर्णन किया गया है। हम अनाथ मुनि का वर्णन करे, किन्तु जिन सद्गुणो के कारण उनका वर्णन किया जाता है, उन्हे न अपनाए तो हमारा गुण–वर्णन केवल चारण–भाट जेसे प्रशसात्मक ही रह जाएगा। वीर योद्धा जब सग्राम के लिए निकलते है तो चारण–भाट शौर्यगीत गाकर उनकी प्रशसा करते हैं। उनका काम यही समाप्त हो जाता है। वे प्रशसा करके ही रह जाते हैं, सग्राम तो योद्धा ही करते है। वीरता की प्रशसा सुनकर वीरो को ही जोश आता है, कायरो को नही।

हम लोग महात्माओ के गुणो का वर्णन तो करे, किन्तु उनके गुणो को जीवन मे न उतारे तो वह वर्णन चारण–भाटो जैसे ही हो जायेगा। अतएव उनके गुणो को जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना चाहिये।

दूसरे अध्याय, अध्याय ही कहलाते है, लेकिन इस अध्याय को सधर्मा स्वामी 'महाऽध्याय' कह रहे है, क्योकि इसमे उस महाकथा का वर्णन है जो अनाथ महामुनि ने महाराज श्रेणिक को सुनाई थी। यह कथा, उस सनाथता एव उस स्थान की मार्गदर्शिका है, जो नित्य, अविचल एव दु ख–सन्ताप रहित है।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते है कि महामुनि अनाथ ने यह महाकथा महानिर्ग्रंथो का मार्ग बताने एव उस पर दृढ रहने के लिए कही है। सुधर्मा स्वामी के इस कथन का यह अर्थ नही है कि यह कथा केवल उन साधुओ के ही काम की हो जो व्रत–नियमो का भली भाति पालन कर रहे है। यदि ऐसा होता तो सनाथी मुनि यह कथा राजा श्रेणिक को, जो गृहस्थ था, नही सुनाते। हा, मुख्यत यह कथा निर्ग्रंथ–मार्ग को अपनाने वालो के लिए ही है लेकिन साधारणतया इस कथा से सब लोग लाभ ले सकते है। महानिर्ग्रंथ

के मार्ग पर चलने वाले लोग, इस कथा से यह जान सकेगे कि हम इन कार्यो से बचे रहे, अन्यथा फिर दूसरी अनाथता मे पड जायेगे। जो लोग गिर चुके हैं, अन्हे निकालने– उनका उद्धार करने से पूर्व जो लोग नही गिरे हैं, उन लोगो को न गिरने के लिए सावधान कर देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से यह कथा मुख्यत उन लोगो के लिए है, जो महानिर्ग्रंथ के मार्ग पर चल रहे हैं। यानी ऐसे लोगो को सावधान कर दिया गया है कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही सयम मे प्रव्रजित हुए हो, लेकिन विषय–लोलुपता, असावधानी या प्रमाद से फिर अनाथता मे मत पड जाना।

सयम मार्ग पर चलने वाले लोगो को सावधान करने के साथ ही जो लोग सयम लेकर फिर अनाथता मे पड गये हैं, या पड रहे हैं तथा जो लोग ससार की अनाथता से निकल कर सयम मे प्रव्रजित हो रहे हैं एव जो लोग सयम मे प्रव्रजित को अपना गुरु मानकर उनकी उपासना करते हैं, उन लोगो का भी, इस महाकथा से हित होगा। सयम मे प्रव्रजित होकर फिर अनाथता मे पडे हुए लोग इस कथा से यह बात समझ सकेगे कि 'हम फिर अनाथता मे पड गये हैं। हमारे पास तो केवल सयम का वेश ही वेश है, जो व्रत–नियम का पालन न करने पर हमे और अनाथता मे धकेलने वाला है।' इस बात को जान कर वे पुन अनाथता से निकलने के उपाय करेगे। जो लोग, सयम मे प्रव्रजित होकर भी अनाथता मे पडने वाले हैं, वे इस कथा से सम्हल जायेगे। उन्हे मालूम हो जायेगा कि हम तो सयम लेकर भी अनाथता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह मालूम होने पर वे अपने–आप को अनाथता मे पडने से बचा लेगे। इसी प्रकार जो लोग ससार की अनाथता से निकलने के लिए सयम ले रहे हैं, वे इस महाकथा पर विचार करके सयम मे प्रमाद न करेगे, किन्तु सावधानी रखेगे। उन्हे यह मालूम रहेगा कि हम एक अनाथता से तो निकले हैं, लेकिन एक अनाथता और है, हम असावधानी से उसमे न जा गिरे, नही तो कही के न रहेगे। जो लोग सयमी लोगो को अपना गुरु मानकर उनकी उपासना करते हैं, इस महाकथा द्वारा वे अपने माने हुए गुरु के लिए यह जान सकेगे कि हम जिन्हे अपना गुरु मान रहे हैं, वे वास्तव मे सयम पालन करने वाले और सनाथ हैं या सयम के नाम से आजीविका करने वाले अनाथ हैं? केवल वेश से तो साधु–असाधु की परीक्षा हो नहीं सकती, क्योकि वेश तो सयम पालने वाले और न पालने वाले, दोनो का समान ही है, लेकिन इस महाकथा मे जो लक्षण बताये हैं, उनसे अनाथ, सयम का पालन न करने वाले

और थोथा वेश धारण करने वाले जाने जा सकेगे, जिससे वे उपासक लोग धोखा न खायेगे और धर्म समझ कर पाप मे प्रवृत्त न होगे।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वृक्ष लगाने का उद्देश्य फल खाना होता है, लेकिन उससे छाया भी मिल जाती है, इसी प्रकार यह कथा महानिर्ग्रंथो का मार्ग को अपनाने वाले लोगो के लिए होते हुए भी, इससे सभी लोग लाभ उठा सकते हैं।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं– जम्बू! इस महाकथा का महामुनि सनाथी ने बडे विस्तारपूर्वक वर्णन किया। श्री सुधर्मा स्वामी के कथन का अभिप्राय यह है कि मैंने जो वर्णन किया है, वह तो सक्षिप्त है, लेकिन महामुनि सनाथी ने इसे विस्तारपूर्वक कहा था।

शास्त्रो मे किसी बात का विस्तृत वर्णन नही हो सकता। विस्तृत वर्णन से असुविधा के साथ ही ग्रथवृद्धि का भी भय रहता है। शास्त्रो मे यदि प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन किया जावे, तो शास्त्र बढ जावेगे और साधु उन्हे स्मृति मे न रख सकेगे। इसीलिए शास्त्रो मे प्रत्येक बात का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। 'सूत्र' शब्द का अर्थ भी बहुत अक्षर वाले अर्थ को थोडे मे बताना है। उस सक्षिप्त वर्णन की विस्तृत रूप मे व्याख्या करना वक्ता का काम है। हा, वक्ता उस विस्तृत व्याख्यान मे कोई ऐसी बात मिलाने का अधिकार नही रखता, जो शास्त्र–सम्मत न हो, लेकिन शास्त्र की सक्षिप्त बात की विस्तृत व्याख्या करना और उस व्याख्या को युक्ति–दृष्टात आदि से पुष्ट करना वक्ता का काम है।

तुट्ठो य सेणियो राया, इणमुदाहु कयजली।
अणाहयं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदेसियं।।54।।

अर्थ– अनाथ मुनि का कथन सुनकर श्रेणिक राजा सन्तुष्ट हुआ और हाथ जोडकर इस प्रकार कहने लगा– आपने अनाथता का स्वरूप मुझे बहुत अच्छा समझाया।

व्याख्यान– महामुनि ने मगधसम्राट् को अनाथता का स्वरूप समझाया। उसे सुनकर उस पर क्या प्रभाव पडा, इस बात का वर्णन करते हुए गणधर स्वामी कहते हैं– सनाथ–अनाथ की व्याख्या सुन कर राजा श्रेणिक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। इस कथन से यह प्रकट किया गया है कि श्रेणिक पहले कुछ और सोच रहा था और मुनि का कथन सुनने के अनतर कुछ और ही सोचने लगा। राजा वीर था, अत यह कथा सुन कर उसने मुनि को हाथ जोडे। वह साधारण बनिया नही था कि साधारण–सी बात के लिए भी हाथ जोडने

लग जाय। वह क्षत्रिय राजा था। क्षत्रिय से हाथ जुडवा लेना सरल नही है, बल्कि बहुत कठिन होता है। बडे-बडे महाराजा और सम्राट् भी उससे सहज हाथ नही जुडवा सकते। वीर क्षत्रिय लोभ या सकट मे पडकर किसी को हाथ नही जोडता। बादशाह अकबर ने महाराणा प्रताप को राज्य का एक विशाल भाग देने का प्रलोभन दिया, फिर भी उन्होने अकबर को हाथ नहीं जोडे। इस प्रकार क्षत्रियो से हाथ जुडवा लेना टेढी खीर है, तथापि जब उनका हृदय बदल जाता है, तब भक्तिवश होकर वे हाथ जोडने मे देर भी नहीं करते।

राजा श्रेणिक सतुष्ट होकर अनाथ मुनि से कहने लगा, आपने अनाथता का स्वरूप मुझे बहुत सुन्दर रूप से समझाया।

राजा जब तक अनाथता के भाव को नही समझा था, तब तक यही समझ रहा था कि जिसे सासारिक वैभव अधिक मिला हो, वह सनाथ है और जो दुनिया की सम्पत्ति से रहित हो, वह अनाथ है।

राजा श्रेणिक तो ऐसा समझता ही था, पर आप क्या समझते हैं? आप लोग भी तो यही समझते हैं न? आपने अनाथालय खोले हैं और जिन्हे कोई खाना-पीना देने वाला नही है, जिनकी शिक्षा का प्रबन्ध करने वाला कोई नही है, ऐसे बच्चो को अनाथ समझा जाता है। ऐसे अनाथो को अनाथालयो मे रखा जाता है। इस प्रकार राजा की पहले वाली धारणा मे और आपकी धारणा मे क्या अन्तर रह जाता है?

राजा श्रेणिक अपने आपको सनाथ समझता था, क्योकि उसके पास ससार की विपुल सम्पत्ति थी। अपने को सनाथ समझने के कारण ही उसने मुनि से कहा था कि ऐसे सुन्दर और सुरुपवान् होते हुए भी आप भर यौवन मे साधु क्यो बने? इस प्रश्न के उत्तर मे मुनि ने कहा- 'मै अनाथ होने के कारण साधु बना। तब राजा ने चकित होकर कहा- आप जैसे सुन्दर और स्वस्थ पुरुष अनाथ हो! यह मेरी समझ मे नही आता। फिर भी मैं वाद-विवाद मे नही पडना चाहता, सिर्फ यही कहना चाहता हू कि अगर आप अनाथ हैं तो मै आपका नाथ बनता हू। मैं राजा आपका नाथ बनने को तैयार हू, फिर आपको ओर क्या चाहिए? आप मेरे साथ चलिए और भोगोपभोग कीजिए। मनुष्य-जन्म को इस प्रकार खराब न कीजिए। मेरे राज्य मे ऐसे सुन्दर और स्वस्थ शरीर वाले लोग अपनी जिदगी खराब करे, यह मै नही देख सकता।

श्रेणिक का इस प्रकार कहने का मूल कारण यही था कि वह सनाथ-अनाथ का वास्तविक स्वरूप नही जानता था। ससार के वैभव वाला सनाथ है, यह उसका अज्ञान था। वह जिसे सुधार समझता था, वह भी करने

को तैयार था। आज भी किसी को पौद्गलिक दृष्टि मे दुखी न रहने देना सुधार समझा जाता है। श्रेणिक भी यही सुधार करने को तैयार हुआ था और मुनि को भोग–सामग्री देकर सुखी बनाना चाहता था। इससे अधिक वह कर भी क्या सकता था? अपनी आत्मा को ऊचा चढाने की यह प्रथम सीढी है। किसी को दुखी देखकर उसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करना, नीति की इस प्रथम पक्ति पर चढ कर ही आत्मा आगे बढ सकता है।

राजा मुनि का दुख दूर करने के लिए तैयार होकर नीति की पहली सीढी पर चढ गया था, परन्तु आप लोग अपने सबध मे विचार करो। आप यह चरित्र सुन रहे हैं, परन्तु विचार करो कि आप पहली सीढी चढे हो या नही? किसी को दुखी देखकर उसका दुख दूर करते हैं या नहीं ? कदाचित् कहा जाय कि राजा श्रेणिक जिस दुख को मिटाने के लिए तैयार हुआ था, उसे मिटाना तो ससार का काम है। परन्तु मैं पूछता हू कि क्या आप ससार मे नही हैं? आप भी तो ससार मे ही बैठे हैं, फिर भी जिनकी कमाई से धनवान् बने हो उन गरीबो का विचार न करो, उनका दुख देखकर आपका हृदय न पिघले, तो कैसे कहा जा सकता है कि आप इस कथा को सुनने के पात्र बने हो?

सुना है, दक्षिण प्रान्त मे दुर्भिक्ष के कारण सात गाये नौ आने मे बेच दी गई। सात गायो की कीमत क्या नौ आना होनी चाहिए ? परन्तु खरीददार मुफ्त मे लेना नही चाहता होगा, इसीलिए उसने नाम मात्र की कीमत दी होगी। यह भी सुना है कि पाच हजार पशुओ को कसाई ले गये। उन्हे वे कत्ल करेगे। गाय आदि पशुओ की ऐसी दुर्दशा देखकर भी अगर आप खाने–पीने मे, पहनने–ओढने मे और नाटक–सिनेमा देखने मे ही मस्त रहो तो क्या यह कहा जा सकता है कि आप अपने धन का सदुपयोग कर रहे है? कैसे माना जाय कि आप सनाथ–अनाथ का भेद समझने के पात्र बने हैं?

जरा राजा श्रेणिक के प्राथमिक कार्य की ओर ध्यान दीजिए। उसने मुनि से कहा–मैं किसी को दुखी नही देख सकता। दूसरो को दुखी देखकर भी मैं सुखोपभोग करू। यह मुझसे नही बन सकता। राजा श्रेणिक इस प्रकार का विचार करता था और जिसके अन्तरग मे इस प्रकार का विचार है, वही मनुष्य सनाथ–अनाथ के उपदेश का पात्र बन सकता है।

जब मुनि ने राजा से कहा कि अनाथ होने के कारण मैंने दीक्षा ली है, तो राजा ने कहा– मैं आपका नाथ बनता हू। मगर जब मुनि ने कहा कि तुम स्वय अनाथ हो तो दूसरे के नाथ कैसे बन सकते हो? तब राजा के

आश्चर्य का पार न रहा। वीर होने के कारण वह चुप न रहा। उसने निर्णय करने के अभिप्राय से मुनि से पूछा– महाराज, आप मुझे पहचानते हैं कि नही? मैं मगध का राजा हू, प्रचुर वैभव मेरे चरणो मे लौटता है– मेरा ऐश्वर्य अप्रतिहत है। मैं अनाथ कैसे? क्या आपका कथन मृषा नही है ?

राजा ने यह बात किसी और से कही होती तो सभवत वह क्रुद्ध हो जाता, लेकिन ये मुनि तो क्षमा के सागर थे। अतएव राजा के कथन के उत्तर मे उन्होने कहा– राजन्! ऐसा कहने मे तुम्हारा नही, तुम्हारे अज्ञान का दोष है। तुम्हे सनाथ–अनाथ का स्वरूप मालूम नही है।

यह कहकर मुनि ने स्पष्ट रूप से सनाथ–अनाथ का स्वरूप समझाया। तब राजा हाथ जोडकर मुनि से क्षमा–याचना करने लगा। बोला– महानिर्ग्रंथ! मैने अनुचित बात कहकर आपका अपराध किया है। मेरे अपराध को क्षमा कीजिए।

तुब्भे सुलद्ध खु मणुस्सजम्म, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी।
तुब्भे सणाहाय सबन्धवा य, जं भे ठिया मग्गे जणुत्तमाण।।55।।

अर्थ– महर्षि! आपमा मनुष्य–जन्म पाना सफल है। आपने मनुष्य–जन्म का बहुत लाभ लिया। आप जिनेन्द्र देव के मार्ग मे स्थित हैं, अतएव आप ही सनाथ और बन्धु–बान्धवो से भक्त हैं।

व्याख्यान – राजा श्रेणिक, अनाथ मुनि के द्वारा प्राप्त वस्तु को किस प्रकार उन्ही को भेट चढाता है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मान लीजिए, एक राजा ने किसी को एक बगीचा भेट मे दिया। राजा द्वारा भेट पाने वाला व्यक्ति अगर कृतज्ञ होगा तो वह बगीचे मे पैदा होने वाले फल–फूलो को राजा को भेट किये बिना नही रहेगा। इसी प्रकार उपदेश का पात्र यदि कृतज्ञ है तो वह बोधरूपी बगीचे के फल–फूलो को बोध देने वाले गुरु को भेट चढाये बिना नही रहेगा, जिस प्रकार श्रेणिक राजा, अनाथ मुनि को स्तुति के रूप मे भेट चढा रहा है। ऐसा करना सुपात्र का लक्षण है। भगवान् महावीर ने गौशालक और जमालि को बोध दिया था। मगर वे कैसे निकले? वस्तुत एक ही प्रकार के उपदेश को विभिन्न पात्र अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते हैं।

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि से कहता है– मुनिवर! आपका उपदेश सुनकर मुझे खातिरी हो गई है कि सुन्दर मनुष्य–जन्म आपने ही पाया है और आपने ही उसका पूरा लाभ उठाया है।

जो मनुष्य अपना लाभ करता है, वह दूसरो को लाभ पहुचा सकता है और जो दूसरो का अहित करता है, वह अपना ही अहित करता हे। जो दूसरो के कल्याण मे निरत रहता है, उसके प्रयत्न से दूसरो का हित हो या न हो, उसका निज का कल्याण तो हो ही जाता है।

राजा श्रेणिक ने पहले कहा था कि आप मनुष्य–जन्म का साधुपन मे उपयोग करके दुरुपयोग कर रहे हैं– पत्थर के वदले हीरा दे रहे हें, किन्तु जब मुनि के उपदेश से उसे सद्‌वोध प्राप्त हुआ, तब वही राजा कहने लगा– आपका मनुष्य–जन्म सुन्दर है और आपने ही मनुष्य–जन्म से सच्चा लाभ उठाया हे।

राजा श्रेणिक की भाति आप लोग भी यह धर्म कथा सुन कर वढिया खान–पान मे ही मनुष्य जन्म को सफल न मानो, उससे सच्चा लाभ उठाओ। अपने जीवन को दूसरो के कल्याण मे लगा दो। उस समय आप भी यही मानने लगोगे कि अब हमारा जीवन सार्थक बन गया है। मनुष्य जीवन का मूल्य समझो और कृतज्ञ बनो।

राजा श्रेणिक का हृदय थोडी ही देर मे पलट गया। ज्ञानी पुरुष का समागम होने पर आत्मा किस प्रकार अनूठी जागृति का केन्द्र बन जाता है, यह बात श्रेणिक के चरित्र से समझी जा सकती है। राजा श्रेणिक ने अपने अनेक कार्यो से नरक की आयु बाध ली थी, फिर भी अनाथ मुनि के समागम से उसने तीर्थंकर गोत्र बाध लिया। इस प्रकाश मे आपको विचारना चाहिए कि पहले बाधे कर्म तो भोगने ही पडते है परन्तु जो सद्‌वस्तु इस समय मिल रही है, उसे प्राप्त करके भविष्य के लिए आत्मा का कल्याण करना चाहिए और उसमे ढील नही करनी चाहिए।

यह बीसवा अध्ययन साधुओ को लक्ष्य करके तो कहा ही गया है, परन्तु है साधु और श्रावक सबके लिए समान उपयोगी ओर कल्याणकारी। इस अध्ययन मे यह नही कहा गया हे कि साधु होने पर ही कल्याण साधन किया जा सकता है, इसमे तो साधुओ को सावधान किया गया है कि तुम नाथ होकर थोडे से प्रलोभन मे पड कर अनाथ न बन जाना। इस प्रकार साधुओ को सावधान तो किया गया है, पर यही नही कहा कि सब को महाव्रत स्वीकार कर ही लेना चाहिये। हा, यह अवश्य बतलाया गया हे कि अगर महाव्रतो को अगीकार न कर सको तो ऐसी श्रद्धा अवश्य रखो कि हम महाव्रत पालने वालो के उपासक हें।

हृदय–परिवर्तन के पश्चात् राजा श्रेणिक ने अनाथ मुनि से जो–कुछ कहा था, वह गणधरो ने सूत्र रूप मे ग्रथित करके और हमारे समक्ष उपस्थित करके हमारा महान् उपकार किया है। यह बात ध्यान मे रख कर हमे विचारना चाहिये कि सद्‌बोध देने वाले के प्रति हमे किस प्रकार कृतज्ञ बनना चाहिए।

राजा श्रेणिक कहता है– हे मुनि! यह श्रेष्ठ मनुष्य–जन्म आपको ही प्राप्त हुआ है। आपने ही इस जन्म को सफल बनाया है। इस कथन के सबध मे टीकाकार कहते है कि मुनि के शरीर पर विद्यमान सुलक्षणो को देखकर पहले राजा विचार करता था कि ऐसे प्रशस्त लक्षणो से सम्पन्न होते हुए भी ये साधु कैसे बने!

आज किसी के शरीर पर सुलक्षण विद्यमान हो तो वह उनके फलस्वरूप यही जानना चाहता है कि उसे कितनी स्त्रिया, कितने पुत्र और कितनी सम्पत्ति मिलेगी! अधिकाश लोग इसी रूप मे अपने सुन्दर लक्षणो का फल चाहते हैं! मेरे शरीर मे ऐसे शुभ लक्षण हैं तो मैं सयम धारण कर सकूगा या नही, इस प्रकार विचार करने वाला तो कोई विरला ही होगा। ग्रन्थो मे नाक–कान आदि के बत्तीस लक्षण बतलाये गये हैं। इन सुलक्षणो के परिणामस्वरूप लोग विपुल वैभवप्राप्ति की अभिलाषा करते हैं। यही बडी भूल है। सुन्दर लक्षणो का भी किस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है और उनके द्वारा किस प्रकार अपने ही हाथो अकल्याण कर लिया जाता है, यह बात ब्रह्मदत चक्रवर्ती के चरित्र से देख लो। ब्रह्मदत चक्रवर्ती के शरीर मे बहुत से शुभ लक्षण थे और उनके कारण वह चक्रवर्ती भी हुआ, परन्तु उन्ही शुभ लक्षणो से उसने सातवे नरक के योग्य पाप का बन्ध कर लिया।

कल्पना करो, एक मनुष्य शुभ लक्षणो से सम्पन्न है और तलवार लेकर तुम्हे मारने आया है। उस समय तुम्हे वह कैसा लगेगा ? आप कहेगे कि यह कैसा कुलक्षणी है।

जैसा आप अपने लिए सोचते हो, वैसे ही दूसरो के लिए भी सोचो। जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरो को कष्ट देता है, वह भले ही सुलक्षणो वाला हो, फिर भी सुलक्षण वाला नही माना जाता। सुलक्षण–सम्पन्न तो वही है, जो किसी को कष्ट नहीं देता और सब पर कृपाभाव रखता है। इसी प्रकार श्रेणिक राजा ने मुनि से कहा है कि वास्तव मे आपके लक्षण ही सुलक्षण हैं।

कोई भी महिला, चाहे उसमे कितने ही सुलक्षण क्यो न हो और वह कितनी ही सुन्दर क्यो न हो, तब तक सुलक्षण वाली नही कहला सकती, जब

तक उसमे शील का लक्षण न हो। शील का लक्षण न होने पर भी सुलक्षण मान लिया जाय तो वेश्या को भी सुलक्षणा क्यो न माना जाय?

राजा कहता है– पहले मैं कहता था कि ऐसे प्रशस्त लक्षणो से सम्पन्न शरीर को आपने सयम मे क्यो लगा दिया? क्यो सयम धारण कर लिया? किन्तु अव मेरी समझ मे आ गया कि आपने इस शरीर को सयम मे लगा कर अधिक सुन्दर वना लिया हे ओर अपने जन्म को सफल कर लिया है।

राजा श्रेणिक की तरह आज के लोग भी यही कहते हैं कि सयम मे क्या रखा है! हमे ऐसी वाते सुनाइये, जिनसे मजा आवे! वे कहते हैं– धर्म की बात रहने दीजिए, समाज–सुधार की वात बतलाइये! किन्तु धर्म से समाज–सुधार नहीं होगा, ऐसा समझना गम्भीर भूल है।

राजा कहता है– में भोगो का उपभोग करने मे ही मनुष्य–जन्म को सफल मानता था, किन्तु अव समझ गया हू कि मनुष्य–जीवन की सच्ची सफलता सयम–पालन मे ही है। सयम ग्रहण करके आपने जीवन सार्थक बनाया है और आप अनाथता को हटा कर सनाथ बने हैं। आप अपने ही नाथ नही बने, किन्तु समस्त त्रस और स्थावर जीवो के भी नाथ बने हैं। अब में यह भलीभाति समझ गया हू कि वास्तव मे मैं अनाथ हू।

योग–क्षेम करने वाले को नाथ कहते हैं अर्थात् जो अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करावे और प्राप्त की रक्षा करे, वह नाथ है।

कहा जा सकता है कि यह बात तो ससार–व्यवहार मे भी लागू पडती है। किसी ने किसी भूखे को रोटी दी और उस रोटी को खाने के लिए दौडने वाले कुत्तो आदि को भगा दिया तो वह अप्राप्त को प्राप्त कराने वाला और प्राप्त की रक्षा करने वाला हुआ। ऐसी स्थिति मे ऐसा करने वाला दूसरे मनुष्य का नाथ हुआ या नही?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रोटी देकर और रोटी की रक्षा करके भी वह उसका नाथ नही कहला सकता, क्योकि जब तक वह अपना नाथ नही बना तब तक दूसरो का नाथ कैसे बन सकता है? हा, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसने रोटी देकर दया की है, फिर यह कहना उचित नही कि वह उसका नाथ बन गया है। रोटी देकर वह सदा के लिए उसके शरीर की रक्षा नही कर सकता और न आत्मा की ही रक्षा कर सकता हे।

आशय यह है कि योग–क्षेम करने वाला नाथ कहलाता है, यह तो ठीक है, किन्तु ससार मे ऐसा कोई नही है जो स्थायी रूप से योग–क्षेम कर

सके। सच्चा योग—क्षेम करने वाला तो सयम ही है। इसी से राजा अनाथ मुनि से कहता है— हे मुनि! आप ही सच्चे नाथ है। आप अपने भी नाथ हैं और ससार के अन्य पाणियो के भी नाथ हैं।

कहा जा सकता है कि मुनि का अपना नाथ बन जाना तो ठीक है किन्तु वे दूसरो के नाथ कैसे बन गये? इसका उत्तर यह है कि राजा श्रेणिक यो तो न जाने कितनी बार नरक मे जाता, पर अनाथी मुनि उसके नाथ बने तो उसने तीर्थंकर गोत्र बाध लिया। इस दृष्टि से मुनि दूसरो के भी नाथ हुए।

साधारणतया अपना उपादान अच्छा होना चाहिए। उपादान अनुकूल न हो तो निमित्त का मिल जाना भी निरर्थक साबित होता है। सूर्य सब को प्रकाश देता है, किन्तु कोई अन्धा आदमी कहने लगे कि वह मुझे प्रकाश नही देता तो उसे यही कहा जायगा कि यह तो तेरे ही उपादान का दोष है। इसी प्रकार अनाथ मुनि तो सब के नाथ हैं, पर अपना—अपना उपादान अच्छा होना चाहिए।

राजा कहता है—हे मुनि! आप ही नाथ हैं और आप ही सच्चे बान्धव हैं। सहायता करने वाला बान्धव कहलाता है, अत अन्तिम समय तक सहायता देने वाले सच्चे बान्धव भी आप ही हैं, क्योकि आपने जिनेन्द्र के मार्ग को ग्रहण किया है।

राजा श्रेणिक की भक्ति देखकर तुम भी परमात्मा से प्रार्थना करो कि प्रभो! जिस प्रकार मुनि की ओर राजा का भक्तिभाव प्रकट हुआ, उसी प्रकार मेरे अन्त करण मे आपके प्रति भक्ति प्रकट हो। इस प्रकार निर्मल चित्त से परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो तुम्हारा परम कल्याण होगा।

त सि नाहो अणाहण, सव्वभूयाण सजया।
खामेमि ते महाभाग! इच्छामि अणुसासिउ ।।56।।
पुच्छिऊण मए तुब्भ, झाणविग्घो जो कओ
निमतिया य भोगेहि, तं सव्वं मरिसेहि मे ।।57।।

अर्थ— हे सयत! हे महाभाग! आप अनाथो के नाथ है, आप सब प्राणियो के नाथ है। मैं आपसे क्षमा की प्रार्थना करता हू और आपसे शिक्षा प्राप्त करना चाहता हू।

मैंने प्रश्न करके आपके ध्यान मे विघ्न डाला और आपको भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया। यह सब मेरा अपराध क्षमा कीजिये।

व्याख्यान— राजा श्रेणिक अनाथ मुनि के गुणो की प्रशसा कर रहा है। जिन मुनि के गुणो का वर्णन करने मे श्रेणिक जैसा राजा भी समर्थ न हो

सका, उनके गुणो का हम जेसे किस प्रकार वर्णन कर सकते हें? फिर भी हमें निराश नही होना चाहिए। वल्कि राजा ने मुनि की प्रशसा मे जो शव्द कहे हें, उन्हे हृदय मे उतार कर मुनि के साथ अपना सवध स्थापित कर लेना चाहिए। ऐसा करने से राजा श्रेणिक की तरह हम भी अपना कल्याण–साधन कर सकेगे।

पहले जो वर्णन किया जा चुका हे, वही यहा पहली (56वीं) गाथा मे किया गया हे। अर्थात् इस गाथा मे पहले के वर्णन को दोहराया हे। कहा जा सकता हे कि पुनरुक्ति को काव्य मे दोप माना गया हे। यहा भी यही दोप क्यो नही आता? इसका उत्तर यह हे कि गुणानुवाद करने मे, स्तुति करने मे ओर निन्दा करने मे पुनरुक्ति दोप नहीं माना जाता। राजा का कथन स्तुति या प्रशसा रूप हे। अतएव यहा एक कथन को दोहराना दोप नहीं हे, वल्कि गुण हे। इसलिये राजा ने अपने कथन को दोहराया हे।

राजा श्रेणिक कहता हे– मुनिवर! जिस अवस्था मे दूसरे लोग मोह मे पड जाते हें उस अवस्था मे भी आप मोह मे न पडे ओर सयम मे सलग्न हो गये, इस कारण आप सनाथ हें। आप अनाथो के नाथ हें। सयम ग्रहण करने से पहले आपकी आत्मा अनाथ थी, किन्तु अव सनाथ हो गई हे। ओर जो अपना नाथ वन जाता हे, वह दूसरो का भी नाथ वन जाता हे। अतएव आप अनाथो के नाथ हें।

आपने अपनी सम्पत्ति का वर्णन करके वतलाया कि 'प्रचुर सम्पत्ति होने पर भी जव शरीर मे रोग उत्पन्न हुआ तो वह सम्पत्ति कुछ भी काम न आई।' इस वर्णन से मैं समझ गया कि श्रीमताई किसी मतलव की नहीं हे। उलटी वह अनाथता वढाने वाली हे। साथ ही यह वात भी मेरी समझ मे आ गई कि किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार जमाने से आत्मा अनाथ– गुलाम– वन जाती हे। अतएव में अपने को अनाथ समझने लगा और मॅने माता–पिता, धन आदि पर से अपना अधिकार हटा लिया। मॅने मुह से ही अधिकार हटा लेने की वात नहीं कही, वरन् अन्तकरण से भी ऐसा कर वतलाया है। इस प्रकार जव मॅने पर वस्तु की गुलामी छोड दी, तभी में सनाथ वन सका।

हे मुनि! आपका यह कथन मेरी समझ मे आ गया हे। आप ही सचमुच सनाथ हें ओर आप ही समस्त प्राणियो के नाथ हैं, यह तथ्य अव में वखूवी समझ गया हू।

मित्रो! अगर आपने भी राजा और मुनि के कथन को समीचीन रूप से समझ लिया है तो आप भी मानो कि जब तक एक भी परमाणु पर 'यह मेरा है'– इस प्रकार का ममत्व है, तब तक आत्मा अनाथ है। ससार के समस्त पदार्थों पर से जब ममत्व हट जाता है तभी आत्मा सनाथ बन सकती है।

समस्त सासारिक पदार्थों की ममता त्याग कर साधु बन जाना और इस पकार अनाथता से बाहर निकल जाना तो ठीक है, परन्तु कुछ लोग साधु होकर फिर अनाथता मे पड जाते हैं, यह अत्यन्त अनुचित है। साधु होकर किस प्रकार अनाथ बना जाता है, यह बात यद्यपि साधुओ को समझनी चाहिए, लेकिन आप गृहस्थो को भी समझ लेना आवश्यक है क्योकि आप (श्रावक) साधुओ के रक्षक हैं। भगवान् ने साधुओ को श्रावको की गोद मे रखा है। इस बात को भलीभाति समझकर आप साधुओ को आधार देगे तो आप स्वय भी सनाथ बन जाएगे। सनाथ मुनियो का दर्शन भी अनाथता के निवारण का कारण है, तो जब आप सनाथ मुनि को आधार देगे तो आपकी अनाथता क्यो नही मिटेगी? अतएव ऐसे साधुओ को आधार दो। आधार देने मे थोडा कष्ट तो सहन करना पडता है, परन्तु कष्ट सहन किये बिना कोई काम होता भी तो नही।

हम साधुओ को भी सोचना है कि हम सनाथ बनने के लिए साधु हुए हैं या अनाथ रहने के लिए? हमने जूते पहनने का त्याग क्यो किया है? जूते न पहनने के कारण पैरो मे जलन भी लगती है और काटे भी लगते हैं, फिर भी हम जूते नही पहनते, क्योकि जूते पहनने से आत्मा अनाथ बनती है। मस्तक पर सख्त धूप पडती है और दूसरे कष्ट भी होते हैं, फिर भी हम छतरी या छतरी जैसे पदार्थों का उपयोग नही करते। इसका कारण यही है कि उन पर ममता होने पर हमारी आत्मा अनाथ बन जाती है। दूसरी वस्तुओ की तो बात ही क्या, भगवान् तो यहा तक कहते हैं कि साधु को अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिए। जो वस्तु या शरीर धर्म मे सहायता दे, उसकी सहायता तो ले लेनी चाहिए, परन्तु उस पर ममत्व स्थापित नही करना चाहिए।

भगवान् के बतलाये इस मार्ग को भूलकर जो इन्द्रियो के वशीभूत हो जाता है, वह अनाथ मुनि के कथनानुसार अनाथ है। अतएव साधुओ को विचार करना चाहिये कि जब हमने सोने–चादी, ताबे–पीतल के पात्रो का परित्याग कर दिया है तो फिर काष्ठ के पात्रो पर क्या ममता रखे? जब रगीन वस्त्रो का त्याग कर दिया है तो श्वेत वस्त्रो पर ममता कैसी? रेशमी वस्त्र

धारण क्यो करे? इस प्रकार विचार कर साधुओ को सादगी ही रखनी चाहिए। सुखशील बनने वाला साधु अनाथ ही रह जाता है। साधुओ को सनाथ बन कर फिर अनाथ नही वनना चाहिये।

कोई वस्तु अपने लिए ही सुखदायी होती है और कोई अपने लिए सुखदायी होने के साथ–साथ जगत् के लिए भी सुखदायी होती हे। जो वस्तु जगत् के लिए सुखप्रद होती है, वही वस्तु महत्त्वपूर्ण और देवी मानी जाती है। सूर्य इसलिए महान् माना जाता है कि उसके द्वारा सव को समान रूप से प्रकाश मिलता है। अगर सूर्य अपना प्रकाश अपने लिए ही रख लेता तो वह महान् न कहलाता। जल और वायु वगैरह सबके लिए समान उपकारी हैं, इसी कारण उनकी भी महत्ता हे। इसी प्रकार मुनि की सनाथता भी सव के लिए लाभकारी और कल्याणकारी है। सूर्य का प्रकाश तो सभी लोग चाहते हैं, पर सभी लोग सूर्य नही बन सकते। इसी प्रकार युवावस्था मे सम्पत्ति, माता–पिता, भाई–वहन, पत्नी आदि का त्याग करके सूर्य की तरह सनाथ बनने की शक्ति सब मे नही होती, किन्तु जो मुनि सनाथ बने हैं उनका लाभ तो सभी ले सकते हैं।

राजा मुनि से कहता है– मुनिवर! आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए। ससार मे अज्ञान के समान कोई पाप नही है। अज्ञान ही समस्त पापो का मूल है। मैने भी अज्ञान के कारण ही अपराध किया है। उसके लिये क्षमा कीजिए।

जिस प्रकार अज्ञान के कारण राजा ने मुनि का अपराध किया था, उसी प्रकार अपने आत्मा ने भी न जाने कितने पाप किये होगे! क्या हमारे आत्मा ने अच्छी वस्तु को बुरी और बुरी को अच्छी नहीं मानी होगी? यही नही, अज्ञान के कारण इस आत्मा ने अपूज्य को भी पूज्य माना होगा।

राजा कहता है– मैने अज्ञान से अपराध किया था। मै अज्ञान के कारण ही अपका माहात्म्य नही समझ सका था। आप सत्यस्वरूप समझा रहे थे, फिर भी मैने आपकी बात असत्य कह कर अस्वीकार कर दी। यह मेरा अपराध है। आप मेरा यह अपराध क्षमा करे। अब में आपकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हू। अब कभी आपकी शिक्षा का अपलाप नहीं करूगा।

आजकल की शिक्षा पर विचार कीजिए। किसी को विद्या के प्रति अरुचि नही हो सकती। विद्या पढकर आत्मा का स्वरूप समझना तो ठीक है, परन्तु आज तो शिक्षा के नाम पर यह सिखाया जाता है कि आत्मा का अस्तित्व ही नही हे। कहा जाता है– आत्मा है कहा? प्रत्यक्ष दीख पडे तो

आत्मा का अस्तित्व स्वीकर करे। परन्तु ऐसा कहने वालो को समझना चाहिए कि कोई वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से मानी जाती है और कोई अनुमान प्रमाण से। आधुनिक वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते हैं तो आत्मा को भी केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से देखने की इच्छा न करो, अनुमान प्रमाण से जानो।

कहा जा सकता है कि न देखी हुई वस्तु को मानने से मनुष्य भुलावे मे पड जाता है। इसका उत्तर यह है कि क्या देखी हुई वस्तु के विषय मे भ्रम नही होता? भ्रम से बचना तो तभी सम्भव है जब मनुष्य पूर्ण बन जाय। अपूर्ण अवस्था मे भ्रम मे पड जाना स्वाभाविक है। अतएव केवल प्रत्यक्ष से देखने का आग्रह न करो। प्रत्यक्ष की तरह अनुमान प्रमाण को भी मान्य करो। अनुमान प्रमाण भी आधारभूत है। इसके अतिरिक्त जिसे तुम प्रत्यक्ष कहते हो, वह भी आत्मा से प्रत्यक्ष नही, केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष है और इन्द्रियप्रत्यक्ष से भी लोग भ्रमणा मे पड जाते है।

जैसे इतिहास–भूगोल के जानकार लोग पहले जितना प्रत्यक्ष देखा, उतना ही मानते थे, किन्तु फिर अनुमान प्रमाण के आधार से कहने लगे कि हम जितना देखते हैं उससे आगे भी कुछ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के बिना काम नही चल सकता। मान लीजिए, आपने अपने दादा को प्रत्यक्ष नही देखा, फिर भी अनुमान से उसे मानते हो या नही? इस प्रकार अनुमान प्रमाण न जाना जाय तो बडी गडबडी होगी। प्रत्यक्ष और अनुमान, दोनो एक रथ के दो चक्रो के समान हैं। रथ एक चक्र से नहीं चल सकता। इसी प्रकार वस्तु का निर्णय भी अकेले प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए परोक्ष प्रमाण की सहायता लेना आवश्यक है। प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनो प्रकार के ज्ञान से ही वस्तु का स्वरूप जाना जा सकता है।

यद्यपि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण मानना भी आवश्यक है, परन्तु आत्मा को तो प्रत्यक्ष से जान कर भी भूल रहे हो। अपनी आत्मा अपने लिए तो प्रत्यक्ष ही है और अपनी आत्मा दूसरो की आत्मा को अनुमान द्वारा जान सकती है। व्यवहार मे कहा जाता है– मैंने वह वस्तु आख से देखी। इस कथन से देखने वाला आख के अतिरिक्त दूसरा ही कोई प्रतीत होता है। आख तो केवल करण है– साधन मात्र है। इस आख रूप करण को प्रयोग करने वाला कर्ता ही आत्मा हे। इस प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष होने पर भी लोग उसे भूल रहे है।

जो लोग आत्मा को आखों से ही देखना चाहते हें और आखों से देखे बिना नही मानना चाहते उन्हे एक घटना सुनाना चाहता हू। उदयपुर में एक वकील ने

मुझसे प्रश्न किया—आत्मा कहा है, मुझे प्रत्यक्ष दिखलाइए? तब मैंने उनसे पूछा— आप अग्रेजी तो पढे हैं? वकील ने कहा— हा।

तब मैंने कहा—वह अग्रजी कहा है? मुझे जरा बतलाइये तो सही? वकील हस पडे और बोले— अग्रजी बाहर निकाल कर कैसे बताई जाय?

मैने कहा— अगर अग्रेजी बाहर निकाल कर नही दिखलाई जा सकती तो अग्रेजी की पढाई का स्वामी है, उसे कैसे दिखलाया जाय?

साराश यह है कि प्रत्येक वस्तु को आखो से देखने का आग्रह रखना उचित नहीं है। आख से न दिखने पर भी आत्मा का अस्तित्व है। अगर आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो आगे चल कर पश्चात्ताप करना पडेगा और राजा श्रेणिक की तरह अपना अपराध स्वीकार करना पडेगा।

राजा कहता है— मुनिवर! आपने मुझे आत्मा का भान कराया है और सनाथ—अनाथ का भेद समझाया है। अतएव आप ही जगत् के नाथ हैं।

मुनि का उपदेश सुनने के पश्चात् किस प्रकार राजा के हृदय मे परिवर्तन हुआ, इसका कोई इतिहास हमे उपलब्ध नही है, मगर इतिहास तो हम स्वय ही है। इस उपदेश के आधार पर जब हम समझने लगेगे कि ससार की वस्तुए हमे अनाथ बनाने वाली हैं, तब पता चलेगा कि मुनि का उपदेश सुनकर राजा का हृदय किस प्रकार परिवर्तित हो गया होगा। आप भी मुनि के उपदेश को अपने हृदय मे उतारो, तभी राजा के हृदय—परिवर्तन की बात आपकी समझ मे आ सकेगी, अन्यथा नही।

राजा श्रेणिक वीर था। इसी कारण मुनि का उपदेश सुनकर उसके हृदय मे जो विचार उत्पन्न हुए, उन्हे चिनगारी के रूप मे बाहर निकाल रहा है। वह अपने विचारो को दबा नही रहा है। कायर अपने विचारो को दबा रखता है। प्राय लोगो मे ऐसी कायरता होती है कि वे अपनी भूल को समझकर भी दबाये रखते हैं। ऐसा करके वे अपना अहित करते हैं और साथ ही दूसरो का भी अहित करते हैं। अतएव जब आपको अपनी भूल मालूम हो तो उसे तत्काल प्रकट कर दो, जिससे लोग समझ जाए कि ऐसा करना या ऐसा मानना भूल है। भूल को प्रकट कर देने से अपना भी हित होता है और दूसरो का भी।

राजा श्रेणिक का अनुकरण करके तुम अपने भूतकाल को देखो और किये हुए पापो को धो डालो। इसी मे आपका कल्याण है।

राजा ने मुनि के समक्ष अपने अपराधो के लिए क्षमायाचना की। मुनि तो राजा को अपराधी समझते ही नही थे। अपराधी समझते होते तो उपदेश

ही क्यो सुनाते? परन्तु जो दूसरो को अपराधी नही समझते, उनके भक्त उनके क्षमाभाव से अपने ऊपर अधिक भार अनुभव करते है और विचार करते हैं कि हम कब और कैसे इनके ऋण से मुक्त हो सकेगे?

अपराध की क्षमायाचना करता हुआ राजा श्रेणिक अपना अपराध प्रकट करता हुआ कहता है– मुनिवर! आप समाधि मे बैठकर ध्यान मे मग्न हो रहे थे, तब मैने यह तुच्छ–सा प्रश्न किया कि आपने दीक्षा क्यो धारण की? मुझे आपका ध्यान भग करने का और यह प्रश्न पूछने का क्या अधिकार था? अधिकार न होने पर भी मैने आपका ध्यान भग किया। यह मेरा अपराध है और इस अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

क्या प्रश्न पूछना भी अपराध है? नही। तो राजा क्यो क्षमा माग रहा है? राजा प्रश्न पूछना और ध्यान भग करना, अपना अपराध मानकर अपनी असीम नम्रता का परिचय दे रहा है। वह कहता है– मेरा प्रश्न तुच्छ था और आपका ध्यान महान् था। मैने तुच्छ–से काम के लिए महान् कार्य की हानि की है। यह मेरा अपराध है। इस प्रकार कहकर राजा मुनि के उपकार की गुरुता प्रकट करता है। इस उपकार का रहस्य तो कोई ज्ञानी ही बता सकता है, फिर भी मै अपनी बुद्धि के अनुसार उसे समझाने का प्रयत्न करता हू।

कल्पना कीजिए, एक बालक है। उसका पिता डाक्टर, वकील या बडा न्यायाधीश है। पिता किसी महत्त्वपूर्ण काम मे सलग्न था कि उसी समय बालक रोने लगा। पिता बालक के रुदन को सुन न सका। वह अपने महत्त्व के कार्य को छोडकर बालक के पास आया और उसे पुचकार कर शात किया। इस बालक पर पिता का उपकार है या नही? बालक कृतज्ञ होगा तो पिता के महान् उपकार को स्वीकार करेगा। माता–पिता के उपकार को एक बालपोथी मे इस प्रकार प्रकट किया गया है –

टगमग पग टगता नही, खाय न सकतो खाद,
चालि न सकतो आपथी, लेश हती नहि लाज।
ते अवसर आणी दया, बालक ने मा–बाप,
पाले–पोषे प्रेम थी, ते उपकार अमाप।।
कोई करे एवे समय, वे घडी एक बरदास,
आखी उमर थई रहे, नरनो नर दास।।

माता–पिता का उपकार इतना महान् है। क्या यह उपकार भुलाया जा सकता है। मगर आज माता–पिता का उपकार किस प्रकार माना जाता है और किस प्रकार नहीं इसका वर्णन किया जाय तो बात बहुत लम्बी हो

जाएगी। आज की शिक्षा माता–पिता के उपकार को भुलाने वाली है ओर माता–पिता के उपकार को भुलाने वाली शिक्षा को शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? माता–पिता आजकल बालको की शिक्षा पर होने वाला भारी खर्च उठाते हैं और उन्हे पढाते हैं, परन्तु आज के सुधरे लडके अर्धनग्न पोशाक मे कॉलेज से निकल कर माता–पिता को बुड्ढा, बुद्धिहीन और गये–बीते जमाने का मानने लगते है। भला यह भी कोई शिक्षा है? जैन शास्त्र माता–पिता को बहुत महत्त्व देते है। इस विषय मे कहा है–'देवगुरु जणस कासा।'

अर्थात् माता–पिता देव–गुरु के समान है।

इस प्रकार शास्त्र तो माता, पिता का इतना महत्त्व प्रकट करते है, पर आज के छोकरे उनकी अवहेलना करते है। ऐसे छोकरे लायक बने है या नालायक, यह बात तो साधु–सगति करने से ही जानी जा सकती है।

सुनते हैं, विलायत मे बाप बेटे के घर जाय तो उसे होटल मे ठहराया जाता है। अपने पिता को अपने घर मे स्थान नही दिया जाता। खाने–पीने की व्यवस्था भी होटल मे ही कर दी जाती है और होटल का बिल बेटा चुका दे तो उसकी कृपा ही समझिये। पिता पुत्र पर कोई दवाव नही डाल सकता। गनीमत है कि अभी भारतवर्ष मे ऐसी स्थिति उत्पन्न नही हुई है। भारत आर्य देश है। यहा माता–पिता को बहुत ऊची दृष्टि से देखने की परम्परा है, किन्तु अब पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव यहा भी पडने लगा है।

भारत की परम्परा पहले कैसी थी कि राजा श्रेणिक ध्यान भग करने मे और प्रश्न पूछने मे भी अपराध समझ रहा है ओर उसके लिए क्षमा माग रहा है। और आज माता–पिता का उपकार मानने के बदले उनकी अवज्ञा की जाती है। मा बाप हजारो खर्च करके और स्वय गरीब बन कर अपने पुत्रो को पढाते है, मगर इतने खर्च के बाद वे क्या पढते हैं? ऐसी शिक्षा वास्तव मे कुशिक्षा है। सच्ची शिक्षा मे सबध मे कहा है–

सा विद्या या विमुक्तये।

सच्ची शिक्षा वह है, जो सब प्रकार के बन्धनो को तोड दे। मगर आज तो विद्या के नाम पर उलटा बन्धनो मे जकडना सीखा जाता है।

हा, तो वह वकील पिता, पुत्र का रुदन सुन कर अपने महत्त्व के कार्य को छोड कर भी बालक के पास गया ओर उसे शात किया। अव देखना चाहिए कि पिता का यह कार्य बालक के लिए उपकारक हुआ या नही।

इसी प्रकार कोई महात्मा, ध्यान का महत्त्वपूर्ण काम छोडकर किसी के मन का सशय दूर करे ओर धर्मबोध दे तो उसका उपकार होगा या नही?

जाती हैं, परन्तु ये सुविधाए साधुत्व की मर्यादा से बाहर है। अतएव ... राजा के आमत्रण को अपराध मानते हैं तो आपको भी ऐसा कोई ... चाहिए जिससे साधुओ की साधना का ह्रास हो।

राजा कहता है—मुनिनाथ! मै आप जैसे सनाथ को अनाथ ... चाहता था। मै भोग का कीडा आप को भी भोगो की गदगी मे गिराना चाहता था। अज्ञान के कारण मैंने आपका अपराध किया है। मुझे क्षमा कीजिए।

राजा ने अनजान मे अपराध किया था, परन्तु आप जानबूझ कर तो ऐसा अपराध नहीं करते? आप समझबूझ कर ऐसा अपराध मत करो और कोई साधु ऐसे पाप मे पड रहा हो तो उससे कहो कि हम आपके निमित्त से ससार तिरने की आशा रखते हैं और इसी आशा से आपके पास आते हैं। अगर आप इस प्रकार पतित हो जाएगे अथवा हम आपको सासारिक कामो मे फसा देगे तो फिर हम कहा जाएगे?

तुम्हारे गुरु निर्ग्रंथ है और तुम्हारे देव भी निर्ग्रंथ हैं। आप निर्गंथधर्म से विरुद्ध अपने देव—गुरु को भोगी बनाना चाहेगे तो यह कितना गुरुतर अपराध होगा? इसलिए मैं यह कहता हू कि अगर आप इस गाथा का वास्तविक अर्थ समझ ले तो आपको सच्चे देव—गुरु और सच्चे धर्म का साक्षात्कार अवश्य होगा। तराजू मे एक डडी और दो पलडे होते हैं, पर खूबी तो डडी मे ही होती है। इसी प्रकार धर्म और देव पलडो के समान है और गुरु डडी के समान है। गुरु सच्चे न हो तो वे सच्चे धर्म और सच्चे देव का

पता ही न लगने दे। जो गुरु अनाथ मुनि की तरह सनाथ होगे, वही सच्चे देव और सच्चे धर्म का परिचय दे सकेगे।

यह तो श्रावक–श्राविका सबधी बात हुई। साधुओ को भी समझ लेना चाहिए कि अगर हम भोग के त्यागी बन कर फिर भोग मे लिप्त हो जाएगे तो हमारा पतन हो जायगा। राजा श्रेणिक वीर क्षत्रिय था, वह कह कर रह जाने वाला नहीं था। मुनि अगर राजा के साथ चले जाते तो वह हर प्रकार की सुविधा कर देता और जीवनपर्यन्त उनका भरण–पोषण करता। परन्तु मुनि ने राजा का आमत्रण स्वीकार नही किया और कहा–'तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ कैसे वन सकता है?' अनाथ मुनि जैसी भावना रखना अपना ही कर्तव्य है। अगर हम इस बात को भूल कर भोगोपभोग मे पड जाए तो अपनी हानि तो करेगे ही, साथ मे दूसरो की भी हानि करेगे। साधारण मनुष्य की भूल तो उसकी ही हानि करती है, परन्तु महान् लोगो की भूल इतनी भयकर होती है कि सारे समाज मे अनेको को हानि पहुचाती है। साधारणतया दुराचारिणी स्त्रिया तो अनेक होगी, परन्तु कृष्ण ने द्रौपदी की, कर्ण की अभिलाषा करने की साधारण भूल भी दूर की। क्योकि वे जानते थे कि द्रौपदी सती कहलाती है। सती की साधारण भूल भी भयकर है, महान् अनर्थकारी है, इस प्रकार साधुओ की भूल भी भयकर गिनी जाती है। अतएव हमे भूल नही करनी चाहिए।

भगवान् अनाथ मुनि के उपदेश से राजा के अन्तकरण मे जो परिवर्तन हुआ, वह भाव–दया है। इस भाव–दया के कारण राजा को कितना लाभ हुआ होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन है। इस भाव–दया का मूल सब जीवो के प्रति अनुकम्पा रखना है। अनुकम्पा क्या है, इस सबध मे कहा है–

अनुकूलं कम्पनं चेष्टनम्–इत्यनुकम्पा।

अर्थात् दूसरो के दुख को अपना ही दुख समझ कर दूर करना अनुकम्पा कहलाता है।

अमेरिका के एक न्यायाधीश के विषय मे सुना है कि उसने एक सूअर को कीचड मे फसा और तडफडाते देखा। न्यायाधीश को दया आ गई। सूअर को कीचड से बाहर निकाला। बाहर निकालते समय उसके मूल्यवान कपडे कीचड से भर गये। यह देख उसके गाडीवान् (ड्राइवर) ने कहा– साहब, आपने मुझसे क्यो न कह दिया? मै सुअर को निकाल देता। न्यायाधीश ने उत्तर दिया– मै तुम्हे सौपता तो यह भाडे का काम हो जाता।

मैंने दूसरे का नही, अपना ही काम किया है। सूअर को दुखी देख कर मुझे दु ख हुआ। अतएव सूअर का दु ख दूर करके मैने अपना ही दु ख दूर किया है, अब उसे प्रसन्न देख कर मेरा हृदय भी प्रसन्न हो रहा है।

लोग फोटो उतरवाने के लिए भाडे के गहने भी पहनते हैं। किन्तु इस प्रकार उतरवाया हुआ फोटो सच्चा फोटो नही है। दूसरो के दु ख को दूर करके, उन्हे सुखी बनाकर सदा के लिए अपने आदर्श की छाप दूसरो के हृदय पर अकित कर देना सच्चा फोटो उतरवाना है।

अमेरिका का न्यायाधीश सूअर की दया के लिए इतना करे और भारत के श्रावक अपने घर के लोगो पर भी दया न करे, यह कितना अनुचित है? अतएव आप अधिक कुछ न कर सके तो कम से कम अपने परिवार के लोगो पर तो दयाभाव रक्खे।

मुनि का उपदेश सुनकर राजा श्रेणिक जहा सनाथता देख रहा था वहा अनाथता देखने लगा और जहा अनाथता देख रहा था वहा सनाथता देखने लगा। पहले वह मुनि को अनाथ समझ कर उनका नाथ बनने को तैयार हुआ था, किन्तु जब उसका अज्ञान हटा और हृदय निर्मल हो गया तो कहने लगा– मुनिवर ! आप ही सनाथ हैं और आप ही प्राणी मात्र के स्वामी हैं।'

गुरु को पहचानने का साधन सनाथता ही है। जिन जड वस्तुओ के प्रति ममता रखी जाती है, वे अनाथता बढाने वाली हैं। अतएव जड वस्तुओ पर ममता रखने वाला गुरु बनने का अधिकारी ही नही है। जिसने समस्त सासारिक वस्तुओ सबधी ममता को जीत लिया है, वही गुरु बनने योग्य होता है।

36 अक लिखने मे 3 और 6 की सख्या को एक दूसरे से उलटा रखना पडता है। इसी प्रकार मुनि–महात्माओ मे सनाथ वही है जो सासारिक पदार्थों से विमुख हो। सनाथ बनने की अभिलाषा करना और सासारिक पदार्थों पर ममता भी रखना, ये दोनो बाते एक साथ नही बन सकती। जब तक ससार का ममत्व नही छूटता और पुद्‌गलो का ममत्व बना है, तब तक आत्मा अनाथ ही है, सनाथ नही।

जो दूसरो की वस्तु पर निगाह रखता है, उसे लेता है या लेने की इच्छा करता है वह ससार मे चोर या उठाईगीर कहलाता है। इसी प्रकार निश्चय मे भी पर–वस्तु पर ममत्व रखने वाला अनाथ है, सनाथ नही।

कहा जा सकता है कि सासारिक पदार्थों से ममता हटाना तो उचित है किन्तु एकदम न हट सके तो क्या करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे

ज्ञानीजन कहते हैं– एकदम ममता न त्याग सको तो इतना तो अवश्य समझ लो और स्वीकार कर लो कि ससार के पदार्थ अनाथता मे डालने वाले है, सनाथ बनाने वाले नही। इस प्रकार की श्रद्धा रख कर यथाशक्ति महापुरुषो के चरणचिह्नो पर चलोगे तो भी आपका कल्याण होगा। मैं पहले भी कह चूका हू कि रेल के डिब्बो मे पावर नहीं होता, पावर तो एजिन मे ही होता है। परन्तु डिब्बे जब साकल के द्वारा एजिन के साथ जुड जाते हैं तो यथास्थान पहुच जाते हैं। इसी प्रकार ससार के पदार्थों का त्याग करके स्वय सनाथ न बनने पर भी जो सनाथ बने हैं, उनकी आत्मा के साथ अपना सबध जोड लेने से किसी दिन आप भी सनाथ बन जायेगे। शास्त्र मे कहा है –

दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइ।।

–दशवैकालिक सूत्र

अर्थात् पूर्ण प्रीति के साथ, सद्बुद्धि और निस्पृहता से दान देने वाला दुर्लभ है और शुद्ध निस्पृहभाव से सयम का पालन करने के लिए दान लेने वाला भी दुर्लभ है। यद्यपि ऐसा दाता और ऐसा पात्र मिलना दुर्लभ है, तथापि दोनो मिल जाए तो उनकी सद्गति होती है। अतएव स्वय सनाथ नही बन सकते तो जो महात्मा सनाथ बने हैं, उनके साथ सबध जोड लो। इसी मे कल्याण है।

राजा कहता है– हे मुनिराज, मैं आपका अनुशासन, आपकी शिक्षा इच्छता हू– स्वीकार करता हू। यह बात नही है कि मै आपकी शिक्षा को आपके प्रभाव से प्रभावित होकर या आपको प्रसन्न करने के लिये या स्वीकार न करने पर आप नाराज होगे, इसलिये स्वीकार करता होऊ, किन्तु आपके उपदेश का मनन करके, उसे अच्छा समझ कर स्वीकार करता हू। मुझे यह तो भय ही नही है कि आपकी शिक्षा स्वीकार न करने पर आप नाराज हो जायेगे। मैने जब आपको भोगो के लिये आमत्रित किया और आपको मृषावादी ठहराया, उस समय भी आप रुष्ट नही हुए तो आपका उपदेश न मानने पर आप रुष्ट क्यो होगे? इसी प्रकार आपका उपदेश मान लेने से आपको असाधारण प्रसन्नता भी न होगी। क्योकि मैने जब आपके रूप–सौन्दर्य की प्रशसा की, तब आप पर मेरे कथन का कोई प्रभाव नही पडा और आपने मुझे अनाथ कह ही तो दिया। इसलिए आपकी प्रसन्नता अप्रसन्नता को दृष्टि मे रख कर मै आपका उपदेश स्वीकार नही कर रहा हू, किन्तु आपके उपदेश

ने मेरे हृदय को पलट दिया, मेरी उलटी समझ मिटा दी, इसलिए मै आपके उपदेश को स्वीकारता एव हृदय मे धारण करता हू।

हे महाभाग! आप, मेरे अपराध क्षमा करो । यद्यपि आप क्षमावान है और मेरे अपराधो पर ध्यान न देकर मुझ पर दया ही करते रहे है, मेरे अपराधो के बदले मे आपने मुझ पर क्रोध नही किया, न रुष्ट ही हुए और न बुरा ही माना, किन्तु मुझे दयनीय मानकर मुझे अनाथ–सनाथ का स्वरूप समझाया और मेरा भ्रम तथा अज्ञान मिटा दिया। फिर भी, यदि मैं अपने अपराधो को आप से क्षमा न कराऊ, अब भी मै अपने अपराधो को न समझ सकू, तो यह मेरी महान् –महान् कृतघ्नता एव मूर्खता होगी। सब से पहले तो मैंने आपके ध्यान मे विघ्न किया और आपसे यह पूछ कर आपकी असातना की कि इस भोग के योग्य अवस्था मे आपने दीक्षा क्यो ले ली? यद्यपि मैंने यह प्रश्न अज्ञानवश किया था, क्योकि उस समय तक मैं इस अवस्था को भोग के ही योग्य समझता था, फिर भी वास्तविक बात को समझने से पूर्व ऐसा प्रश्न करना, अपराध है। मैने आपके ध्यान मे भी विघ्न किया और आपसे प्रश्न भी ऐसा किया कि जिससे आपकी असातना हुई। मेरा अपराध आप क्षमा करे।

हे महाभाग! मेरा दूसरा अपराध यह है कि मैं आपका नाथ बनने को तैयार हुआ और आपको सासारिक भोग भोगने के लिए आमत्रित किया। यह अपराध भी मुझ से अज्ञानवश ही हुआ है। अज्ञान से ही मैंने आप ऐसे त्यागी को सासारिक भोगो के लिए आमत्रित किया था। आप मेरा यह अपराध भी क्षमा करे।

सासारिक भोगो के त्यागी मुनि को राजा श्रेणिक ने भोग भोगने के लिए आमत्रित ही किया था। इस आमन्त्रण को भी राजा श्रेणिक अपना अपराध मान रहा है और उसे क्षमा करा रहा है। ऐसी दशा मे त्यागियो के लिए भोग–सामग्री जुटाना, उन्हे भोगी बनाना, या भोगी बनाने की चेष्टा करना क्या अपराध नही है? अवश्य ही अपराध है।

राजा श्रेणिक कहता है– हे महामुनि, मेरा तीसरा अपराध यह है कि मैंने आपके कथन को मिथ्या कह कर आपके महाव्रत को दूषित बताया। यद्यपि आपने मुझे अनाथ ठीक ही कहा था, लेकिन मै अनाथ हू और जिन्हे मै सचमुच अनाथ समझ रहा था, वे आप सनाथ हैं। यह बात मेरी समझ मे आपका उपदेश सुनने पर ही आई। मैने अज्ञानवश आपकी असातना की, इसके लिए मै आप से क्षमा–प्रार्थना करता हू। आप क्षमा करे। यद्यपि आप

सन्त हैं, आपके समीप कोई अपराधी या अपकारी तो है ही नहीं, चाहे कोई आपकी निन्दा करे या प्रशसा, आपकी अवज्ञा करे या वन्दना, आप सभी पर समान कृपा रखते हैं। यह सन्तो का स्वाभाविक लक्षण ही है, फिर भी मैं अपने आत्मा को हलका करने के लिए, अपने हृदय को शुद्ध बनाने के लिए और अपने पापो से निवर्तने के लिए आपसे क्षमा–प्रार्थना करता हू। आप मुझे क्षमा प्रदान करे।

एव थुणित्ताण स रायसीहो, अणगारसीह परमाइ भत्तीए।
सओरेहो सपरियणो सबधवो, धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा।।58।।

अर्थ– रायसिह (श्रेणिक राजा) इस प्रकार परम भक्ति के साथ मुनिसिह की स्तुति करके, निर्मल चित्त से, बन्धु–बान्धवो और अन्त पुर सहित धर्मानुरागी हुआ।

व्याख्यान– राजा श्रेणिक मुनिराज के मुखारविद से धर्मबोध पाकर और क्षमायाचना करके अपने घर गया और ठाठ के साथ अपने बन्धु–बान्धवो और रानियो के साथ पुन मुनि के पास आकर क्षमा–प्रार्थना की। वह धर्म का अनुरागी हो गया। मुनि ने जिस सम्पदा को मुक्ति की अवरोधक बतलाया था, उसी सम्पदा को लेकर राजा श्रेणिक मुनि से क्षमाभ्यर्थना करने आया। राजाओ मे सिह के समान श्रेणिक राजा ने अनगार–सिह अनाथ मुनि से क्षमा मागी।

राजा श्रेणिक राजसिह था और अनाथ मुनि अनगार–सिह थे। शास्त्रकार दोनो को सिह की उपमा देते हैं। कहा जा सकता है कि सिह पशु है, फिर राजा और मुनि को किस अभिप्राय से सिह की उपमा दी गई है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए विचार करना होगा कि सिह मे क्या विशेषता है? और सिह तथा श्वान मे क्या अन्तर है? बहुत–से कुत्ते आकार– प्रकार मे सिह के समान दिखाई देते है। उनका सिह जैसा रग, सिह जैसा शरीर, सिह जैसी मूछ और सिह जैसी पूछ होती है। उनके दात भी सिह जैसे लम्बे ही होते हैं। इस प्रकार बहुत–सी समानताए होने पर भी वह श्वान क्या सिह का स्थान ले सकता है? जब तक कुत्ता भौंके नही, तब तक भले वह सिह के समान जान पडे, मगर जब भौंकता है तो सिह के समान गर्जना नही कर सकता। जब वह भौं–भौं करके भौंकता है, तब प्रकट हो जाता है कि यह सिह नही, कुत्ता है।

इस प्रकार बाहरी दिखावे से कोई कुत्ता भले सिह के समान दिखाई दे, किन्तु उसकी बोली से पता चल ही जाता है कि यह सिह नही, कुत्ता है। इसी तरह साधु भी बाह्य वेष से कैसा भी क्यो न बन जाय, परन्तु उसके बोलचाल से पता चले बिना नही रहता कि वह सनाथ है या अनाथ है।

गाधीजी ने अपने एक लेख मे लिखा है कि शब्द के पीछे यदि आत्मा की शक्ति हो तो वह शब्द अवश्य असर करता है और यदि शब्द के पीछे आत्मा की या त्याग की शक्ति न हो तो शब्द का कुछ भी प्रभाव नही पडता।

तो श्वान और सिह मे एक अन्तर तो शब्द का है। उनमे दूसरा अन्तर यह है कि कुत्ते को लकडी या पत्थर मारा जाय तो वह लकडी या पत्थर को पकडने दौडता है, मारने वाले को नही पकडता, परन्तु सिह लकडी या पत्थर को नही, वरन् मारने वाले को पकडता है। सुनते है, इसी कारण सिह पर प्रहार करने वाला मनुष्य उस स्थान से दूर भाग जाता है, अन्यथा सिह उस स्थान पर पहुच कर हमला कर देता है। कुत्ता नही जानता, किन्तु सिह जानता है कि लकडी या पत्थर का क्या दोष है? दोष तो मारने वाले का है।

मनुष्यो मे भी श्वानप्रकृति और सिहप्रकृति के मनुष्य होते हैं। कौन श्वानप्रकृति का और कौन सिहप्रकृति का है, इसकी पहचान यह है कि सिहप्रकृति वाला गालियो या मार को न देख कर यह विचार करता है कि इनका उद्भव कहा से हुआ? उदाहरणार्थ गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते अगार जब रखे गये तो मुनि सिह के समान बने या श्वान के समान? वे भली–भाति जानते थे कि बेचारे सोमल की क्या बिसात कि यह मेरे मस्तक पर अगार रख सके। अगार रखने वाला तो मेरा अपना आत्मा ही है। सोमल निमित्त मात्र है। उपादान मैं स्वय हू। मैं उपादान को न देखू और सिर्फ निमित्त को देखू तो मैं भी श्वानवृत्ति वाला बन जाऊगा। इस प्रकार विचार करके गजसुकुमार मुनि ने न अगार को दोष दिया, न अगार रखने वाले को, वरन् अपनी आत्मा को ही दोषी ठहराया। सिह का भी यही स्वभाव है। इसी को सिहवृत्ति कहते है। अतएव जो अपनी आत्मा को ही देखता है, पर–पदार्थो को नही देखता, वह मनुष्य सिह के समान है। इसके विपरीत जो अपने–आप को न देखकर पर–पदार्थो को देखता है और दूसरो को अपराधी ठहराता है, वह श्वानवृत्ति वाला है। गजसुकुमार मुनि चाहते तो सोमल को भगा सकते थे अथवा स्वय भाग सकते थे परन्तु उन्होने ऐसा किया होता तो शास्त्रकार उनका महिमागान न करते।

श्रावको के लिए भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जब देव पिशाच का रूप धारण करके कामदेव को मारने लगा, तब कामदेव ने यह विचार नही किया कि — हे प्रभु! मैं तेरा श्रावक हू, फिर भी यह पिशाच मुझे कैसा कष्ट दे रहा है। उसने विचार किया तो यही किया कि यह पिशाच मुझसे अपना धर्म त्याग देने के लिए कहता है, किन्तु मैं सिह का स्वभाव छोड कर श्वान का स्वभाव कैसे धारण करू? इसने धर्म का त्याग किया है, अतएव यह मुझे मारने को तैयार हुआ है, किन्तु मेरा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि मारने वाले को भी क्षमा कर। ऐसा विचार करके कामदेव स्थिर रहा। इसी प्रकार तुम भी स्थिर रह सको तो कदापि हानि नहीं होगी, उलटा गजसुकुमार मुनि की तरह लाभ ही उठाओगे। सिहवृत्ति वाले बनो, श्वानवृत्ति का त्याग करो।

तुम्हारे हाथ या पैर मे छाला क्यो होता है? कदाचित् कहोगे कि रोग के कारण होता है, परन्तु प्रश्न यहीं समाप्त नहीं होता। पुन यही प्रश्न उठता है कि रोग क्यो होता है? आत्मा की भूल के विना रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मे रोग का अपराध मानने के बदले अपनी आत्मा का ही अपराध क्यो न माना जाय?

जिसे शक्कर (मीठे पेशाब) की बीमारी होती है, उसे मिठास वाली चीजो का सेवन हानि पहुचाता है। मुझे भी यह बीमारी हुई थी, पर इसका खयाल नही था। साधु मिठाई खाने के लिए कहते, मैं खा लेता था। उसके परिणामस्वरूप मेरे शरीर मे छाला हुआ। साधुओ ने उसे फोड दिया, पर मिटा नही! ज्यो–ज्यो मैं मीठी चीज खाता, रोग बढता ही जाता था। एक डाक्टर ने सलाह दी कि छाले का आपरेशन करने से आपके शरीर मे रक्त की बहुत कमी हो गई है, अतएव आपको तर पदार्थों का सेवन करना चाहिए। मैने पूछा– तर चीज कौन–सी? डाक्टर ने कहा जलेबी, कलाकन्द, रबडी आदि। ऐसी बलवर्द्धक वस्तुए मैं अधिक नही खा सकता था, फिर भी थोडी–थोडी खाता रहा और रोग बढता रहा।

आखिर जब पता चला कि यह शक्कर की बीमारी है, तब मीठा खाना बिल्कुल बन्द कर दिया। केवल पतली छाछ ही पीने को रही। परन्तु जो रोग बढ चुका था, उसमे किसकी भूल थी? वास्तव मेरी ही भूल के कारण रोग बढा था।

इसी प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं– अपनी ही भूल से सेकडो सकट सिर पर आ पडते हैं। जैसे रोग उत्पन्न न होने देने के लिए पहले से ही कुपथ्य से बचना चाहिए, उसी प्रकार सकट न उत्पन्न होने देने के लिए बुरे कामो का

अगर तुम मुनि–सिह की सेवा करना चाहते हो तो तुम सि[illegible] वाले बनो। इसी प्रकार हम साधुओ को भी सिह के समान [illegible] बनना चाहिए। जो लोग सिह के समान गृह त्याग कर सिह के समान ही सयम का पालन करते हैं, वे ही सनाथ हैं। वे ही कल्याण के पात्र होते है।

राजा श्रेणिक उस समय के राजाओ मे सिह के समान बडा माना जाता था। दूसरे राजाओ की अपेक्षा उसमे बल, बुद्धि, साहस, धैर्य आदि सद्गुण भी अधिक थे, राज्य–विस्तार भी अधिक था, वैभव–सम्पदा मे भी अप्रतिम था। इसी प्रकार वह सत्य बात को स्वीकार करने या कहने मे भी भय या सकोच नही करता था। सनाथी मुनि ने प्रारम्भ मे जब उसे अनाथ बताया था, तब उसने मुनि से निर्भयतापूर्वक यह कहा था कि 'मैं अनाथ कैसे हूं? मुनि को झूठ तो नही बोलना चाहिये। इस प्रकार निर्भयतापूर्वक बात कहने का साहस, प्रत्येक आदमी मे नही हो सकता। उस समय तक वह अपनी बात सत्य समझ रहा था, इसीलिए मुनि की बात को मिथ्या बताने मे वह किचित् भी भयभीत नही हुआ। इसी प्रकार जब उसने अनाथता का

स्वरूप समझ लिया, तब अपने–आप को अनाथ मानने मे सकुचाया भी नही बल्कि सनाथी मुनि का उपदेश स्वीकार कर लिया।

राजा श्रेणिक ने पहले तो मुनि के सामने जाते ही उन्हे वन्दन–नमस्कार किया था। पश्चात् मुनि से अपने प्रश्नो का उत्तर सुनकर उनका उपदेश श्रवण करके जाने के समय भी उसने क्षमा प्रार्थना की और प्रदक्षिणा एव वन्दना–नमस्कार किया। यह साधुओ के समीप जाने–आने एव प्रश्न करने आदि के समय काम मे लाई जाने वाली बहुत साधारण सभ्यता है। इस सभ्यता एव भक्ति के बिना किसी सदुपदेश से पूर्णतया लाभ भी नही होता।

सनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को जो उपदेश दिया था, उसमे उन्होने ऋद्धि–सुख या स्वर्ग का लोभ नहीं बताया था, किन्तु सासारिक बातो से पराड्मुख होने का उपदेश दिया था। फिर भी मुनि का उपदेश सुनकर उसे अपूर्व हर्ष हुआ। वह वीर और सत्य का जिज्ञासु था। इसी कारण मुनि का उपदेश सुनकर उसने अपना हृदय पलटने मे किचित् भी देर नही की। उसने अपने पूर्व–विचारो को त्याग दिया और मन मे किसी प्रकार की मलीनता रखे बिना, निर्मल मन से सनाथी मुनि द्वारा उपदेशित धर्म का अनुरागी हुआ। सनाथी मुनि के उपदेश द्वारा प्राप्त धर्म से, केवल उसने अकेले ने ही लाभ नहीं लिया, किन्तु अपने साथ ही रानियो एव बन्धु–बान्धवो को भी उस धर्म का लाभ दिया। अर्थात् वह बन्धु–बान्धवो और रानियो सहित धर्म का अनुरागी हुआ।

यद्यपि श्रेणिक का नाम सीधा–सादा था, उसके नाम के पीछे आजकल की पद्धति के अनुसार सिह शब्द नही जुडा था, फिर भी उसमे सिह के समान गुण थे। इसी कारण उसे 'राजसिह' कहा है। इसी प्रकार मुनि का नाम भी सीधा– साधा था, फिर भी सिह के समान गुण होने के कारण उन्हे 'मुनिसिह' कहा है।

राजसिह श्रेणिक के हृदय मे मुनिसिह अनाथ मुनि के प्रति परमभक्ति जाग्रत हुई। परमभक्ति जागृत होने से उसने अपने बाधवो के साथ मुनि की प्रार्थना की। वह धर्मानुरागी हो गया।

इस सबध मे आई हुई गाथा के उत्तरार्द्ध मे राजा श्रेणिक का परिचय दिया गया है और उसकी विशेषता भी बतलाई गई है। सम्भवत राजा श्रेणिक उसी प्रकार अनाथ मुनि की वन्दना के लिए गया, जिस प्रकार राजा प्रदेशी केशी स्वामी की वन्दना के लिए गया था।

राजा प्रदेशी जब केशी श्रमण को वन्दना–नमस्कार किये बिना ही जाने लगा तो केशी श्रमण ने कहा– राजन्! कोई मनुष्य तुम्हारा महसूल चुराकर चला जाय तो तुम उसका क्या करोगे?

राजन्– मैं उसे अपराधी मानकर दण्ड दूगा।

मुनि– तो तुमने मेरा उपदेश सुना, मुझसे आडे–टेढे प्रश्न किये, मैंने तुम्हारी शकाओ का समाधान किया, फिर भी तुम क्षमायाचना किये बिना ही जा रहे हो! क्या यह तुम्हारा अपराध नही है?

क्या केशी मुनि वन्दना–नमस्कार के भूखे थे? क्षमा मगवाने मे अपना बडप्पन समझते थे? नही। तो उन्होने राजा से ऐसा क्यो कहा? वास्तव मे वे वन्दना–नमस्कार के भूखे नही थे। उन्होने ऐसा कह कर जगत् को विनय का मार्ग बतलाया है। उन्होने सिखाया कि जिनसे प्रश्न पूछा जाय, उनसे क्षमायाचना भी करनी चाहिये। यही बोध देने के लिये मुनि ने राजा से यह बात कही है और शास्त्रो मे इसका उल्लेख किया गया है।

कोई साधारण साधु केशी स्वामी की भाति किसी से ऐसा कहे तो ठीक नही होगा, क्योकि वे मुनि चार ज्ञानो के धनी थे । साधारण साधु उनकी बराबरी नही कर सकता! वे सब को मार्ग बतलाने वाले थे। उनका बताया मार्ग राजमार्ग है। परन्तु उस राजमार्ग को बतलाने के लिए उन्होने जो कुछ किया या कहा, वह कोई साधारण साधु नही कर सकता।

केशी स्वामी के कथन के उत्तर मे प्रदेशी राजा ने कहा–महाराज! वास्तव मे आपने मुझे वह वस्तु दी है, जिसे पाकर मैं नास्तिकता मे से निकल कर आस्तिक बन गया हू। मेरे अन्त करण मे यह भावना उत्पन्न हुई है कि मैं अकेला ही आपको क्या वन्दना करू, अपने परिवार और अपनी रानियो के साथ आकर आपको वन्दना–नमस्कार करू और आपसे क्षमाप्रार्थना करू।

मुनि, राजा का उत्तर सुनकर फिर कुछ नहीं बोले, मौन रहे। मुनि का यह व्यवहार भी साधुओ के लिए अनुकरणीय है।

राजा ने परिवार सहित आकर मुनि से क्षमायाचना की। राजा ने अकेले ही मुनि को खमा लिया होता तो उसका कल्याण तो अवश्य होता, पर जगत् का कल्याण न होता। जगत् यह बात न जान पाता कि राजा पहले कैसा था, और अब कैसा हो गया? जो राजा पहले घोर नास्तिक था, वही जब राजसम्पदा के साथ मुनि को खमाने आया होगा तब न जाने कितने लोगो का हृदय सुधरा होगा। न मालूम कितनो पर धर्म के प्रभाव की छाप लगी होगी! राजा के इस प्रभाव से कितने लोगो का सुधार हुआ इसका कोई

इतिहास नही मिलता, किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि बहुत–से लोगो का सुधार हुआ होगा।

राजा श्रेणिक भी नीतिज्ञ था। अतएव सम्भव है, उसने भी प्रदेशी राजा की तरह परिवार के साथ मुनि को खमाया हो और उन्हे वन्दना–नमस्कार किया हो। सूत्र तो बहुत बातो का सक्षेप मे वर्णन करता है। अतएव शास्त्र मे सक्षेप मे कुछ कहा गया है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा श्रेणिक भी परिवार सहित मुनि की वन्दना करने आया होगा। राजा के इस कार्य से दूसरो का कितना कल्याण हुआ होगा, यह नही कहा जा सकता। परन्तु चेलना के सबध मे यह कहा जा सकता है कि राजा के विचारो मे यह परिवर्तन देखकर उसे असीम आनन्द हुआ होगा। चेलना अपने पति को आस्तिक के रूप मे देखना चाहती थी। उसे आस्तिक बनाने के लिए वह अनेक बार विचार–विनिमय भी करती थी। किन्तु वह राजा का हृदय बदलने मे समर्थ नही हो सकी। अब मुनि के अनुग्रह से सहसा राजा का हृदय बदल गया। यह देख कर चेलना रानी को कितना हर्ष हुआ होगा।

राजा चेलना को अपने पति के धर्मात्मा बनने से प्रसन्नता हुई, लेकिन आज की श्राविकाओ को कब और कैसे प्रसन्नता होती है, इसका विचार कीजिए। आज की श्राविकाओ को गहने मिलने से प्रसन्नता होती हे या पति के धर्मात्मा बनने से प्रसन्नता होती है ? कोई–कोई बहिन ऐसी भी होगी जो पति के धर्मप्रेम को देखकर प्रसन्न होती है, किन्तु कई ऐसी भी होती हैं जो गहने–कपडे के लिए धर्म और कुल का भी त्याग कर देती है। वे धर्मात्मा के कुल मे जन्म ले करके भी धर्म को भूल जाती हैं और ससार के विलास मे पड जाती हैं। आज लोग अपनी कन्याओ को प्रेम से कॉलेज मे भेजते हैं और आशा करते हैं कि हमारी कन्या सुशिक्षित होकर आएगी, परन्तु यह नही देखते कि कॉलेज मे पढ–लिखकर वे धर्म–कर्म को तो नही भूल रही हैं? कॉलेज की वर्त्तमान शिक्षा धर्म ओर सस्कृति का नाश करने वाली है या पोषण करने वाली है? जिस शिक्षा से धर्म ओर सस्कृति का नाश होता हो, उसे बन्द कर देना आपका कर्तव्य हे। मैं विद्याभ्यास का विरोध नही करता, विद्या के नाम पर होने वाले विलास का विरोध करता हू। उसी को रोकने के लिए कहता हू। विद्या सच्ची वही है, जो बन्धनो से मुक्ति दिलाने मे सहायक हो।

गाधीजी ने विद्यापीठ के विषय मे कहा था कि अगर गुड्डा–गुडिया बनाने के लिए ही विद्यापीठ का उदघाटन करते हो तो ऐसे विद्यापीठ की

है, यह तो निर्विवाद ही है।

जहा रोगी ज्यादा होते हैं वहा डाक्टरो को भी ज्यादा रहना पडता है। इसी कारण हमे भी नगरो मे अधिक रहना पडता है। जहा पाप की अधिकता है, वही धर्म के उपदेश की अधिक आवश्यकता होती है। मै आपसे यही कहना चाहता हू कि धर्म और सस्कृति के नाश के कारण जितने परिमाण मे कालेज बन्द हो जाए, उतना ही अच्छा है।

राजा के सुधरने से रानी चेलन को असीम आनन्द हुआ होगा और साथ ही दूसरो का भी सुधार हुआ होगा। कहावत है –

महाजनो येन गत स पन्था।

अर्थात् बडे आदमी जिस मार्ग पर चलते हैं, उसी पर साधारण लोग भी चलने लगते हैं। गीता मे भी कहा है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

अर्थात् श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं।

यह सब विचार करके श्रेष्ठ जन अपना आचरण ऐसा रखते हैं, जिससे दूसरे लोगों को उनका अनुकरण करने में कठिनाई प्रतीत न हो। भले ही श्रेष्ठ पुरुषो को वैसे आचरण की आवश्यकता न हो, फिर भी दूसरो के सामने सद्आदर्श उपस्थित करने के लिए वे अपना आचरण एकदम विवेकपूर्ण रखते हैं।

गाधीजी मुझसे मिलने के लिए जब यहा आये थे तो मैंने देखा उन्होने एक छोटा–सा पोतिया पहन रखा था। उनका वह पोतिया चोलपट्टा को भी शर्मिन्दा कर रहा था। गाधीजी जैसे ऐसा कपडा क्यो पहनते हैं? इसलिए कि बहुत–से लोग केवल शौक के लिये कपडे पहनते हैं आवश्यकता न होने पर भी इतने ज्यादा ठूस–ठूस कर पहनते हैं कि शरीर मे उष्णता उत्पन्न होती है और अन्दर ही अन्दर पसीना टपकने लगता है। वह पसीना कितनी हानि करता है, इस बात को लोग नहीं देखते। केवल शौक के लिए वे व्यर्थ ही परेशान होते हैं।

साराश यह है कि साधारण जनसमूह तो श्रेष्ठ गिने जाने वाले लोगो का अनुकरण करना जानता है। उसे स्वयस्फूर्त विवेक प्राय नहीं होता। भले–बुरे कार्य का विवेक करने का भार श्रेष्ठ लोगो के माथे होता है। अतएव श्रेष्ठ जनो का कर्तव्य है कि वे इस बात पर गहरा विचार करे कि हमे अपना आचरण किस प्रकार रखना चाहिए। गीता मे कहा है कि साधारण लोगो की बुद्धि मे भेद उत्पन्न न करो। आचरण का त्याग कर देने से सामान्य जनता मे बुद्धि–भेद उत्पन्न हो जाता है। अगर तू विद्वान है तो आदर्श काम करके दिखला। काम को ही छोड बैठना और सामायिक–प्रतिक्रमण मे क्या रखा है, इस प्रकार की बाते कहना उचित नही है।

मुनि के उपदेश से राजा श्रेणिक सुधर गया। उसने परिवार के साथ आकर मुनि को वन्दना की। परिवार सहित मुनि को वन्दना करने का आशय यह है कि सब लोग इस आदर्श का अनुसरण करे। अगर आपने इस आदर्श को समझ लिया हो तो आप भी ऐसा ही व्यवहार करो, जिसका अनुकरण करने से दूसरो का भी कल्याण हो।

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि की प्रार्थना करता है। सिह की प्रार्थना सिह ही करता है, शृगाल नही। सुना है, सिह की गर्जना सुन कर बन्दर वृक्ष से नीचे गिर पडते हैं। इसी प्रकार मुनि का उपदेश सुनने से पापो की निर्जरा हो जाय तो समझना चाहिये कि हमने मुनि की सच्ची प्रार्थना की है।

उस्ससिंयरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं।
अभिवदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ।।59।।

अर्थ –राजा श्रेणिक को हर्ष से रोमाच हो आया। उसने मुनिराज की प्रदक्षिण की, मस्तक नमा कर वन्दना की, तत्पश्चात् अपनी जगह चला गया।

व्याख्यान– आजकल आवर्तन के द्वारा ही प्रदक्षिणा की, समझ ली जाती है, परन्तु प्रदक्षिणा का महत्त्व कुछ और ही है। विवाह के समय वर और

आपकी दृष्टि में सच्चा विवाह किसका है? हिन्दुओं [illegible] अमेरिकनों का? याद रखिये अमेरिका में ९५ प्रतिशत [illegible] भारत की विवाह प्रथा का महत्त्व क्या है यह बात [illegible] सकता है कि भारतवर्ष और अमेरिका में कितना अन्तर है?

विवाह की यह पद्धति धर्म-कार्य में भी [illegible] प्रकार कन्या वर को पसन्द करती है उसी प्रकार गुरु [illegible] जाता है और जिस प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा करके [illegible] जाता है उसी प्रकार गुरु की प्रदक्षिणा करके उनके गुण [illegible] जाता है। गुरु मानो अग्निस्वरूप है। वेद में [illegible] ईश्वर को भी अग्नि के रूप में वर्णित किया गया है [illegible] करना उनके गुणों को वरण करना माना गया है। [illegible] अध्याय में) आचार्य का अग्नि रूप में वर्णन किया गया है।

राजा ने जब मुनि की प्रदक्षिणा की तब [illegible] व्याप्त था। इस कारण उसे रोमांच हो आया। [illegible] चिह्न है। प्रियतम या इष्ट का नाम सुनकर हर्ष [illegible] अपूर्णता है। शास्त्रकारों ने राजा की भक्ति का [illegible] कहा है कि इसे इतना अधिक हर्ष हुआ कि [illegible]

वीर क्षत्रिय का मस्तक किसी के सामने झुकता नहीं [illegible] का आवेश आता है तो स्वयं झुक जाता है। [illegible]

जाते थे कि कही मैं मोह मे न पड जाऊ। वे निर्मोही होकर पक्षी की तरह पृथ्वी पर विचर रहे थे।

शास्त्र मे कहा है कि मुनि पक्षी की भाति विचरते थे। ऐसा कहने का कारण यह है कि पक्षी का आधार निरवलम्ब आकाश होता है। हम पक्षियो को वृक्ष या पृथ्वी पर बैठा देखते हैं, परन्तु वे वृक्ष या पृथ्वी पर तभी तक रहते हैं, जब तक उन्हे किसी प्रकार का भय नही होता। किसी प्रकार का भय उपस्थित होते ही वे तत्काल अपने पखो की सहायता से आकाश का आश्रय लेते हैं। यह बात एक उदाहरण द्वारा समझिये –

कल्पना कीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर एक बन्दर बैठा है और दूसरी ओर एक पक्षी बैठा है। किसी आकस्मिक कारण से वृक्ष धराशायी होने लगे तो पक्षी तो आकाश मे उड जाता है परन्तु बेचारा बदर वृक्ष के साथ ही नीचे आ गिरता है। पक्षी विचार करता है– जब तक वृक्ष मुझे आधार दे रहा है, मै इस पर बैठा हू, पर मैं इसी के सहारे नही हू। मेरा सच्चा बल तो मेरे पखो मे ही है।

इस ससार मे रहने वाले ज्ञानी और अज्ञानी मे भी पक्षी और बन्दर जितना अन्तर है। अज्ञानी धन, घर तथा कुटुम्ब आदि का आश्रय पकड कर बैठा रहता है, किन्तु ज्ञानीजन आत्मा का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

अनाथ मुनि ससार का आश्रय नही लेते थे, आत्मा का आश्रय लेते थे। इसी कारण शास्त्र मे उनके लिये कहा गया है कि वे पक्षियो की भाति निरवलम्ब होकर विचरते तो थे पृथ्वी पर, किन्तु आत्मा मे मग्न होकर विचरते थे। जिस पृथ्वी पर वे विचरते थे वह भारत की भूमि धन्य है।

इस कथा को समझ कर परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये–हे प्रभो! जिस प्रकार मुनि मोह–विहीन होकर विचरण करते थे, उसी प्रकार मैं भी निर्मोह होकर विचरू और मुनि की शरण मे जाऊ। इस प्रकार की भावना रख कर परमात्मा की प्रार्थना करने से आपका कल्याण होगा।

शास्त्र मे अनाथ मुनि का वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवे अध्ययन के सिवाय अन्यत्र नही मिलता, पर राजा श्रेणिक का वर्णन शास्त्र मे अनेक स्थलो पर उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर कहते हैं– राजा श्रेणिक एक दिन मेरी भाति पद्मनाभ नामक तीर्थंकर होगे, मेरी ही भाति मुक्ति प्राप्त करेगे उनकी स्थिति मेरे ही समान होगी। इस प्रकार राजा यद्यपि भोगोपभोगो का त्याग न कर सका फिर भी अनाथ मुनि की शरण ग्रहण करने के कारण भविष्य मे तीर्थंकर का पद प्राप्त करेगा। आप भी ऐसे मुनि की शरण मे जाएगे तो आपका परम कल्याण होगा।

उपसंहार

इस अध्ययन का सार ज्ञान और क्रिया का महत्त्व बतलाना है। अनाथ मुनि जैसे ज्ञानवान् थे वैसे ही क्रियावान् भी थे। कुछ लोग या तो ज्ञान को ही पकड बैठते हैं या क्रिया को ही। और फिर उसी को महत्त्व देते हैं। किन्तु ऐसा करना भूल है, क्योकि ज्ञान ही हो और क्रिया न हो या क्रिया ही हो और ज्ञान न हो तो मनुष्य का पतन होना स्वाभाविक है। सच्चा ज्ञानी क्रिया का त्याग नहीं कर देता, बल्कि दूसरो के सामने आदर्श उपस्थित करने वाली क्रिया करता है। अनाथ मुनि स्वय कहते हैं– जो सयम धारण करके सयम की क्रिया नही करता, वह अनाथ ही है। अतएव ज्ञान के साथ क्रिया की भी आवश्यकता है।

श्री आचाराग सूत्र की निर्युक्ति मे ज्ञान और क्रिया का बहुत महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण देता हू। कोई कह सकता है कि यह उदाहरण कहा लिखा है? इसका उत्तर यह है कि उदाहरण कही लिखा ही हो, यह आवश्यक नही। वह कल्पित भी हो सकता है। दृष्टान्त के द्वारा मैं तो अपना भाव ही समझाना चाहता हू। अनुयोगद्वार सूत्र मे भी निम्नलिखित आशय का कल्पित दृष्टान्त दिया गया है –

पान झरता देख के, हँसी जो कूंपलियाँ।
मोय बीती तोय बीतसी, धीरी बापरियाँ।।

पका हुआ पत्ता पेड से गिरा तो कोपले उस पर हॅसने लगीं। कोपलो की हॅसी देखकर पत्ता बोला– आज मुझ पर जैसी बीत रही है, कल तुम पर भी बीतेगी। किसी दिन मै भी तुम्हारी ही तरह कोपल के रूप मे था। आज मेरी यह दशा हो रही है तो मत समझो कि तुम सदा कोपल ही बनी रहोगी। तुम्हे भी मेरी स्थिति मे आना पडेगा।

इस उदाहरण मे विचारणीय बात यह है कि क्या कौपले भी हॅसती है? और पका पत्ता कोपलो से बात कर सकता है? नही। फिर भी जगत् की अनित्यता का भाव प्रकट करने के लिए यह कल्पना की गई है। तो दृष्टान्त के विषय मे कल्पना करने का अधिकार है। हा, मैं समभाव से बाहर की कोई बात कहू तो मुझे सूचित करो और यदि समभाव की बात कहू तो उसे मानो। मैं तो यही सोचता हू कि हमे अपने ज्ञान का आदान–प्रदान करना है। जो बात तुम नही जानते और मै जानता हू, वह तुम मुझसे सीखो, और जो बात आप जानते है और मैं नही जानता, वह बात मैं आप से लू। कुछ बाते आप जानते हैं और कुछ मैं जानता हू। अतएव परस्पर विचार–विनिमय करना चाहिए।

हा, तो आचाराग निर्युक्ति मे ज्ञान और क्रिया का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। इस विषय मे एक दृष्टान्त भी दिया गया है, जो इस प्रकार है–

उदयसेन नामक एक राजा था। उसके दो पुत्र थे– वीरसेन और सूरसेन। वीरसेन सब इन्द्रियो से सम्पन्न था और सूरसेन अधा था। विवेकवान् पुरुष, जो जिस योग्य होता है, उसे वही काम सौंपते हैं। उदयसेन ने अपने दोनो पुत्रो को, उनकी योग्यता के अनुसार, भिन्न–भिन्न प्रकार की शिक्षा दी। अन्धे आदमी गान–कला मे प्राय कुशल होते है। सूरदास के विषय मे भी कहा जाता है कि वे अन्ध–कवि थे। इस प्रकार उदयसेन ने सूरसेन को सगीत–कला की शिक्षा दी और वीरसेन को क्षत्रियोचित युद्ध–कला सिखलाई।

सूरसेन ने सुना कि वीरसेन को क्षत्रियोचित युद्ध–कला सिखलाई जाती है। तब उसने सोचा– वह कला मुझे क्यो नही सिखलाई जा रही? मै कायर ही रह जाऊँगा। इस प्रकार विचार करके वह पिता के पास पहुँचा और कहने लगा– पिताजी! मै युद्ध कला सीखना चाहता हूँ।

राजा ने विचार किया– अगर इसका हृदय युद्ध–कला सीखने के लिए उत्सुक है तो रोकना उचित नही। इसके हृदय की वृत्ति को दबा देना ठीक नही होगा। इस प्रकार विचार करके राजा ने उसे युद्ध–कलाचार्य को सौंप दिया। युद्ध–कला सिखलाने वाला योग्य और होशियार था। उसने सूरसेन को बाणविद्या सिखला दी। किन्तु अन्धा होने के कारण सूरसेन शब्द के आधार पर ही बाण मार सकता था।

यथासमय दोनो कुमार योग्य हुए। एक बार युद्ध का अवसर आने पर वीरसेन ने अपने पिता से कहा– पिताजी! आपने हमे योग्य बनाया है और

हम योग्य वन भी गये हैं। ऐसी स्थिति मे आपका युद्ध के लिए जाना योग्य नही है। आज्ञा दीजिए, मैं जाऊँ।

वीरसेन का यह कथन सुनकर पिता को वहुत प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगा– ऐसे अवसर पर पुत्र को घर रखना योग्य नहीं है। फिर वीरसेन से कहा– वेटा, खुशी से युद्ध मे जाओ और शत्रुओ के दात खट्टे करो। सूरसेन भी पिता से कहने लगा– में भी युद्ध मे जाऊँगा।

उदयसेन वोला–वेटा, तू नेत्रहीन हे। तेरा युद्ध मे जाना ठीक नही। तू यही रह।

पर सूरसेन सोचने लगा– भाई युद्ध मे जाएगा तो उसकी प्रशसा होगी और मुझे कोई टके सेर भी नहीं पूछेगा। यह सोचकर उसने युद्ध मे जाने के लिए वहुत हठ पकडा।

सूरसेन का हठ देख राजा ने उसे भी युद्ध मे जाने की आज्ञा दे दी। वह भी सेना के साथ युद्धभूमि मे गया। अन्धा होने के कारण वह कुछ देख तो सकता नहीं था, सिर्फ शव्द सुनकर ही वाण चलाता था। जव उसे शव्द सुनाई न देता तव वाण भी नही मार सकता था। इससे शत्रु समझ गये कि सूरसेन अन्धा है और शव्द सुने विना वाण नही चला सकता। अतएव उन्होने युक्ति निकाली कि शव्द किये विना चुपचाप हमला करके सूरसेन को पकड लिया जाय। आखिर शत्रु अपनी युक्ति मे सफल हुए और सूरसेन पकडा गया।

जव वीरसेन को अपने भाई के पकडे जाने का सवाद मिला तो उसने शत्रु सेन्य पर जवर्दस्त प्रहार किया ओर सूरसेन को छुडा भी लाया।

जव सूरसेन पिता के पास आया तो पिता ने कहा– तू निस्सन्देह पराक्रमी हें, पर क्या वीरसेन की वरावरी कर सकता हे?

सूरसेन ने उत्तर दिया– अव में समझ गया कि पराक्रम होने पर भी ऑख के अभाव मे मैं वीरसेन की वरावरी नहीं कर सकता। वीरसेन न आता तो मैं शत्रुओ के पजे मे ही पडा होता?

पिता ने कहा– ठीक हे। यह उदाहरण ज्ञानियो के काम आएगा।

इस दृष्टात के आधार से श्री आचारागसूत्र की निर्युक्ति मे कहा हे–

कुणमाणो वि य किरिय, परिच्चयन्तो वि सयणधणभोए।
दिन्तो वि दूहस्स उर, न जिणइ अन्धो पराणीय।।
कुणमाणो अवि निवि, परिच्चयन्तो वि सयणधणभोए।
दिन्तो वि दूहस्स उर, मिच्छदिट्ठी न सिज्झइ उ ।।

न करेगे, पर डाक्टरो का विल चुकाने के लिए जेब खाली कर देगे। इसका कारण क्या है?

मेरी बात सुन कर कदाचित् डाक्टर कहेगे कि महाराज हमारी आजीविका पर कुठाराघात कर रहे हैं, किन्तु इस विचार से सत्य बात को दबाना कैसे सम्भव हो सकता है? वेश्यागमन का त्याग करने का उपदेश देने पर वेश्याएँ भी कह सकती हैं कि हमारे रोजगार को मटियामेट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। शराव का निषेध करने पर कलाल भी यही बात कह सकते हैं। यो तो ससार मे कोई–न–कोई लोग कुछ–न–कुछ कहते ही रहेगे, किन्तु इसका विचार करके सत्य एव तथ्य बात को छिपाया नहीं जा सकता। आशय यह है कि भगवान् के वचनानुसार व्यवहार किया जाय तो रोगी या दुःखी होने का कोई कारण नही।

अतिभोजन रोग का प्रधान कारण है, यह बात आपको सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए। कितनेक भोजनशूर लोग अधिक खाने के लिए भग भी पीते हैं, परन्तु इस प्रकार अधिक खाने से अजीर्ण–खासी वगैरह रोगो की उत्पति होती है।

रोगो का दूसरा कारण अहितकर आसन पर बैठना है। आसन किस प्रकार का होना चाहिए, इस सबध मे शास्त्र मे कहा है कि कठिन और स्थिर आसन पर बैठने से हानि होती है और कोमन आसन पर बैठने से लाभ होता है। आज लोगो को पत्थर के मकान पसन्द आते हैं, किन्तु वे विचार नहीं करते कि पत्थर पर बैठने और मिट्टी पर बैठने मे कितना अन्तर है? आज मकान पक्का बनाया जाता है, किन्तु मकान को पक्का बनाना शरीर को कच्चा बनाना है। किस प्रकार की कुरसी पर बैठने से लाभ होता है और किस प्रकार की कुर्सी पर बैठना हानिप्रद है, यह बात अब यूरोपियन भी समझने लगे हैं। परन्तु भारतीय लोग इस सबध मे न विचार करते हैं, न जानने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ऑख मीच कर अनुकरण करने लगते हैं।

अधिक सोते पडे रहना और अधिक जागरण करना भी रोग का कारण है। कई लोग जागरण करने का ढोग करते हैं, किन्तु शास्त्र के अनुसार अधिक सोना और अधिक जागना हानिकर है।

मल–मूत्र को दबा रखना भी रोग का कारण है। वहुत चलना ओर बहुत बैठे रहना भी रोग को निमत्रण देना है।

कुछ जनो का खयाल है कि मास खाने वाले बलवान् होते हैं और मास न खाने वाले निर्वल होते हैं, किन्तु यह खयाल भ्रमपूर्ण है। आज

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा एक महान् क्रातिकारी सत हुए हैं। आषाढ शुक्ला अष्टमी, सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई, जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए है। आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो के सकलित, सम्पादित ग्रथो को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणो का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा है। इनमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि, जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

सस्था द्वारा एक पुस्तकालय का सचालन किया जाता हे जिसमे लगभग 5000 पुस्तके एव लगभग 400 हस्तलिखित ग्रथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय मे देनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकाए उपलब्ध करवाई जाती है। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इनसे लाभान्वित होते है। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र मे पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र मे अद्वितीय है।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का सचालन किया जाता है, जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई, बुनाई, कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यो मे योगदान दे सकती है और आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती है।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयो पर प्रवचन आयोजित किए जाते है।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यो से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।